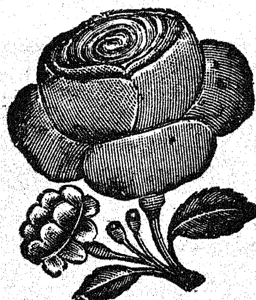
ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा तथा प्रचार
तथा भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय
विज्ञान और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा



मुद्रक—
बालकृष्ण शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
विश्वेश्वरगंज, वाराणसी



ओ३म्

प्रकाशकीय वक्तव्य

यह "वैदिक-स्वर-मीमांसा" पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने बहुत वर्षों के निरन्तर शास्त्रानुशीलन के पश्चात् बहुत उपयोगी और स्वर-विषय का उत्कृष्ट ग्रंथ लिखा है। इससे वैदिक-स्वर-विषय की अनेक ग्रन्थियाँ सुलझेंगी, इस विषय की गम्भीर जानकारी प्राप्त होगी।

इस पुस्तक में वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की विशद व्याख्या की गई है। स्वरों का शब्दार्थ और वाक्यार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, इसकी सप्रमाण मीमांसा की है। वेदार्थ में स्वर-शास्त्र का ज्ञान कितना आवश्यक है, उसकी उपेक्षा के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इसकी सप्रमाण विस्तार से व्याख्या की है। अन्त में वैदिक ग्रन्थों में उदात्त आदि स्वरों के जितने प्रकार के चिह्न व्यवहृत होते हैं, उनकी व्याख्या और संहितापाठ से पदपाठ बनाने और उसमें होने वाले स्वर-विपर्यय के नियम दिये गये हैं। यह सारा ग्रन्थ ऋषि दयानन्द के "अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका) की व्याख्या में लिखा गया है।

पाठक इस ग्रन्थ का गंभीर अध्ययन कर बहुत लाभ उठावें, इसीलिए ट्रस्ट इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहा है।

बहुत थोड़ी प्रतियाँ छपने के कारण इसका मूल्य ३) रखना पड़ा है।

हमारी दृष्टि में विद्वान् लेखक ने अपने विचार बहुत योग्यता और स्पष्टता से लिखे हैं। सभी विद्वान् इस विषय में उनके साथ पूरे सहमत हों, यह आवश्यक नहीं। "व्यत्यय" के सिद्धांत पर जो लिखा गया है, उसमें हम तो महर्षि पाणिनि और पतञ्जलि के मत को प्रामाणिक समझते हैं। अर्वाचीन वैयाकरण व्यत्यय वाले प्रयोगों को अशुद्ध मानते हैं, तो यह उनकी भूल है। "पतञ्जलि के "तिङां व्यत्ययः चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति तक्षन्तीति प्राप्ते" वचन का भी इतना ही अभिप्राय है कि वेद में तिङन्त

शब्दों में लौकिक नियमों का अतिक्रमण देखा जाता है" पृ० ९९॥ अर्वाचीन वैयाकरणों को यह बात माननी ही पड़ेगी और माननी ही चाहिये। लेखक को 'व्यत्यय' की अर्वाचीन व्याख्या अभिमत नहीं, 'व्यत्यय' का सिद्धान्त तो अभिमत है। इस पर विद्वान् शान्तिपूर्वक विचार करें॥

निवेदक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

प्रधान, रामलाल कपूर ट्रस्ट

गुरु बाजार, अमृतसर

द्वितीय संस्करण का प्रकाशकीय वक्तव्य

यह द्वितीय संस्करण बड़ी कठिनाई एवं विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। बहुत दिनों से यह समाप्त हो चुका था। लेखक को इस ग्रन्थ पर राजकीय पारितोषिक भी प्राप्त हुआ था। प्रेस में यह ग्रन्थ एक वर्ष से छपने को दिया हुआ था। बीच में प्रेस वालों की कठिनाई (जिसे हम नहीं समझ सके) से बन्द रहा। इसकी बहुत माँग रही। इस संस्करण में परिवर्धन भी किया गया है तथा मँहगाई भी अत्यन्त बढ़ गई है। इस पर भी इसका मूल्य ४) ही रखा गया है। लेखक धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इतने उपयोगी विद्वत्तापूर्ण विषय को इतना खोला है। ट्रस्ट भी इसके लिये उनका आभारी है॥

प्यारेलाल कपूर

मन्त्री—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

गुरुबाज़ार, अमृतसर

लेखक का निवेदन

[प्रथम संस्करण की भूमिका]

वेद के विद्वानों, पाठकों और स्वाध्याय-शील महानुभावों के सम्मुख **वैदिक-स्वर-मीमांसा** ग्रंथ उपस्थित कर रहा हूँ। यद्यपि यह ग्रंथ अत्यन्त लघु-काय है, तथापि विषय की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है।

मैंने पाणिनीय व्याकरण के विविध ग्रंथों, प्रातिशाख्यों, शिक्षाओं तथा उपलब्ध सम्पूर्ण वेदभाष्यों का यथासम्भव अनुशीलन और मनन करके उदात्त आदि स्वरों के विषय में जो थोड़ा बहुत ज्ञान उपलब्ध किया है, उसे विद्वानों के कर-कमलों में समर्पित कर रहा हूँ। मैंने इसे कहाँ तक समझा है, इसकी परीक्षा स्वर-विषय में कृतभूरिपरिश्रम महानुभाव ही कर सकते हैं।

मुझे स्वर-विषय के ज्ञान में ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार वेङ्कटमाधव की स्वर विवेचना[1] से अत्यधिक सहायता मिली है। यदि यह अंश मुझे उपलब्ध न होता तो सम्भव है, वैदिक-स्वर-विज्ञान की इतनी गहराई तक न पहुँच पाता। वेङ्कटमाधव का स्वर विवेचना-अंश इतना गम्भीर है कि मुझे इस ग्रंथ को समझने में भी पर्याप्त समय लगा।

वेङ्कटमाधव तथा भट्टभास्कर—सम्पूर्ण मध्यकालीन और आधुनिक वेदभाष्यकारों में निस्सन्देह वेङ्कटमाधव सर्वोत्कृष्ट स्वर-शास्त्रज्ञ हैं। इसके लघु और बृहद् भाष्य[2] इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वेङ्कट के अनन्तर यदि किसी की गणना हो सकती है, तो वह है भट्टभास्कर। भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता और उसके ब्राह्मण तथा आरण्यक का भाष्य रचा है। यद्यपि भट्टभास्कर

---

१. वेङ्कटमाधव ने अपने ऋग्वेद के लघु-भाष्य के प्रति अध्याय के आरम्भ में वैदिक विषयों की श्लोकरूप में गम्भीर विवेचना की है। उसी के अंतर्गत प्रथमाष्टक के आठ अध्यायों में वैदिक-स्वर-विषय में जो विवेचना की है, उसे ही डा० कुन्हन राज ने स्वरानुक्रमणी के नाम से छापा है; परन्तु वेङ्कट के बृहद्भाष्य में यत्र तत्रोद्धृत स्वरानुक्रमणी इससे पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यह सम्प्रति उत्सन्न है। यदि यह ग्रन्थरत्न कथंचिदुपलब्ध हो जाए तो स्वर-शास्त्र के अनेक रहस्य खुल जाएँ।

२. वेङ्कटमाधव ने ऋग्वेद के लघु और बृहद् दो भाष्य लिखे थे। बृहद्-भाष्य का प्रथम अष्टक अडियार (मद्रास) से छपा है। डा. कुन्हन राज इसे वेङ्कटमाधव की कृति नहीं मानते। परन्तु यह मत भ्रान्त है। इस विषय की विशेष विवेचना के लिए देखिए श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास 'वेदों के भाष्यकार' भाग, पृष्ठ ३५, ३६॥

अपने भाष्य में पाणिनीय व्याकरणानुसार स्वर-प्रक्रिया का निर्देश करता है, परन्तु वह पदार्थ और वाक्यार्थ में स्वर-शास्त्र का कुछ भी उपयोग नहीं लेता।

सायण—सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में यथासम्भव प्रतिमन्त्र स्वर-प्रक्रिया का निर्देश किया है। यद्यपि उसे ऊपर से देखने पर सायण के स्वर-शास्त्रज्ञ होने की प्रतीति होती है, परन्तु उसके वेदभाष्य के गहरे अनुशीलन और उससे पूर्ववर्ती भट्टभास्कर द्वारा निर्दिष्ट स्वर-प्रक्रिया के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सायण का स्वर-शास्त्रविषयक ज्ञान अति स्वल्प है। वह प्रायः भट्टभास्कर की स्वर-प्रक्रिया की प्रतिलिपि करता है, और वह भी आँखें मूँदकर। इसका एक उदाहरण इसी पुस्तक के आठवें अध्याय में **दोषावस्तः** पद की स्वर-विवेचना में उपलब्ध होगा। इतना ही नहीं, सायण जहाँ जहाँ स्वतन्त्र रूप से स्वर-प्रक्रिया लिखता है, वहाँ वह प्रायः ५०% पचास प्रतिशत से अधिक भूल करता है। उसकी प्रतिसूक्त व्याख्या में स्वर-संबन्धी ४-५ भयङ्कर भूलों का उपलब्ध होना साधारण सी बात है।

ग्रन्थ की प्रतिक्रिया—इस पुस्तक को पढ़कर निस्सन्देह अनेक व्यक्तियों के मन में अपनी-अपनी भावनाओं और ज्ञान के अनुसार विविध प्रकार के विचार उत्पन्न होंगे। कई मुझे कोसेंगे भी। उन सब महानुभावों से निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ को भावुकता-वश न देखें, यथार्थता को समझने का प्रयत्न करें, तब उन्हें इस ग्रन्थ से कुछ प्रकाश ही उपलब्ध होगा।

शास्त्राध्ययन-पद्धति की सदोषता—सैकड़ों और सहस्रों वर्षों से हमारे शास्त्राध्ययन की पद्धति विकृत हो गई है। हम शास्त्र के शब्दों की तो बाल की खाल खेंचने की चेष्टा करते हैं, परन्तु शास्त्र के वास्तविक रहस्य को समझने की किंचित् भी चेष्टा नहीं करते। यही कारण है कि उदात्त आदि स्वरों के पदार्थ और वाक्यार्थ के साथ स्वभावतः विद्यमान तथा शास्त्र द्वारा प्रतिपादित सम्बन्ध को न समझकर केवल सूत्र-प्रवृत्ति तक ही सीमित रहते हैं।

मनचले वेद-व्याख्याता—अनेक मनचले अनधीत-शास्त्र व्याख्याता वेदार्थ में स्वरों की अनुपयोगिता की घोषणा करने की धृष्टता करते हैं। आर्य-समाज में विशेष कर ऐसे वेद-व्याख्याताओं का दल उत्पन्न हो गया है, जो सम्पूर्ण आर्ष परम्पराओं को छोड़कर और वेदार्थ की मर्यादाओं को तोड़कर अपनी तथाकथित अन्तःसाधना की आड़ में वेदार्थ के मिष से मनमानी कल्पनाएँ उपस्थित करते हैं। ऐसे लोगों के ग्रंथों को देखकर मुझे वेङ्कटमाधव का एक वचन स्मरण हो आता है—

भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रति मानवाः ।
मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे गृहे ॥
मन्त्रार्थानुक्रमणी ।

स्वराङ्कन के नियम—उपलब्ध वैदिक ग्रंथों में उदात्त आदि स्वरों के निर्देश का प्रकार प्रायः भिन्न भिन्न है । उसके बिना जाने पदस्थ उदात्त आदि स्वर का ज्ञान नहीं हो सकता और स्वर-ज्ञान के विना सूक्ष्म अर्थ-ज्ञान प्रायः असम्भव है । इसलिए इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त होने वाले स्वर-चिह्नों के नियमों का संकलन करके सोदाहरण विशद व्याख्या की है । स्वराङ्कन के नियमों का इतने विशद् रूप में संकलन करने का हमने प्रयत्न किया है । पूर्ववर्ती लेखकों ने कुछ साधारण नियम लिखे हैं, परन्तु इतना साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने का किसी ने प्रयास नहीं किया ।

पूर्व लेखकों द्वारा शास्त्रीय पद्धति का परित्याग—अनेक पूर्ववर्ती लेखकों ने शास्त्रीय प्रक्रिया को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से अथवा पाश्चात्य मत का अन्धानुकरण करके लिखा है ।[१] इसलिए उनके नियमों में स्पष्टता का अभाव है । यतः मैंने शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार यह संकलन इदंप्रथमतया किया है, अतः इसमें भूलों का रहना अस्वाभाविक नहीं । पुनरपि इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हमारे नियम पूर्वलेखकों से कहीं अधिक स्पष्ट और नियमित हैं । इस अध्याय (१०) में जो सूत्र-वचन हैं, वे स्वनिर्मित हैं ।

संहिता-पाठ से पद-पाठ—मन्त्र को संहिता-पाठ से पद-पाठ में परिवर्तित करने के नियम भी इदंप्रथमतया मैंने ही संकलित किए हैं । ये नियम ऋग्वेद के पद-पाठ के ही हैं ।[२] इन नियमों का संकलन भी यथासंभव पाणिनीय व्याकरण के अनुसार किया है । संस्कृत एम. ए. तथा शास्त्री की परीक्षाओं में संहितापाठ को पदपाठ में अथवा पदपाठों को संहितापाठ में परिवर्तन करने का एक प्रश्न प्रायः अवश्य रहता है । अतः संस्कृत एम. ए. तथा शास्त्री के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पदपाठ के नियमों का परिशिष्ट (१) में विस्तार से संकलन किया है । आशा है इससे एम. ए. तथा शास्त्री के विद्यार्थियों को अवश्य लाभ होगा ।

अभ्यर्थना—यतः यह विषय स्वभावतः गम्भीर है, विशेषकर वेदार्थ के साथ इसके समन्वय का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीरतम है । इसलिए

---

१. इसके लिए दशम अध्याय का प्रारम्भिक भाग देखें ॥

२. यदि यह प्रयास लाभकारी सिद्ध होगा तो अगले संस्करण में अन्य वेदों के पदपाठों के संकलित करने का प्रयत्न करेंगे ॥

मुझ जैसे साधारणमति और बहुव्यवसायी व्यक्ति से कई भूलों का होना स्वाभाविक है। इसलिए जो महानुभाव इस ग्रन्थ में रही भूलों, न्यूनताओं तथा विविध अस्पष्टताओं को सहृदयतापूर्वक दर्शाने का कष्ट करेंगे, उन्हें अगले संस्करणों में कृतार्थपूर्वक ठीक कर दिया जाएगा।

इस पुस्तक के लेखन तथा मुद्रण में अनेक व्यक्तियों से समय-समय पर सहयोग मिलता रहा, उन सबका मैं आभारी हूँ। विशेष करके श्री माननीय पं० भगवद्दत्त जी से अधिक सहायता प्राप्त हुई है, इसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

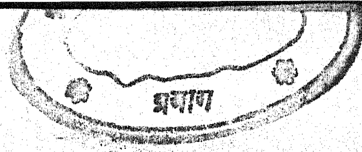
इस पुस्तक की उपयोगिता का अनुभव करके श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर के अधिकारियों ने इसे प्रकाशित करने का भार उठाया, तदर्थ उनका कृतज्ञ हूँ। ट्रस्ट के चिरकालीन सहयोग से ही मैं इस प्रकार के गम्भीर ग्रन्थों के प्रणयन में समर्थ हो सका हूँ। इसके लिए उनका जितना धन्यवाद करूँ, स्वल्प है।

इस पुस्तक के मुद्रण में श्री पं० बालकृष्णजी शास्त्री, स्वामी ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी ने जिस तत्परता का परिचय दिया, वह उनके ही अनुरूप है। उनकी कृपा के बिना यह ग्रन्थ इतना शीघ्र और सुन्दर न छप सकता था। देहली जैसे बड़े नगर में तो स्वरयुक्त टाइप का ही सर्वथा अभाव है, अतः आपकी ही शरण लेनी पड़ी।

अपने विरजानन्द आश्रम के ब्रह्मचारी ओम्प्रकाश आदि ने इस ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन और प्रेसकापी में लेखक-प्रमाद से रही अशुद्धियों का संशोधन अति योग्यतापूर्वक किया है। इसके लिए उन्हें हार्दिक आशीः देता हूँ॥

प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान
४९४३ रेगरपुरा गली ४० करोल बाग, नई दिल्ली
महाशिवरात्रि, सं० २०१४

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक



द्वितीय संस्करण की भूमिका

वैदिक-स्वर-शास्त्र का विषय अत्यन्त गम्भीर है। संस्कृत भाषा के लोक-भाषा के रूप में उत्सन्न हो जाने के कारण इसकी दुरूहता और बढ़ गई है। उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा दर्शाई गई स्वरशास्त्र की उपेक्षा ने इस शास्त्र के लोप में पूर्ण योग दिया है। पाणिनीय तन्त्र के वैयाकरणों ने जब से पठन-पाठन में प्रक्रिया-ग्रन्थों का आश्रयण लिया तब से पाणिनीय वैयाकरणों में भी यह शास्त्र प्रायः लुप्त हो गया। क्योंकि पाणिनीय तन्त्र में प्रकरणानुसार मध्य-मध्य में सन्निविष्ट स्वर सूत्रों को प्रक्रियाग्रन्थकारों ने अपने-अपने प्रकरणों से हटाकर अन्त में संगृहीत कर दिया, इसलिए पाणिनीय वैयाकरणों में भी स्वर-शास्त्र की उपेक्षा होने लगी।[१] इसका पठन-पाठन छूट गया। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जहाँ सिद्धान्त कौमुदी पर बीसियों व्याख्याग्रन्थ लिखे गए, वहाँ उसके स्वर प्रकरण पर दो-तीन ही व्याख्यान ग्रन्थ लिखे गए। सिद्धान्त कौमुदी के माध्यम से पढ़े हुए साम्प्रतिक वैयाकरणों में सम्भवतः दो चार ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो पाणिनीय स्वरशास्त्र में पूर्ण व्युत्पन्न हों।

वैदिक स्वर-मीमांसा का समादर

स्वरशास्त्र के दुरूह होने से उसके विषय में लिखा गया मेरा वैदिक-**स्वर-मीमांसा** ग्रन्थ भी स्वभावतः दुरूह है। अतः ग्रन्थ का लेखन और

---

२. पाणिनीय तन्त्र के स्वीय क्रम में स्वर और वैदिक प्रक्रिया के सूत्र यथाप्रकरण मध्य-मध्य में निविष्ट है, अतः पाणिनीय क्रम से उसके व्याकरण का अध्ययन करने वालों के लिए स्वर वैदिक प्रक्रिया के सूत्रों का ग्रहण स्वतः हो जाता था। उनका परित्याग नहीं होता था। अतः वेङ्कटमाधव सदृश प्राचीन पाणिनीय वैयाकरण स्वरशास्त्र में पूर्ण निपुण होते थे। आचार्य सायण के समय प्रक्रिया ग्रन्थों का तथा स्वर वैदिक प्रकरण का परित्याग करके अध्ययन की परिपाटी प्रारम्भ हो चुकी थी। अतएव सायण जैसा विद्वान् भी स्वर प्रक्रिया में बालक-सदृश प्रतीत होता है। उसकी ऋग्भाष्य में उल्लिखित स्वर प्रक्रिया अधि-कांशतः भट्टभास्कर के तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में निर्दिष्ट प्रक्रिया का परिवर्धनमात्र है और जहाँ उसका स्वतन्त्र लेख है वह वहाँ ५० प्रतिशत से अधिक अशुद्ध है।

प्रकाशन करते हुए अनेक बार यही ध्यान में आता था कि इस दुरूह ग्रन्थ को कौन पढ़ेगा और कौन इसकी उपयोगिता को समझेगा। परन्तु ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर आशा के विपरीत अनेक विद्वानों ने और समालोचकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। हम यहाँ उदाहरणार्थ **सम्मेलन पत्रिका** (भाग ४९, सं० २; चैत्र–जेष्ठ शक १८८१) के सम्पादकीय **स्वरानुशासन : स्वर-संयम** शीर्षक विस्तृत लेख में श्री पं० रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री ने जो विचार प्रस्तुत किए हैं उनका कुछ अंश ही उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं—

श्री युधिष्ठिर मीमांसक की सूक्ष्मेक्षिणी मेधाने "वैदिक-स्वर-मीमांसा' प्रदान कर लुप्त होती हुई स्वर संयम की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया है। मीमांसक जी का यह बौद्धिक प्रयत्न आचार्य किशोरी दास जी की [हिन्दी शब्द मीमांसा की] परम्परा का है, जिसमें संवाद और विसंवाद उठाया जा सकता है, किन्तु गहराई में डूबकर अध्ययन-अनुशीलन करने वालों के लिए ये दोनों ग्रन्थ वह रत्न हैं, जिनका मूल्य सामन्तकमणि और कोहेनूर की भाँति आँकने में सामान्य बुद्धि असफल हो सकती है।

इस प्रकार जहाँ सूक्ष्म चिन्तक गम्भीर अध्येता विद्वानों ने इस ग्रन्थ का समादर किया वहाँ संस्कृत एम. ए. के छात्रों और उनके अध्यापकों को भी वेद विषयक पत्र में महती सहायता मिली। इसलिए इस क्लिष्ट-तम ग्रन्थ का प्रथम संस्करण दो वर्ष के भीतर भीतर ही समाप्त हो गया। इस ग्रन्थ की उपयोगिता में इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है।

प्रस्तुत संस्करण

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण को समाप्त हुए दो वर्ष से अधिक हो गए हैं परन्तु अनेक विध विघ्नबाधाओं, जिनमें शारीरिक अस्वास्थ्य प्रधान है, के कारण इसका द्वितीय परिशोधित और परिबृंहित संस्करण प्रकाशित न कर सका। अब कथंचित् समय निकालकर इस संस्करण को प्रस्तुत कर रहा हूँ।

परिष्करण और परिवर्धन

इस संस्करण में अनेक स्थानों पर परिष्करण और परिवर्धन किया गया है। इस परिष्करण और परिवर्धन के कारण यह ग्रन्थ पूर्व संस्करण की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी हो गया है। वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त स्वराङ्कन-प्रकार

में अनेक नियमों में परिशोधन किया गया। अब यह प्रकरण प्रायः निर्दोष हो गया है। पदपाठ सम्बन्धी नियमों में भी कुछ नियम और बढ़ाए गए हैं।

विशेष परिवर्धन—स्वर शास्त्र के अनेक विज्ञ और प्रेमी महानुभावों ने मुझे सुझाव दिया कि ग्रन्थ के अन्त में पाणिनीय व्याकरण के स्वर सम्बन्धी नियम संक्षेप से दे दूँ, जिससे अध्येताओं को शास्त्रीय ढंग से ही स्वरप्रक्रिया का परिज्ञान हो जाए। मैंने इन महानुभावों के परामर्श का समादर करते हुए इस संस्करण में संक्षिप्त पाणिनीय स्वर-प्रक्रिया अंश भी दे दिया है। इस अंश को स्वतन्त्र रूप से लिखने की अपेक्षा विलुप्त वेद और आर्ष-ग्रन्थों के समुद्धारक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा संकलित **सौवर** नामक लघु ग्रन्थ का समावेश करना ही अधिक उचित समझा। इसलिए ग्रन्थ के अन्त में उनके सौवर ग्रन्थ को परिशोधन करके निविष्ट कर रहा हूँ। आशा है इस नए परिवर्धन से वैदिक स्वर-शास्त्र के जिज्ञासुओं को अधिक लाभ होगा।

अन्य इच्छा—मैं चाहता था कि वेंकट माधव के लघु भाष्य के प्रथमाष्टक के प्रति अध्याय के आरम्भ में दिए गए स्वर प्रकरण (स्वरानुक्रमणी) को भी विस्तृत व्याख्या लिखकर अन्त में दे दूँ, परन्तु यह कार्य अधिक काल साध्य था, इसलिए इस संस्करण में इसका समावेश न कर सका। यदि समय मिला तो इस अंश को सोदाहरण विस्तृत व्याख्या सहित पृथक् द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित करूँगा।

विशेष सहायता

मैंने प्रथम संस्करण में स्वर-शास्त्रज्ञ महानुभावों से अभ्यर्थना की थी कि "इस अतिशय गम्भीर कार्य में मुझ जैसे साधारण मति और बहुव्यवसायी व्यक्ति से भूलों का होना स्वाभाविक है। इस लिए जो महानुभाव इस ग्रन्थ में रही भूलों न्यूनताओं तथा विविध अस्पष्टताओं को सहृदयता दर्शाने का कष्ट करेंगे, उन्हें अगले संस्करण में कृतज्ञता पूर्वक ठीक कर दिया जाएगा।"

मेरी इस अभ्यर्थना पर दो महानुभावों ने विशेष ध्यान दिया। इनमें एक हैं अमलनेर (महाराष्ट्र) के प्रताप कालेज के प्रिंसिपल श्री पं० दामोदर विष्णु गर्गे। आपने स्वराङ्कन प्रकार के प्रकरण में स्पष्टतार्थ दो सूत्र बढ़ाने का सुझाव दिया था। यद्यपि आप के द्वारा परिबृंहणीय सूत्र मैंने नहीं बढ़ाए, क्योंकि

उनका विषय मेरे सूत्रों से गतार्थ हो जाता था, पुनरपि मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने मेरे ग्रन्थ को सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा और उसकी उपयोगिता को समझते हुए उसे निर्दोष बनाने के लिए आपने अपने उदार हृदय का परिचय दिया। आजकल के अतिमानमण्डित मत्सरग्रस्त विद्वत्समाज में ऐसे सहृदय महानुभावों का स्वतः सान्निध्य प्राप्त करना भी मेरे लिए हर्ष का विषय है।

द्वितीय महानुभाव हैं विरजानन्द आश्रम (मोतीझील काशी) के भूतपूर्व विद्यार्थी श्री पं० वीरेन्द्र जी एम. ए. व्याकरणाचार्य (सम्प्रति विश्वेश्वरानन्द अनुसन्धान संस्थान होशियारपुर)। आपने इस ग्रन्थ के इस संस्करण के परिष्कार में इतना अधिक सहयोग दिया है कि यदि इस संस्करण का परिष्कर्ता इनको ही कहा जाए तो कुछ अत्युक्ति न होगी। यदि इनका इतना सहयोग न होता तो यह ग्रन्थ जिस रूप में प्रकाशित हो रहा है, कदापि सम्भव न था। इसलिए इन्हें हार्दिक आशीः देता हूँ और प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वह इन्हें दीर्घायुष्य, दैवें तथा दैवी मेधा और आर्षज्ञान से इनकी आत्मा और अन्तःकरण को उत्तरोत्तर प्रकाशित करें जिससे ये वैदिक विमल ज्ञान के प्रसार में अधिक समर्थ हो सकें।

इस संस्करण के पुनः प्रकाशन के लिए श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रधान और अपने पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु तथा मन्त्री-श्री माननीय बाबू प्यारेलाल जी का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

भारतीय-प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान
३१।१४४ अलवरगेट, अजमेर

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

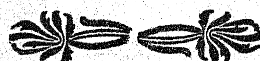


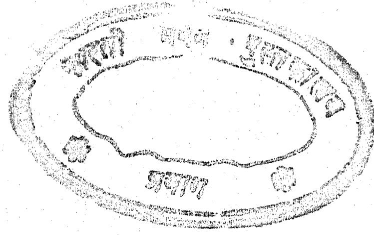
वैदिक-स्वर-मीमांसा

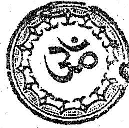
की

विषय-सूची

परिशिष्ट







वैदिक-स्वर-मीमांसा

वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते ।

[वेद के अर्थ में उपयोगी होने से स्वरों की व्यवस्था संक्षेप से लिखते हैं]

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित् ।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥

[जैसे अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, इसी प्रकार स्वरों की सहायता से किए गए अर्थ स्फुट (सन्देह-रहित) होते हैं]

वेङ्कट माधव



अथ

वैदिक-स्वर-मीमांसा

प्रथम अध्याय

स्वर शब्द के अर्थ और पर्याय

ग्रन्थ-प्रयोजन—(क) वेद के वास्तविक अभिप्राय तक पहुँचने के जितने साधन हैं, उनमें स्वर-शास्त्र सब से प्रधान है । व्याकरण और निरुक्त जैसे प्रमुख शास्त्र भी स्वर-शास्त्र[1] के अङ्ग बनकर[2] ही वेदार्थ-ज्ञान में सहायक

---

१. स्वर-शास्त्र व्याकरण का ही एक देश है । यहाँ व्याकरण से अभिप्राय केवल शब्द-निर्वचन से है । निरुक्त अर्थ-निर्वचन शास्त्र है, शब्द-निर्वचन शास्त्र नहीं है । देखो, हमारे 'छन्दः-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय ।

२. अनेक विद्वान् पदान्तर सान्निध्यादि से प्रतीयमान अर्थ को प्रधान मानकर न केवल व्याकरण आदि निदर्शित संस्कार को ही परित्याज्य मानते हैं अपि तु स्वर-शास्त्र का भी अपलाप करते हैं । यथा वेङ्कट माधव लिखता है—

बहुव्रीहेः स्वरं पश्यन्नर्थं तत्पुरुषस्य तु ।
अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्यात् वरुणं वो रिशादसम् ॥ स्वरानु० ५।७ ॥

इस विषय की विशेष विवेचना "वेद में स्वर आदि का व्यत्यय नहीं" नामक अध्याय में की जाएगी ।

यहाँ यह ध्यान रहे कि व्याकरणादि प्रोक्त प्रकृतिप्रत्यय-विभाग तो काल्पनिक होने से क्वचित् छोड़े भी जा सकते हैं, परन्तु स्वर तो शब्दों का अपना उच्चारण धर्म है, उनका अवयव है, वह बाहर की वस्तु नहीं है । अतः स्वर का परित्याग किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता । हाँ, स्वरबोधक पाणिनि आदि के लक्षणों का तो परित्याग क्वचित् माना जा सकता है परन्तु शब्दगत तदवयवभूत उदात्त आदि स्वरों का परित्याग कदापि नहीं किया जा सकता ।

होते हैं। स्वर-शास्त्र का विरोध होने पर ये दोनों शास्त्र पङ्गु बने रहते हैं।[१] स्वर-ज्ञान के विना न केवल मन्त्र का वास्तविक अभिप्राय ही अज्ञात रहता है, अपितु स्वरशास्त्र की उपेक्षा से अनेक स्थानों में अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है।[२] इसलिए वेद के सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुँचने के लिए उदात्त आदि स्वरों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। स्वरों के ज्ञान के लिए उनके अङ्कन (चिह्न) प्रकार को जानना अत्यावश्यक है।

(ख) इस समय जितने सस्वर वैदिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें उदात्तादि स्वरों के अङ्कन-प्रकार (चिह्न) भी एक जैसे नहीं हैं। कहीं कहीं तो अत्यन्त वैषम्य उपलब्ध होता है। यथा—

१—ऋग्वेद (काश्मीर पाठ के अतिरिक्त), यजुर्वेद (माध्य० काण्व० तैत्ति०) तथा अथर्ववेद में प्रयुक्त नीचे की पड़ी रेखा अनुदात्त का चिह्न है। यथा—

अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ० १।१।१) इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ (१।१।१), ये त्रि॑ष॒प्ताः (अ० शौ० १।१।१)।

यही नीचे की पड़ी रेखा शतपथ ब्राह्मण (माध्य० काण्व०) में उदात्त का चिह्न है। यथा—

इ॒षे त्वोर्जे त्वे॒ति॒ (माध्य० शत० १।७।१।२)।

२—ऋग्वेद (काश्मीर पाठ से अन्यत्र), यजुर्वेद (माध्य०, काण्व०, तैत्ति०) तथा अथर्ववेद में ऊपर की खड़ी रेखा स्वरित का चिह्न है। यही ऊपर की खड़ी रेखा ऋग्वेद के काश्मीर पाठ तथा मैत्रायणी संहिता में उदात्त के लिए प्रयुक्त होती है। यथा—

अ॑ग्निमीळे (काश्मीर पाठ १।१।१), इ॒षे॑ त्वा॒ सु॒भूता॑य॒ (मै० १।१।१)।

३—सामवेद में उदात्तादि स्वरों का अङ्कन रेखाओं के स्थान में १, २, ३ संख्याओं द्वारा होता है। यथा—

अ॒॒ग्न॒ आ॒ या॒हि (पू० १।१।१)।

१. इसके लिए 'वने न वायः' (ऋ० १०।२९।१) मन्त्र के विषय में आठवें अध्याय में प्रस्तुत विचार का अवलोकन करें।

२. इस विषय के कतिपय उदाहरण हम आठवें अध्याय में प्रस्तुत करेंगे।

वैदिक ग्रन्थों में स्वराङ्कन-प्रकार (चिह्नों) के एवंविध वैषम्य के कारण स्वर-शास्त्रज्ञ भी कुछ समय के लिए भूलभुलय्या में पड़ जाता है, फिर स्वर-शास्त्र के न जानने वाले का तो कहना ही क्या।

इसलिए हम इस निबन्ध में स्वरों के विविध भेद, उनकी वेदार्थ में उपयोगिता और उनकी उपेक्षा से होने वाले भयङ्कर परिणामों का निदर्शन कराकर स्वरों के विभिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त विविध अङ्कन-प्रकारों का वर्णन करेंगे।

अब हम स्वर शब्द के लौकिक और वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध विविध अर्थों का निदर्शन कराते हैं।

स्वर शब्द के अर्थ

स्वर शब्द लौकिक और वैदिक वाङ्मय में निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—

१—**वाक्**—वेद में स्वर शब्द वाक् अर्थ में प्रयुक्त देखा जाता है। यथा—

अधि स्वरे (ऋ० ८।७२।७)।

सायण इसका अर्थ **स्वरोपेते शब्दवति** अर्थात् 'स्वरों से युक्त शब्दात्मक वाक्' करता है।

निघण्टु १।११ (३१) में स्वर शब्द वाङ्नामों में पढ़ा है। देवराज यज्वा ने इसकी व्याख्या में माध्यन्दिन संहिता १८।१ का **स्वरश्च मे** मन्त्रांश उद्धृत किया है। निघण्टु ३।१४ (४१) में **स्वरति** पद अर्चति (पूजा = स्तुति) अर्थवाले आख्यातों में पढ़ा है। स्तुति शब्द द्वारा ही की जाती है।

स्वर शब्द दो प्रकार का है, एक आद्युदात्त और दूसरा अन्तोदात्त। निघण्टु १।१ (३१) में वाङ्नामों में पठित **स्वर** शब्द आद्युदात्त उपलब्ध होता है। यदि आद्युदात्त स्वर शब्द वाङ्नाम है, तो **यदा न तं स्वरं पश्येद् अन्यार्थं तदानयेत्**—न्याय के अनुसार निश्चय ही सायण का ऋग्भाष्य ८।७२।७ में अन्तोदात्त **स्वर** शब्द का 'वाक्' अर्थ करना अशुद्ध होगा।

२—**वर्ण-विशेष**—संहितोपनिषद् ब्राह्मण, शिक्षा-शास्त्र, भरतनाट्यशास्त्र,[1] प्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्र और कातन्त्र आदि में स्वर शब्द उन अकारादि वर्णों के

---

१. पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी भरतनाट्य-शास्त्र का काल ईसा की दूसरी से चौथी शताब्दी तक मानते हैं। परन्तु यह सर्वथा अशुद्ध है। भरतनाट्य-शास्त्र के कई प्रकरण पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न व्याकरण और आपिशल शिक्षा के अनुसार हैं। अतः यह पाणिनि से निश्चय ही पूर्ववर्ती ग्रन्थ

लिए प्रयुक्त होता है, जिनका उच्चारण वर्णान्तर की सहायता के विना स्वतन्त्र रूप से होता है।[1] यथा—

यथा स्वरेण सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि। एवं सर्वान् कामान् आप्नोति यश्चैवं वेद। सं०उ०ब्रा०खं०२।

विवृतकरणाः स्वराः। आपिशल[2] (३।७) तथा पाणिनीय[3] (३।८) शिक्षा।

अकाराद्याः स्वरा ज्ञेया औकारान्ताश्चतुर्दश। नाट्य-शास्त्र १४।८॥

एते स्वराः। ऋक्प्राति० १।३॥

तत्र स्वराः प्रथमम्। वाजसनेय प्राति० ८।२॥

षोडशादितः स्वराः। तैत्ति० प्राति० १।५॥

अ इति आ इति......स्वराः। ऋक्तन्त्र १।२॥

तत्र चतुर्दशादौ स्वराः। कातन्त्र १।१।२॥

पाणिनीय वैयाकरण इन अकारादि स्वरों का **'अच्'** प्रत्याहार से और फिट्-सूत्रकार 'अष्' प्रत्याहार[4] से व्यवहार करते हैं। हम भी इस निबन्ध में सन्देह-निवृत्ति के लिए अकारादि वर्णों का निर्देश अच् नाम से करेंगे।

है। इस पर विशेष विचार के लिए देखिए हमारे 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का भरत-प्रकरण। यह ग्रन्थ शीघ्र मुद्रित होगा।

१. स्वयं राजन्त इति स्वराः। महाभाष्य १।२।२९॥

२. आपिशल, पाणिनीय तथा चान्द्र शिक्षासूत्र हमने प्रकाशित किए हैं।

३. पाणिनीय शिक्षा दो प्रकार की उपलब्ध होती है, सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक। सूत्रात्मक शिक्षा ही पाणिनि-प्रोक्त है, श्लोकात्मक पाणिनि-प्रोक्त नहीं है। इसके लिए देखिए 'साहित्य' (पटना) वर्ष ७ अङ्क ४, पौष २०१३ में हमारा लेख—'मूल पाणिनीय शिक्षा'। इस पर विशेष विचार हमने "शिक्षा-शास्त्र का इतिहास" (अप्रकाशित) ग्रन्थ में किया है।

पाणिनीय शिक्षासूत्र का जो पाठ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बड़े प्रयत्न से उपलब्ध करके छपवाया था वह हस्तलेख के त्रुटित होने के कारण अधूरा था। अब एक अन्य प्रति के उपलब्ध होजाने से पाणिनीय शिक्षा सूत्र का पाठ पूर्ण हो गया है। इसका सम्पादन हम कर चुके हैं। इसे हम शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

४. लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः। फिट् सूत्र २।१९। चान्द्रटीका (प्रत्याहार सूत्र १३) में उद्धृत तथा प्रायिक पाठ। जर्मन मुद्रित फिट्सूत्र-वृत्ति में 'बह्वशो गुरुः' पाठ है।

३–षड्जादि सप्तक—संगीत शास्त्र और उससे संबद्ध प्रकरणों में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद नामक ध्वनि-विशेषों के लिए स्वर शब्द का प्रयोग होता है। यथा—

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः॥ नारदशिक्षा १।२।४॥
शारीरा वैणवाश्चैव सप्त षड्जादयः स्वराः। नाट्यशास्त्र ६।२७॥
स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः। पिङ्गलसूत्र ३।६४॥

यम—ऋक्प्रातिशाख्य १३।४४ की उव्वट की व्याख्या में इन षड्जादि स्वरों का यम नाम से उल्लेख किया गया है।

क्रुष्टादि सप्तक—पूर्वनिर्दिष्ट षड्जादि सप्तक ही सामगान में क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य नाम से स्मरण किए गए हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३।१२ में क्रुष्टादि सप्तक का **यम** शब्द से भी निर्देश किया है।

४–सप्त (सात) संख्या—षड्जादि अथवा क्रुष्टादि अथवा उदात्तादि[1] सात स्वरों की प्रसिद्धि के कारण स्वर शब्द सात संख्या के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में स्वर शब्द का प्रयोग पिङ्गल के छन्दः-शास्त्र में मिलता है। यथा—

स्वरा अर्धं चार्यार्धम्। ४।१४ ॥[2]

अर्थात्—जहाँ प्रस्तार में सात गण होते हैं और आधा (=साढ़े सात गण), वह आर्या छन्द का आधा भाग होता है।

५–प्राण—नासिका के दाएँ-बाएँ रन्ध्र से प्रवाहित होने वाले प्राण के लिए भी स्वर शब्द प्रयुक्त होता है। यथा—

प्राणः स्वरः। ताण्ड्य ब्रा० ७।१।१०; १७।१२।२ ॥
प्राणो वै स्वरः। ताण्ड्य ब्रा० २४।११।९ ॥
स्वरो नासा समीरिते स्यात्। मेदिनी कोश रान्त ९४।

---

१. उदात्तादि स्वरों के सात भेद आगे दर्शाए जाएँगे।

२. यह प्रमाण तथा स्वर-सम्बन्धी कुछ अन्य प्रमाण हमने श्री माननीय गुरुवर्य पं० भगवत्प्रसाद जी मिश्र वेदाचार्य, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी के 'सारस्वती सुषमा' आषाढ़ सं० २००६ के अङ्क में प्रकाशित 'किञ्चित् स्वारम्' लेख से लिए हैं।

शिवस्वरोदय और हठयोगदीपिका आदि में दाएँ-बाएँ नासिकारन्ध्र से प्रवाहित होने वाले प्राण के लिए क्रमशः सूर्यस्वर और चन्द्रस्वर शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है।

६—सूर्य—स्वरशब्द वैदिक वाङ्मय में सूर्य के लिए भी प्रयुक्त होता है। यथा—

एष ह वै सूर्यो भूत्वाऽमुष्मिन् लोके स्वरति।[1] **तद्यत् स्वरति तस्मात् स्वरः** । गो० ब्रा० १।५।१४॥

७—**सोम**—सोम के लिए भी स्वर शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा—यदाह **स्वरोऽसीति सोमं वा एतदाह** । गो० ब्रा० १।५।१४॥

८—**प्रजापति**—प्रजापति भी स्वर कहा जाता है। यथा—

प्रजापतिः स्वरः । षड्० ब्रा० ३।७॥

९—**पशु**—स्वर शब्द का प्रयोग पशु के लिए भी होता है। यथा—

पशवः स्वरः । गो० ब्रा० २।३।२२; २।४।२॥

पशवो वै स्वरः । ऐ० ब्रा० ३।२४॥

१०—**श्रीः**—स्वर शब्द का एक अर्थ 'श्री' भी है। यथा—

श्रीर्वै स्वरः । शत० ब्रा० ११।४।२।१०॥

११—**प्रणव**—महामहोपाध्याय मित्रमिश्र ने वीरमित्रोदय के भक्तिप्रकाश खण्ड (पृष्ठ १३८) में एक प्राचीन वचन उद्धृत किया है—

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।

अर्थात्—जो वेद के आरम्भ में स्वर = ओम् उच्चरित होता है, और वेद के अन्त (समाप्ति) में भी स्थित (= उच्चरित) होता है।

मित्रमिश्र ने इस वचन की व्याख्या में लिखा है—**स्वरः प्रणवः** । अर्थात् यहाँ स्वर नाम प्रणव = ओंकार का है।

१२—**उदात्तादि वर्णधर्म**—वैदिक वाङ्मय में स्वर शब्द उदात्त, अनुदात्त और स्वरित[2] संज्ञक विशिष्ट उच्चारण धर्मों के लिए अधिक प्रसिद्ध है। यथा—

तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव । शत० ब्रा० १४।४।१।२७॥

नारदीय, आपिशल, पाणिनीय और चान्द्र आदि शिक्षा ग्रन्थों में उदात्त आदि के लिए स्वर शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है।

---

१. स्वृ शब्दोपतापयोः । स्वरति उपतपतीत्यर्थः ।

२. स्वरों के कहीं तीन, कहीं चार, कहीं पाँच और कहीं सात भेद वर्णित हैं। उनकी विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी।

इन उपरिनिर्दिष्ट अर्थों के अतिरिक्त कतिपय अन्य अर्थों में भी स्वर शब्द का क्वाचित्क प्रयोग उपलब्ध होता है।[1]

स्वर शब्द का नैबन्धिक अर्थ

इस निबन्ध में **स्वर** शब्द से वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संज्ञक उच्चारण विषयक वर्ण-धर्मों का ग्रहण समझना चाहिए।

स्वर के पर्याय

प्राचीन ग्रन्थों में उदात्तादि स्वर के लिए स्वार, यम और जाति शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—

स्वार—कात्यायनीय प्रतिज्ञा परिशिष्ट १।८ में लिखा है—

ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वारौ।

अर्थात्—शतपथ ब्राह्मण में उदात्त और अनुदात्त भाषिक स्वार=स्वर होते हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १७।६ तथा २०।८ में स्वार शब्द केवल स्वरित के लिए प्रयुक्त हुआ है। नारदशिक्षा २।१।१ में भी 'जात्य स्वरित' के लिए **जात्य स्वार** शब्द का प्रयोग मिलता है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य ३।८ में भी स्वरित के साथ स्वार शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है, वह स्वर का पर्याय प्रतीत होता है। ऋ० प्रा० ३।३४ में भी जात्यादि स्वरितों के लिए स्वार शब्द प्रयुक्त हुआ है।

यम—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य अध्याय २३ में उदात्तादि स्वरों के लिए यम शब्द का व्यवहार असकृत् उपलब्ध होता है।

ऋक्प्रातिशाख्य १३।४४ के अनुसार षड्ज, ऋषभ आदि सप्त स्वर भी **यम** कहाते हैं।

जाति—रामायण के टीकाकारों के मतानुसार बालकाण्ड ४।८ में जाति शब्द षड्जादि सात स्वरों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

स्वरित के लिए 'स्वरति' क्रिया का प्रयोग

नारदीय शिक्षा २।३।४ में **स्वरति**, २।३।६ में **स्वर्यते** तथा महाभाष्य १।२।४८ में **स्वरयिष्यते** क्रिया का प्रयोग स्वरित स्वर के लिये हुआ है।

---

१. आपिशल शिक्षा ८।२०, २१ में ध्वनि के लिए स्वर शब्द का प्रयोग मिलता है। अजमेर मुद्रित पाणिनीय शिक्षा में यह भाग त्रुटित है।

स्वरित का पर्याय प्रणव

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १।४७ के **सर्वः प्रणव इत्येके** सूत्र में प्रणव शब्द स्वरित का पर्याय है—

प्रणवशब्दः स्वरितपर्यायः ।

ऐसा टीकाकारों का कथन है ।

स्वर, स्वार और यम पद का निर्वचन

स्वर—स्वर शब्द **स्वृ शब्दोपतापयोः** धातु से करण में घ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है ।[1] निघण्टु २।१४ में **स्वरति** पद गत्यर्थक आख्यातों में पढ़ा है । इसलिए स्वर शब्द का निर्वचन होगा—

स्वर्यन्तेऽर्था एभिः ।[2]

अर्थात्—जिनसे पदों के अर्थ जाने जाएँ, वे स्वर कहाते हैं ।

स्वार—स्वार शब्द भी पूर्वनिर्दिष्ट **स्वृ** धातु से ही करण में **घञ्** प्रत्यय होकर बनता है ।[3] घ और घञ् दोनों प्रत्यय एक ही अर्थ में हुए हैं । अतः स्वार शब्द का भी वही अर्थ होगा जो स्वर का है ।

अनन्तदेव ने प्रतिज्ञा-परिशिष्ट १।८ के पूर्वोद्धृत सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

स्वर एव स्वारः । स्वार्थेऽण् ।

अर्थात्—स्वर शब्द से स्वार्थ में **अण्** प्रत्यय होकर स्वार शब्द सिद्ध होता है ।

अनन्तदेव की भूल—निस्सन्देह संस्कृत भाषा के अनेक पदों में स्वार्थ में अण् प्रत्यय की प्रवृत्ति देखी जाती है । परन्तु स्वर और स्वार में तो स्वृ धातु से क्रमशः घ और घञ् प्रत्यय ही हुए हैं । संस्कृत भाषा में घ अथवा अप् और घञ् प्रत्ययान्त अनेक ऐसे समानार्थक शब्द हैं, जिनमें केवल ह्रस्व-दीर्घ अकार का ही भेद है ।[4] यथा—

---

१. अष्टा० ३।३।११८॥

२. अमरकोश—भानुजीदीक्षित व्याख्या १।६।४॥

३. अष्टा० ३।३।११७॥

४. इस प्रकार के विविध शब्दों की सत्ता का ज्ञान न होने से औत्तर-कालिक कवियों ने एक नियम बनाया—'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न

पद-पाद, विसर-विसार[1], प्रसर-प्रसार[1], उपरम[2]-उपराम[3], विश्रम[4]-विश्राम[4]।[5]

यम—यम शब्द **यम उपरमे** धातु से करण में **अप्** प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।[6] इसलिए इसका भी निर्वचन होगा—

नियम्यन्तेऽर्था एभिरिति ।

अर्थात्—जिनसे शब्दार्थ का नियमन हो, उन्हें यम कहते हैं।

स्वरों अथवा यमों से अर्थों का ज्ञान अथवा नियमन कैसे होता है, यह हम साधारणतया पञ्चम अध्याय तथा विशेष रूप से अष्टम अध्याय में सोदाहरण दर्शाएँगे।

अब अगले अध्याय में स्वरों के भेद और उनके उच्चारण-प्रकार का वर्णन करेंगे।

कारयेत्।' अर्थात् यदि कहीं एक मात्रा के अधिक होने से छन्दोभङ्ग होता हो वहाँ 'माष' आदि दीर्घ स्वरवाले शब्दों के स्थान पर 'मष' आदि ह्रस्व स्वरवाले शब्दों का प्रयोग कर देना उचित है, परन्तु छन्दोभंग नहीं करना चाहिए। वास्तविक बात यह है कि प्राचीन आदि-भाषा अथवा अति भाषा में ह्रस्व-दीर्घ उभयविध स्वरवाले शब्दों का बाहुल्य था।

१. क्षीरतरङ्गिणी १।६६७ पृष्ठ १४० पं० १४ ॥

२. काशिका ७।३।३४॥

३. दुर्घट वृत्ति पृष्ठ ११७, भर्तृहरि का मत।

४. विश्रम-भागवृत्तिकार के मत में, विश्राम-चान्द्रव्याकरण (६।१।४२) के अनुसार, दोनों ही युक्त—वर्धमान (वेः श्रमेर्वेति सूत्रेण, संक्षिप्तसार टीका, सन्धि) तथा क्षीरतरङ्गिणी ३।९७, पृष्ठ २१६ पं० १९।

५. इस प्रकार की ह्रस्व दीर्घ विषयक द्विविध प्रवृत्ति अनेक प्रयोगों में देखी जाती है। यथा—उपनयन-उपनायन (मनु० २।३६, या० स्मृ० १।४), अतिशयन-अतिशायन (अष्टा० ५।३।५५), पुरुष-पूरुष, नरक-नारक, शिक्षा-शीक्षा (तै० उ० १।१५), स्वरवर्णकर (पा० शिक्षा) स्वरवर्णकार (आप० शिक्षा) अतिसार-अतीसार (चरक चिकि० अ० १९ में दोनों प्रयोग) इत्यादि।

६. अष्टा० ३।३।६३।

द्वितीय अध्याय

स्वरों के भेद और उनका उच्चारण प्रकार

स्वरों के भेद

वैदिक वाङ्मय में उदात्त आदि स्वरों के अनेक भेद उल्लिखित हैं। कहीं सात, कहीं पाँच, कहीं चार, कहीं तीन, कहीं दो और कहीं एक ही स्वर का उल्लेख मिलता है। हम इन सब भेदों का क्रमशः निर्देश करेंगे।

सात स्वर—महाभाष्य १।२।३३ में सात स्वर इस प्रकार गिनाए हैं—

सप्त स्वरा भवन्ति—उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः[1], एकश्रुतिः सप्तमः।

अर्थात्—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित के आरम्भ में विद्यमान उदात्त (अन्य उदात्त से भिन्न)[1] और एकश्रुति ये सात स्वर होते हैं।

नारदीय शिक्षा में सामगानोपयोगी सात स्वरों का विधान मिलता है। वे सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। भाषिक सूत्र ३।१६, १७ में भी इनका निर्देश उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३।१४ में इन्हें क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य कहा है।[2] नारद शिक्षा १।१२ में इन नामों से भी सामस्वर का विधान किया है।

महाभाष्य के सात स्वरों का षड्जादि अथवा क्रुष्टादि सात स्वरों के साथ क्या संबन्ध है, यह हम अभी कहने में असमर्थ हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य अ० २३ तथा नारदीय शिक्षा के गहरे अनुशीलन से इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश

---

१. तुलना करो—तैत्ति० प्राति० १।४१॥

२. इन्हीं सात स्वरों का स्थानविशेष से संबन्ध होने पर २१ संख्या होती है। द्रष्टव्य—नारदीय शिक्षा २।४, तै० प्रा० २३।१३,१४॥ सात स्वरों के सांकर्य से ४९ प्रकार बनते हैं। नारदीय शिक्षा २।४ में इनकी गणना इस प्रकार की है—सात स्वर, तीन ग्राम (तै० प्रा०—तीन स्थान, भाषिक० ३।१८—योनि), २१ मूर्च्छना और ४९ तान। यह स्वर-मण्डल कहलाता है।

पड़ सकता है। सम्भव है उदात्तादि सात स्वर ही सामगान में षड्जादि अथवा क्रुष्टादि नाम से व्यवहृत होते हों।

पांच स्वर—नारद शिक्षा १।७।१९ में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित (प्रचय) और निघात नामक स्वरों का वर्णन मिलता है। यथा—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा।
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चमः॥

इन में उल्लिखित प्रचित अथवा प्रचय एकश्रुति का ही दूसरा नाम है।

प्रचय, प्रचित, प्रच, निचित, उदात्तमय = एकश्रुति—प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा का लेखक बालकृष्ण गोडशे प्रचय, प्रचित, प्रच, निचित और उदात्तमय शब्दों का एकश्रुति का पर्याय मानता है। वह लिखता है—

स्वरितात्परमनुदात्तमेकमनेकं वाक्षरमुदात्तवत्। एकश्रुत्या उच्चारणीयं स्यात्। अयमेव प्रचयः प्रचितः प्रचो निचित उदात्तमय इति वैदिकैर्व्यवह्रियते। शिक्षा संग्रह, पृष्ठ २१६॥

तै० प्रा० २३।१९ की वैदिकाभरण व्याख्या में भी लिखा है—

उभयकरणरहितः प्रचयः, उभयकरणसमावेशजन्यः स्वरित इति।

अर्थात्—जो उदात्त अनुदात्त के करणों से रहित हो वह प्रचय और उदात्त अनुदात्त के उभयविधकरणों के समावेश से उत्पन्न स्वरित कहाता है।

सायण भी लिखता है—

ऐकश्रुत्यं प्रचयनामकं भवति। ऋग्भाष्य १।१।१॥

प्रचय शब्द का यौगिकार्थ (धात्वर्थ) में प्रयोग—प्रचय शब्द स्वरशास्त्र में स्वरविशेष का वाचक है तथापि इसका मूलभूत यौगिक (धात्वर्थ) में भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—

प्रचये समासस्वरप्रतिषेधः। महाभाष्य २।१।१, निर्णय० पृष्ठ ३३५। इस पर कैयट लिखता है—

प्रचय इति—अनेकस्मिन् संबन्धिनि विवक्षित इत्यर्थः।

नागेश—**अनेकस्मिन्निति—प्रचय आधिक्यमिति भावः।**

उक्त श्लोक में निघात शब्द साधारणतया अनुदात्त अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु नारद शिक्षा में निघात शब्द उस अनुदात्त विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो उदात्त अथवा स्वरित परे रहने पर एकश्रुति न होकर अनुदात्त ही बना रहता है, अथवा अष्टाध्यायी १।२।४० के अनुसार अनुदात्ततर कहा जाता है।

चार स्वर—कई आचार्य उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय चार स्वर मानते हैं। प्रचय का अर्थ एकश्रुति है। तैत्तिरीय संहिता में ये चार स्वर प्रयुक्त होते हैं।[१] भाषिक सूत्र ३।२६ के अनुसार तैत्तिरीय चरण की औखेय तथा खाण्डिकेय शाखा में कही कहीं चातुःस्वर्य था। ये शाखाएं सम्प्रति अप्राप्य हैं।

तीन स्वर—कई संहिताओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन स्वरों का ही उच्चारण होता है। यथा–शाकल, माध्यन्दिन, काण्व, कौथुम तथा शौनक संहिताएँ।[२]नारदीय शिक्षा १।११ तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३।१६ के अनुसार आह्वरक शाखा में भी तीन ही स्वर थे। भाषिक परिशिष्ट ३।२५ में चरक ब्राह्मण में मन्त्रवत् स्वर कहा है।[३] इस सूत्र की उत्थानिका में अनन्तदेव **तैत्तिरीयब्राह्मणस्वरमाह** लिखता है। तैत्तिरीय संहिता में चार स्वरों का उच्चारण होता है, यह हम पूर्व लिख चुके। अनन्तदेव प्रतिज्ञा परिशिष्ट १।८ की टीका में चरक ब्राह्मण में तीन स्वर मानता है।[४] चरक ब्राह्मण चिरकाल से लुप्त है।[५] अतः इस विरोध का निर्णय करना अशक्य है। हमारा विचार है—अनन्तदेव ने भाषिक सूत्र ३।२५ की उत्थानिका में **तैत्तिरीय ब्राह्मणस्वरमाह** लिखा है, यह ठीक नहीं है। सूत्रानुसार वहाँ **चरकब्राह्मणस्वरमाह** लिखना चाहिए।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर ही मुख्य हैं। इन्हीं का अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। इनकी विवेचना आगे की जायगी।

दो स्वर—वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२९ में दो स्वरों का उल्लेख है। इसके व्याख्याकार उव्वट के मतानुसार ये दो स्वर उदात्त और अनुदात्त हैं। शतपथ ब्राह्मण में ये दो स्वर ही प्रयुक्त हैं। प्रतिज्ञा परिशिष्ट में इन्हें भाषिक

---

१. नारदीय शिक्षा १।११॥ तै० प्राति० २३।१८-२० वैदिकाभरण व्याख्या।

२. यद्यपि इनमें एकश्रुति स्वर भी होता है तथापि उच्चारण तथा हस्तादि चालन की दृष्टि से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तीन ही स्वर माने जाते हैं।

३. मन्त्रस्वरवद् ब्राह्मणस्वरश्चरकाणाम्।

४. चरकाणां ब्राह्मणे तु मन्त्रवत् त्रैस्वर्यमेव।

५. विक्रम की १२ वीं शती या उससे पूर्ववर्ती वेङ्कट माधव लिखता है—
न भाल्लवकमस्माभिस्तथा मैत्रायणीयकम्।
ब्राह्मणं चरकाणां च श्रुतं मन्त्रोपबृंहणम्॥ मन्त्रार्थानु० ८।१

स्वर भी कहते हैं।[1] नारद शिक्षा का व्याख्याकार शोभाकर मिश्र इन्हें गाथा-स्वर भी कहता है।[2] भाषिक सूत्र ३।१५ तथा नारदीय शिक्षा १।१३ के अनुसार ताण्ड्य और भाल्लवी ब्राह्मणों में भी शतपथवत् दो ही स्वर थे।[3]

ताण्ड्य ब्राह्मण में सम्प्रति स्वर उपलब्ध नहीं होते। भाल्लवियों का ब्राह्मण चिरकाल से उत्सन्न है।

एक स्वर—कतिपय वैदिक ग्रन्थों में एक ही स्वर होता है। यह एक स्वर दो प्रकार का है—**तान स्वर** तथा **प्रावचन स्वर**।

तानोऽन्येषां ब्राह्मणस्वरः ॥ ३।२७ ॥

तान एवाङ्गोपाङ्गानाम् ॥ ३।२८ ॥

अर्थात्—अन्य ब्राह्मणों में तथा अङ्गों और उपाङ्गों में एक तान स्वर ही होता है।

अनन्तदेव के अनुसार आश्वलायन[4] तथा बाष्कल[5] ब्राह्मण में तान स्वर ही था।

वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१३१ में साम, जप और न्यूङ्ख के अतिरिक्त मन्त्रों में भी एक स्वर कहा है। व्याख्याकारों के मतानुसार यह तान स्वार है। तान स्वर यज्ञ में ही होता है।

तान स्वर का अर्थ—कात्यायन प्रातिशाख्य १।१३१ तथा कात्यायन श्रौत १।८।१८,१९ की परस्पर तुलना करने से विदित होता है कि तान स्वर

---

१. ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरौ। प्रतिज्ञा परि० १।८॥ तुलना करो—भाषिक सूत्र १।४॥

यद्यपि शतपथ में जात्यादि विशिष्ट स्वरितों का भी निर्देश है, तथापि उनके अतिस्वल्प होने से भूयसा निर्देश न्याय से शतपथ में दो ही स्वर माने जाते हैं।

२. छन्दोगानां वाजसनेयिनां च ब्राह्मणे गाथास्वरौ प्रथमद्वितीयौ भवतः……। १।१।१२ की उत्थानिका (पृष्ठ २९७)।

३. शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः। भा० सू०। द्वितीयप्रथमावेतौ ताण्डिभाल्लविनां स्वरौ। तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम्। नारदीय शिक्षा १।१।१३॥

४. भाषिकसूत्र १।२७ टीका।

५. प्रतिज्ञा परिशिष्ट १।८ टीका।

का अर्थ एकश्रुति स्वर है।[1] अनन्तदेव ने भाषिक सूत्र ३।२७ की व्याख्या में तान का अर्थ एकश्रुति ही लिखा है। एकश्रुति की व्याख्या हम आगे करेंगे।

प्रावचन स्वर—कात्यायन ने वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१३२ में यजुओं में प्रावचन स्वर का विकल्प से विधान किया है—

प्रावचनो वा यजुषि।

यह प्रावचन स्वर तान स्वर से निश्चय ही भिन्न है, यह सूत्र में पठित **वा** शब्द से स्पष्ट है। उव्वट उक्त सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

प्रवचनशब्देन आर्षपाठ उच्यते। तत्र भवः स्वरः प्रावचनः······ ······स च त्रैस्वर्यलक्षण एव भवति।

अर्थात्—प्रवचन शब्द से आर्ष पाठ कहा जाता है। आर्ष पाठ में होने वाला स्वर प्रावचन स्वर कहाता है। यह प्रावचन स्वर त्रैस्वर्य रूप ही है।

प्रावचन स्वर का अन्यत्र उल्लेख—प्रावचन स्वर का निम्न स्थानों में भी उल्लेख मिलता है—

क—साम प्रातिशाख्य नाम से प्रसिद्ध पुष्प सूत्र वा फुल्ल सूत्र में लिखा है—

यथादेशं च कालबविनामपि प्रवचनविहितः स्वरः स्वाध्याये तथा शाट्यायनिनामपि। ८।८॥ पृष्ठ १८६।

इसकी व्याख्या में टीकाकार उपाध्याय अजातशत्रु लिखता है—

प्रवचन शब्देन ब्राह्मणमुच्यते। प्रोच्यत इति प्रवचनम्। स्वाध्याय-शब्दः पूर्ववत्।

इससे विदित होता है कि प्रवचन शब्द का विशिष्ट अर्थ **ब्राह्मण** है।

ख—नारद शिक्षा १।१।८ में भी प्रावचन स्वर का उल्लेख **'प्रावचनो विधिः'** शब्दों में मिलता है। भट्ट शोभाकर ने इसका अर्थ **प्रवचने अध्ययने भवो विधिः** ऐसा सामान्य किया है।

---

१. एकम्, सामजपन्यूङ्खवर्जम्—कात्या० प्राति०। तानो वा नित्यत्वात्, एकश्रुति दूरात् संबुद्धौ, यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यसामजपन्यूंखयाजमानवर्जम् (कात्या० श्रौत)। पाणिनि ने १।२।३४ में यज्ञकर्म में एकश्रुति का विधान किया है। काशिकाकार ने अष्टा० १।२।३६ की व्याख्या में यज्ञकर्म से अतिरिक्त भी विकल्प से एकश्रुति का विधान माना है। अन्य व्याख्याकार इसे व्यवस्थित विभाषा मानकर मन्त्र में त्रैस्वर्य तथा ब्राह्मण में एकश्रुति का विधान करते हैं। देखो इसी सूत्र की काशिका तथा शब्दकौस्तुभ आदि व्याख्याग्रन्थ।

वाजसनेय प्रातिशाख्य के सूत्र का अभिप्राय—वाजसनेय प्रातिशाख्य के पूर्व उद्धृत **प्रावचनो वा यजुषि** सूत्र का अर्थ पुष्प सूत्र की पूर्व निर्दिष्ट व्याख्या के प्रकाश में इस प्रकार समझना चाहिए—

वाजसनेय याजुष मन्त्रों के दो प्रकार के स्वर हैं—एक संहितागत और दूसरा ब्राह्मणगत। संहितागत मन्त्रों का तीन स्वरों से पाठ होता है यह सूत्र १।१२८ में कहा है। ब्राह्मण भाग का दो स्वरों से पाठ होता है यह सूत्र १।१२९ में लिखा है। परन्तु सन्देह होता है कि ब्राह्मण भाग में जो याजुष मन्त्र ब्राह्मण स्वर (दो स्वरों) में पढ़े गए हैं उनका त्रैस्वर्य से पाठ हो अथवा द्वैस्वर्य से। इसकी व्यवस्था के लिये **प्रावचनो वा यजुषि** (१।१३२) सूत्र है। इसका अभिप्राय यह है कि याजुष मन्त्रों का पाठ दो प्रकार से होता है—संहिता पाठवत् अथवा ब्राह्मण पाठवत्। उव्वट की इस सूत्र की व्याख्या हमारी समझ में नहीं आई। अनन्त की व्याख्या अतिसंक्षिप्त है। उससे भी कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता।

त्रैस्वर्य की प्रधानता—इन अनेकविध स्वरों में त्रैस्वर्य ही प्रधान है। इन्हीं का साक्षात् पदार्थ के साथ संबन्ध है। अर्थ की दृष्टि से इन तीन स्वरों में भी उदात्त स्वर ही सर्वप्रधान है।

उदात्त आदि स्वर किन वर्णों के धर्म हैं

वर्ण दो प्रकार के हैं, स्वर तथा व्यञ्जन। पाणिनीय परिभाषा में इन्हें अच् और हल् कहते हैं। स्वरशास्त्र के अनुसार उदात्त आदि समस्त स्वर, स्वर अर्थात् अच् संज्ञक वर्णों के ही धर्म हैं, व्यञ्जनों के नहीं। क्योंकि स्वर=अच् ही ऐसे वर्ण हैं जिनका विना अन्य वर्ण की सहायता के उच्चारण होता है।[1] अतः उदात्त आदि स्वर (=उच्चारण धर्म) स्वरों (=अचों) के ही हो सकते हैं, व्यञ्जनों के नहीं।

उदात्त आदि स्वरों के लक्षण और उच्चारण-विधि

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के लक्षण तथा इन के उच्चारण की विधि का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। हम उन में से कतिपय लक्षण और उच्चारण विधियों का निर्देश करते हैं।

---

१. स्वयं राजन्त इति स्वराः। महाभाष्य १।२।३०॥

उदात्त आदि स्वरों के लक्षण—उदात्त आदि स्वरों के कतिपय लक्षण इस प्रकार हैं—

उदात्त—उच्चैरुदात्तः। अष्टा० १।२।२९॥ वाज० प्राति० १।१०८॥ तैत्ति० प्राति० १।३८॥

अनुदात्त—नीचैरनुदात्तः। अष्टा० १।२।३०॥ वाज० प्राति० १।१०९॥ तैत्ति० प्राति० १।३९॥

स्वरित—समाहारः स्वरितः। अष्टा० १।२।३१॥ तैत्ति० प्राति० १।४०॥ **उभयवान् स्वरितः**। वाज० प्राति० १।११०॥

इन सूत्रों का अभिप्राय नीचे लिखी उच्चारण-विधि से स्पष्ट होगा। इसलिए यहाँ इन का अर्थ नहीं लिखा।

उदात्त आदि स्वरों की उच्चारण-विधि—उदात्त आदि स्वर वर्ण-धर्म हैं। इनका उच्चारण से भेद स्पष्ट होना चाहिए। परन्तु स्वरों का सूक्ष्म उच्चारण प्रकार चिरकाल से लुप्तप्राय है। महाराष्ट्रीय कुलपरम्परागत ऋग्वेदीय वृद्ध ब्राह्मणों में कतिपय श्रोत्रिय उदात्त आदि स्वरों के सूक्ष्म उच्चारण करने में समर्थ हों, यह अभी सम्भव है। परन्तु अधिकतर श्रोत्रिय हस्त आदि अङ्ग चालन के द्वारा ही उदात्त आदि स्वरों का द्योतन कराते हैं, उनके मुख से सूक्ष्म उच्चारण में वे प्रायः असमर्थ हैं। अतः हम इन स्वरों की प्राचीन शास्त्रों में उल्लिखित विधियों का नीचे निर्देश करते हैं।

१—कतिपय वैयाकरण पूर्वनिर्दिष्ट पाणिनीय सूत्रों का यह अभिप्राय समझते हैं कि उदात्त का उच्च ध्वनि से, अनुदात्त का नीच (निम्न) ध्वनि से और स्वरित का मध्यम ध्वनि से उच्चारण करना चाहिए।[1]

२—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है कि अकारादि वर्णों के उच्चारण के जो कण्ठ आदि स्थान हैं, उन स्थानों के उच्च, नीच और मध्य तीन विभाग करके उच्चभाग से उदात्त का, निम्न भाग से अनुदात्त का और मध्य भाग से स्वरित का उच्चारण करना चाहिए।[2]

---

१. यह अर्थ महाभाष्य १।२।२९,३० के "उच्चनीचस्यानवस्थितत्वात् संज्ञाप्रसिद्धिः" वार्तिक के व्याख्यान से ध्वनित होता है।

२. समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति। महाभाष्य १।२।२९,३०॥ तैत्ति० प्राति० १।३८-४० सूत्रों की व्याख्या गार्ग्य गोपाल यज्वा ने इसी पक्ष के अनुसार की है।

३—वाजसनेय प्रातिशाख्य के व्याख्याता उव्वट और अनन्त भट्ट का कथन है कि गात्रों (अङ्गों) के ऊर्ध्वगमन (चुस्ती) से जो स्वर उत्पन्न होता है, वह उदात्त कहाता है। इसी प्रकार गात्रों के अधोगमन (ढीलेपन) से अनुदात्त और दोनों प्रयत्नों के संमिश्रण से स्वरित स्वर का उच्चारण होता है।[1]

४—ऋक्प्रातिशाख्य ३।१ में आयाम, विश्रम्भ और आक्षेप से क्रमशः उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के उच्चारण का विधान किया है।[2] इस सूत्र की व्याख्या में उव्वट लिखता है—आयाम अर्थात् वायु के कारण शरीरावयवों का जो ऊर्ध्वगमन होता है, उससे जो ध्वनि उच्चरित होती है, वह उदात्त कहाती है। इसी प्रकार विश्रम्भ अर्थात् वायु के कारण गात्रों के अधोगमन से अनुदात्त और आक्षेप अर्थात् वायु के कारण गात्रों के तिर्यग् गमन से स्वरित का उच्चारण होता है।[3]

५—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में उदात्त आदि स्वरों के उच्चारण की विधि इस प्रकार दर्शाई है—

गात्रों का निग्रह, स्वर की रूक्षता और कण्ठ का संकोच, इन प्रयत्नों से उदात्त स्वर का उच्चारण होता है।[4]

गात्रों का ढीलापन, स्वर की मृदुता और कण्ठ का विकास, इन प्रयत्नों से अनुदात्त स्वर का उच्चारण होता है।[5]

६—आपिशल शिक्षा में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की उच्चारण विधि इस प्रकार लिखी है—

---

१. द्र० वाज० प्राति० १।१०८-११० की व्याख्याएँ।

२. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः । आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते ॥

३. आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्, तेन य उच्यते स उदात्तः। विश्रम्भो नाम अधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।

४. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। २२।९ ॥ महाभाष्य १।२।२९,३० में इसकी व्याख्या देखो।

५. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। २२।१० ॥ महाभाष्य १।२।२९,३० में इनकी व्याख्या देखो।

जब शरीर के सभी अङ्गों का प्रयत्न तीव्र होता है, तब शरीर के अङ्गों का निग्रह, कण्ठ के छिद्र का संकोच और वायु के तीव्र होने से जो ध्वनि का रूखापन होता है, उसे उदात्त कहते हैं।[१]

जब [शरीर के अङ्गों का] प्रयत्न मन्द होता है, तब गात्रों का ढीलापन कण्ठ के छिद्र का विकास और वायु की मन्दगति से ध्वनि की स्निग्धता (मृदुता) होती है, उसे अनुदात्त कहते हैं।[२]

उदात्त और अनुदात्त स्वरों के सन्निपात (मेल) से स्वरित होता है।[३]

७—पाणिनीय शिक्षा में भी आपिशल शिक्षा के सदृश ही उदात्तादि स्वरोच्चारण विधि लिखी है।[४]

सरल उच्चारण-विधि—इन ६ विधियों में अन्त की तीन विधियाँ (तै० प्रा०, आपि० शिक्षा, पा० शिक्षा) अपेक्षाकृत कुछ सरल हैं (संख्या ३ और ४ की विधि भी इन से पर्याप्त समानता रखती हैं)[५] पुनरपि उदात्त आदि स्वरों का उच्चारण गुरु के उपदेश और सतत अभ्यास से ही सम्भव है। इनके यथार्थ उच्चारण के ज्ञान में महाराष्ट्र के कुल-परम्परा से अभ्यास-वृद्ध ऋग्वेदीय ब्राह्मणों के उच्चारण से कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है।

स्वरित के भेद—स्वर-शास्त्रों में स्वरित के अनेक भेद दर्शाए हैं। उनका वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

स्वरित और एकश्रुति की विवेचना

स्वरित की विवेचना—स्वरित में उदात्त और अनुदात्त के धर्मों का समा-

---

१. यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्रस्य निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाणुत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति, तमुदात्तमाचक्षते। ८।२० ॥

२. यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्रस्य स्रंसनं, कण्ठबिलस्य महत्त्वं, स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति, तमनुदात्तं प्रचक्षते। ८।२१ ॥

३. उदात्तानुदात्तस्वरसन्निपातात् (सन्निकर्षात्-पाठा०) स्वरितः। ८।२२॥

४. प्रा० शि० ८।२१,२२,२३ ॥ आपिशल सूत्रों से पाणिनीय सूत्रों का स्वल्प ही भेद है। अतः हमने उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं किया।

५. महाभाष्यकार ने तैत्तिरीय प्रतिशाख्य के पूर्व निर्दिष्ट उदात्तादिस्वरोच्चारण प्रकार का निर्देश करके उन्हें भी अनैकान्तिक कहा है। द्र० १।२।२९॥

हार होता है, 'यह पूर्व कहा जा चुका है। यह समाहार दुग्ध-जल के समाहार के सदृश होता है, अथवा काष्ठ-जतु (लाख) के समाहार (संयोग) के समान। इस विषय में स्वरशास्त्र के तत्त्वज्ञों का मत है कि स्वरित में उदात्त और अनुदात्त के धर्मों का समाहार दुग्ध-जल के समाहार के समान अविभाज्य नहीं होता। आचार्य पाणिनि ने लिखा है—

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् ।१।२।३२ ॥[1]

अर्थात्—स्वरित के आदि की अर्धह्रस्व मात्रा (आधी मात्रा) उदात्त होती है, और शेष अनुदात्त।

इस सूत्र के अनुसार ह्रस्व स्वरित की पूर्व आधी मात्रा उदात्त और उत्तर आधी मात्रा अनुदात्त होती है। इसी प्रकार दीर्घ की पूर्व आधी मात्रा उदात्त और शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त तथा प्लुत की पूर्व आधी मात्रा उदात्त और शेष ढाई मात्रा (पक्षान्तर में साढ़े तीन मात्रा)[2] अनुदात्त होती है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वरित की व्यवस्था इस प्रकार लिखी है—

तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य ।१।४१॥

उदात्तसमः शेषः ।१।४२॥

अनन्तरो वा नीचैस्तराम् ।१।४४॥

अर्थात्—उदात्त से परे जो स्वरित है उसकी (आदि की) आधी मात्रा उदात्ततर[3] होती है। शेष मात्रा उदात्तसम, अथवा शेष मात्रा अनुदात्ततर होती है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वरित के उदात्तादि विभाग विषय में निम्न सूत्र भी द्रष्टव्य हैं—

अनुदात्तसमो वा ।१।४५॥

आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः ।१।४६॥

---

१. प्रातिशाख्यों के वचन आगे लिखे जाएंगे।

२. प्लुत में चार मात्रा भी होती हैं। महाभाष्य ८।२।१०६ में लिखा है—'इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः'

३. तुलना करो—स्वरिते य उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः।

महाभाष्य १।२।३३॥

अर्थात्—स्वरित का शेष (उत्तर भाग) अनुदात्तसम वा होता है। स्वरित का ह्रस्वार्ध काल उदात्तसम होता है, शेष अनुदात्तसम ऐसा आचार्य कहते हैं।

इन सब मतों का भाव इस प्रकार है—

आदि—उच्चैस्तर।

शेष—(१) उदात्तसम, (२) नीचैस्तर, (३) अनुदात्तसम (ये तीन मत हैं)।

ये मत शाखान्तर विषयक हैं। तै० सं० में आदि उदात्तसम और शेष अनुदात्तसम होता है यही व्याख्याकारों का मत है।

प्रथम सूत्र में 'उदात्तादनन्तरे' ग्रहण से विदित होता है कि इन सूत्रों में उसी स्वरित के विषय में उदात्तादि विभाग दर्शाया है, जो उदात्त से परे अनुदात्त स्वरित भाव को प्राप्त होता है। अतः जात्य आदि स्वरितों में यह व्यवस्था नहीं होती यह मानना चाहिए।

द्वितीय सूत्र की व्याख्या में सोमार्य लिखता है—

समशब्दप्रयोगात् किञ्चिन्न्यूनत्वं प्रतीयते, अन्यथा स्वरिताभावात्।

अर्थात्—सूत्र में 'सम' ग्रहण से उदात्त से कुछ न्यूनत्व (पूर्ण उदात्तत्व का अभाव) समझना चाहिए, अन्यथा स्वरितत्व ही उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि स्वरितत्व के लिए उदात्त और अनुदात्त का योग होना आवश्यक है।

वाजसनेय प्रातिशाख्य में लिखा है—

तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम्।१।१ २६॥

उव्वट और अनन्तभट्ट ने इस सूत्र की व्याख्या में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत सभी स्वरितों के आरम्भ की अर्धमात्रा उदात्त मानी है, शेष यथाक्रम आधी, डेढ़ और ढाई अनुदात्त। परन्तु सूत्र की पदावली से विदित होता है कि यहाँ ह्रस्व दीर्घ प्लुत स्वरों की जितनी जितनी मात्रा होती है उस उसके आधे भाग का उदात्तत्व और आधे भाग का अनुदात्तत्व इष्ट है। तदनुसार ह्रस्व में आधी मात्रा उदात्त, आधी अनुदात्त; दीर्घ में एक मात्रा उदात्त, एक मात्रा अनुदात्त तथा प्लुत में डेढ़ मात्रा उदात्त और डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के आगे उद्ध्रियमाण वचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह मत भी किन्हीं आचार्यों को इष्ट था।

ऋक्प्रातिशाख्य में स्वरित की व्यवस्था इस प्रकार कही है—

तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा । ३।४॥
अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः । ३।५॥

अर्थात्—उदात्त से परे स्वरित की अर्धमात्रा उदात्ततर होती है, अथवा स्वरित का आधा भाग उदात्ततर होता है।[1] शेष पर का अनुदात्त भाग उदात्तश्रुति वाला होता है।[2]

प्रथम सूत्र की उव्वट की व्याख्या अस्पष्ट है। हमने उपर्युक्त अर्थ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के पूर्व उद्धृत **तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य** (१।४१) सूत्र के आधार पर किया है।[3]

ऋग्वेद में जात्यादि स्वरितों के कम्प के निदर्शनार्थ ह्रस्व से परे १ तथा दीर्घ से परे ३ के संकेत की व्यवस्था से विदित होता है कि शाकल संहिता में प्रथम अर्ध मात्रा ही उदात्ततर होती है। अर्धभाग पक्ष शाखान्तर के लिए लिखा गया है।[4]

उव्वट की भूल—उव्वट ने वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२६ तथा ऋक्प्रातिशाख्य ३।५ की व्याख्या में उदात्त और अनुदात्त के मेल से उत्पन्न होनेवाले स्वरित के लिए निम्न दृष्टान्त दिया है—

यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे धात्वन्तरस्य कांसस्योत्पत्तिः।

अर्थात्—जिस प्रकार त्रपु (सीसा) और ताम्र के संयोग से कांसा नाम की नवीन धातु उत्पन्न होती है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के संयोग से स्वरित नामवाला नया स्वर निष्पन्न होता है।

उव्वट का उक्त दृष्टान्त अशुद्ध है, क्योंकि कांसे में त्रपु और ताम्र का संयोग उसके प्रत्येक अवयव में होता है, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में वे धातुएँ पृथक्

---

१. उव्वट ने द्विमात्रिक स्वरित के लिए यह व्यवस्था मानी है। हमारे विचार में यह पाक्षिक व्यवस्था ह्रस्व दीर्घ प्लुत सभी स्वरितों के लिए होनी चाहिए।

२. तुलना करो—उदात्तसमः शेषः। तै० प्रा० १।४२ के साथ।

३. इस सूत्र की व्याख्या में हमने जो दोष दर्शाया है, वह ऋक्प्रातिशाख्य के विषय में भी उसी प्रकार समझना चाहिए।

४. प्रातिशाख्यों में सभी शाखाओं की दृष्टि से नियमों का निर्देश होता है। द्रष्टव्य—पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरुक्त १।१७॥

पृथक् उपलब्ध नहीं होतीं, परन्तु स्वरित में उदात्त अनुदात्त धर्मों का सर्वावयवों में संयोग नहीं होता, अपितु उसके आदि भाग में उदात्त धर्म रहता है और उत्तर में अनुदात्त धर्म। अतः यह दृष्टान्त विषम होने से त्याज्य है।

अनन्तभट्ट द्वारा अन्धानुकरण—वाजसनेय प्रातिशाख्य के दूसरे व्याख्याता अनन्तभट्ट ने उव्वट का अन्धानुकरण करते हुए उपर्युक्त दृष्टान्त ही लिखा है।

उव्वट का दूसरा विषम दृष्टान्त—उव्वट ने वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२६ में दूसरा दृष्टान्त **'गुडदध्नोरेकीभावे मार्जिकोत्पत्तिः** अर्थात् 'जैसे गुड़ और दही के योग मार्जिका (=रसाला—अमरकोश, संभवतः श्रीखण्ड) नामक वस्त्वन्तर निष्पन्न होती है'—दिया है। यह उदाहरण भी पूर्व उदाहरण के समान ही सदोष है। क्योंकि मार्जिका के प्रत्येक अवयव में गुड़ और दही संयोग विद्यमान है। स्वरित के प्रत्येक अवयव में उदात्त और अनुदात्त धर्मों का योग नहीं होता।

शुद्ध दृष्टान्त—स्वरित में उदात्त और अनुदात्त धर्मों का संयोग किस प्रकार का होता है, इसका ठीक दृष्टान्त शुक्ल और कृष्ण गुण के योग से निष्पन्न 'कल्माष' अथवा 'सारङ्ग' गुण का है।[1] जैसे कल्माष अथवा सारङ्ग गुण में शुक्ल कृष्ण गुणों का संयोग होने पर एक भाग में शुक्ल गुण और दूसरे भाग में कृष्णगुण रहता है, उसी प्रकार स्वरित के एक भाग में उदात्त और अपर भाग में अनुदात्त विद्यमान होता है।

तान, प्रचय अथवा एकश्रुति—हम पूर्व लिख चुके हैं कि तान,[2] प्रचय[3] और एकश्रुति शब्द पर्याय हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा १०९ में एकश्रुति के लिए **एकस्वर**[4] का व्यवहार मिलता है।

---

१. तद्यथा शुक्लगुणः शुक्लः कृष्ण गुणः कृष्णः। य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा सारङ्ग इति वा। एवमिहापि········य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। महाभाष्य १।२।३१

२. तान एकश्रुति। पूर्व पृष्ठ १५—१६।

३. प्रचयः एकश्रुति। पूर्व पृष्ठ १३।

४. स्वरितादुत्तरे ये च प्रचयास्तान् प्रचक्षते।
एकस्वरानपि च तानाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः॥ शिक्षा संग्रह पृष्ठ १८।

एकश्रुति स्वर के उच्चारण के विषय में आचार्यों में मतभेद है। हम यहाँ उनका निर्देश करना आवश्यक समझते हैं। यथा—

१–त्रैस्वर्य का अभेद—पाणिनीय वैयाकरण प्रचय का एकश्रुति शब्द से निर्देश करते हैं। इस एकश्रुति पद की व्याख्या में काशिकाकार लिखता है—

स्वराणामुदात्तादीनामविभागोऽभेदतिरोधानमेकश्रुतिः ।१।२।३३ ॥

अर्थात्—उदात्तादि स्वरों का अविभाग अथवा अभेद अथवा भेद का तिरोहित हो जाना एकश्रुति कहाता है।

२–त्रैस्वर्य का अत्यन्त सन्निकर्ष—आचार्य आश्वलायन का मत है—

उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः सन्निकर्ष ऐकश्रुत्यम् । आ० श्रौत० ।१।२॥

अर्थात्—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की अत्यन्त सन्निकर्षता = सामीप्य एकश्रुति कहाती है।

३–उदात्त अनुदात्त से रहित—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का व्याख्याता गार्ग्य गोपाल यज्वा २३।१९ की व्याख्या में प्रचय स्वर को उदात्त और अनुदात्त धर्मों से रहित मानता है—**उभयकरणरहितः प्रचयः**।

स्वरित में उदात्त और अनुदात्त के धर्मों का सद्भाव होता है—**उभयकरण-समावेशजन्यः स्वरित इति** (तै० प्रा० २३।१९ व्याख्या)। प्रचय में दोनों धर्मों का अभाव रहता है। यही गार्ग्य गोपाल यज्वा के मत में प्रचय और स्वरित में भेद है।

४–उदात्तश्रुति—आचार्य शौनक के मत में प्रचय = एकश्रुति का उच्चारण उदात्त के समान होता है। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है—

स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा ॥ ३।१९ ॥

अर्थात्—स्वरित से परे एक, दो अथवा बहुत (जितने भी संभव हों) अनुदात्तों को प्रचय स्वर होता है और वह उदात्त श्रुति वाला होता है।

नारदीय शिक्षा १।८।२ के अनुसार प्रचय अथवा एक श्रुति उदात्तरूप मानी गई है—

य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात् परः ।
प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञैः ……………… ॥

महाभाष्य १।२।३३ से भी विदित होता है कि कई आचार्य एकश्रुति को उदात्तश्रुति मानते थे।[1]

५—**उदात्तमय**—वाजसनेय प्रातिशाख्य में एक श्रुति को **उदात्तमय** कहा है। उसका सूत्र है—

स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम्[2] ॥ ४।१४१ ॥

'उदात्तमय' शब्द में **मयट्** प्रत्यय **आनन्दमय** के समान 'प्राचुर्य' अर्थ में है, न कि विकारादि अर्थ में। अतः उदात्तमय का अर्थ है—उदात्तधर्म की आधिक्यता, न कि उदात्तरूपत्व। इसीलिए बालकृष्ण गोडशे ने प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा में प्रातिशाख्य के उक्त सूत्र की व्याख्या **अनुदात्तमेकमनेकं वाक्षर-मुदात्तवत्** में सादृश्यार्थक **वत्** का प्रयोग किया है।

६—**अनुदात्तश्रुति**—महाभाष्य १।२।३३ से यह भी विदित होता है कि कई आचार्य एकश्रुति को अनुदात्तश्रुति मानते थे।[3]

इन दोनों अर्थात् एकश्रुति की उदात्तश्रुति और अनुदात्तश्रुति में शुद्ध उदात्त और शुद्ध अनुदात्त श्रुति से कुछ भेद माना गया है। यह भी महाभाष्य १।२।३३ से ही व्यक्त है।[4]

७—**उदात्तानुदात्त का सम्मिश्रण**—याज्ञवल्क्य शिक्षा में प्रचय का स्वरित मानते हुए (२२७) भी उसमें कुछ वैलक्षण्य दर्शाया है। यथा—

---

१. 'उदात्ता (एकश्रुतिः)। कथं ज्ञायते ? यदयमुच्चैस्तरां वा वषट्कार इत्याह।······'उच्चैर्दृष्ट्वा उच्चैस्तरामित्येतद् भवति'।

२. मद्रास विश्वविद्यालय ग्रन्थावली में प्रकाशित प्रातिशाख्य में 'उदात्तमय' के स्थान में 'अनुदात्तमय' पाठ छपा है। परन्तु दोनों टीकाओं में 'उदात्तमय' पाठ ही है। अगले (४।१४२) सूत्र की दोनों व्याख्याओं में 'अनुदात्तमय' और 'अनुदात्त' शब्दों का प्रयोग मिलता है। मद्रास का संस्करण अत्यन्त अशुद्ध है।

३. 'अनुदात्ता च [एकश्रुतिः]। कथं ज्ञायते ? यदयम् उदात्तस्वरित-परस्य सन्नतर इत्याह।···'सन्नं दृष्ट्वा सन्नतर इत्येतद् भवति'।

४. महाभाष्य में शुद्ध उदात्त और शुद्ध अनुदात्त से एक श्रुति को पृथक् गिना है—उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः।

उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते ।
ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोऽद्भुतः ॥ २२८ ॥[1]

अर्थात्—उदात्त और अनुदात्त का योग स्वरित कहाता है और उदात्त अनुदात्त का एकीभाव हो जाना प्रचय कहाता है ।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए कि स्वरित में उदात्त और अनुदात्त का संयोग होता है । उसके आदिभाग में उदात्त और अपर भाग में अनुदात्त रहता है । परन्तु प्रचय में दोनों का दुग्ध-जल के समान अविभाज्य एकीभाव हो जाता है ।

८—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी किन्हीं आचार्यों के मत में एकश्रुति को उदात्त अनुदात्त की मध्यवर्ती ध्वनि माना है । वे लिखते हैं—

सैषा ज्ञापकाभ्यामुदात्तानुदात्तयोर्मध्यमेकश्रुतिरन्तरालं ह्रियते । १।२।३३॥

अर्थात्—पूर्वोक्त दोनों ज्ञापकों से एकश्रुति उदात्त-अनुदात्त की मध्यवर्ती श्रुति सिद्ध होती है ।

इसपर कैयट लिखता है—एकश्रुति में दुग्ध-जल के सम्मिश्रण के समान उदात्त अनुदात्त के भेद का तिरोधान हो जाता है, स्वरित में दोनों स्वरों का विभाग उपलब्ध होता है ।[2]

इस प्रकार स्वरों के भेद और उनके उच्चारण प्रकार पर हमने संक्षेप से लिखा है । अब अगले अध्याय में स्वरित के विविध भेदों का वर्णन करेंगे ।

---

१. शिक्षासंग्रह, काशी, पृष्ठ ३५ ॥

२. क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदतिरोधानमेकश्रुतिरित्यर्थः । स्वरिते तु विभागेन तयोरुपलब्धिः ।

तृतीय अध्याय

स्वरित के विविध भेद

स्वरों के विविध भेद गत अध्याय में दर्शा चुके। उनमें एक स्वर स्वरित भी है। पाणिनीय अष्टाध्यायी को छोड़ कर अन्य प्राचीन स्वर-शास्त्रों में स्वरित के अनेक भेद दर्शाए हैं। वैदिक ग्रन्थों में उनमें से कतिपय विशिष्ट स्वरितों के अङ्कन के लिए विभिन्न चिह्नों की व्यवस्था उपलब्ध होती है। उन विशिष्ट स्वरित-चिह्नों के ज्ञान के लिए स्वरित के विभिन्न भेदों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए हम ऋक्प्रातिशाख्य, शुक्लयजुःप्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार उनमें उल्लिखित स्वरित के समस्त भेदों का दिग्दर्शन नीचे कराते हैं।

ध्यातव्य—जिस स्वरित-भेद के प्रसङ्ग में किसी ग्रन्थ-विशेष का निर्देश न किया जाय, उसे तीनों ग्रन्थों में समान समझें। और जो स्वरित-भेद किसी एक अथवा दो ग्रन्थों में ही उल्लिखित होगा, वहीं हम उस-उस ग्रन्थ के नाम का निर्देश करेंगे। साथ में हम पाणिनीय सूत्रों का भी यथास्थान उल्लेख करते जाएँगे, जिससे पाणिनीय-शास्त्र के जानने वालों को भी स्व-शास्त्रानुसार इन स्वरित-भेदों का यथार्थ ज्ञान हो जाए।

स्वरित के नौ भेद

प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में ९ प्रकार के स्वरितों का उल्लेख मिलता है। उनके नाम, लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

१–सन्निधिज[1]—(एक पद में अथवा[2]) अनेक पदों की संहिता[3] में

---

१. यह नामकरण हमारा है। उदात्त और अनुदात्त की सन्निधि से उत्पन्न होने से इसे सन्निधिज नाम दिया है। इसे सामान्य स्वरित भी कह सकते हैं।

२. कोष्ठान्तर्गत पद पाणिनीय लक्षणानुसार रखे हैं। प्रातिशाख्यानुसार एक-एक पद में उदात्त से परे होनेवाला स्वरित तैरोव्यञ्जन कहाता है। देखो संख्या ६ पर निर्दिष्ट स्वरित।

३. वर्णों का कालव्यवधान के बिना जो अत्यन्त सामीप्य से उच्चारण होता है, उसे संहिता कहते हैं। देखो–'परः सन्निकर्षः संहिता' (अष्टा० १।४।१०९) लक्षण।

उदात्त से परे अनुदात्त की सन्निधि होने पर अनुदात्त को जो स्वरित होता है, उसे **सन्निधिज-स्वरित** अथवा **सामान्य-स्वरित** कहते हैं ।[1] यथा—

एक पद में—पुरोहितम्, यज्ञस्य (ऋ० १।१।१) ।

अनेक पदों में—अग्निम् ईळे=अग्निमीळे (ऋ० १।१।१) ।

पाणिनि ने इस सन्निधिज स्वरित का विधान **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (अष्टा० ८।४।५६) सूत्र से किया है ।

२—**जात्य**—जो स्वरित अपनी जाति=जन्म=स्वभाव से स्वरित होता है, अर्थात् जो अनुदात्त किसी उदात्त वर्ण के संयोग से स्वरितभाव को प्राप्त नहीं होता, उसे **जात्य-स्वरित** कहते हैं ।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२०।३) में इसे **नित्य-स्वरित** कहा है ।[3] यथा—

कन्या, धान्यम्, क्व, स्वः[4] ।

पाणिनीय व्याकरणानुसार 'कन्या' में **कनी** (=**कन**) धातु से यत् तथा 'धान्य' में जौहोत्यादिक धन धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है । उणादि ४।१११ की वृत्तियों के अनुसार कन्या यक् प्रत्ययान्त निपातित है । और धान्य में उणादि ५।४८ के अनुसार यत् प्रत्यय होता है । इन में यत् पक्ष में **तित्स्वरितम्**[5]

---

१. अन्तोदात्त पूर्वपद से उत्तर अनुदात्तादि उत्तरपद के आद्य अक्षर को जो स्वरित होता है (यथा-अग्निमीळे), उसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'प्रातिहित-स्वरित' कहा है । देखो संख्या ९ का स्वरित ।

२. 'जात्या स्वभावेनैव उदात्तसंगतेर्विना [यः स्वरितो] जायते स जात्यः । ऋक्प्राति० ३।८ उव्वट-व्याख्या ।

३. यह स्वरित पदपाठ में भी स्वरित ही बना रहता है । अनेक पदस्थ संहितज स्वरित पदपाठ में अनुदात्त हो जाता है (यथा—अग्निम्, ईळे) । अतः संहितज स्वरित की दृष्टि से 'नित्य स्वरित' कहा है ।

४. अव्युत्पन्नपक्ष में । व्युत्पन्न पक्ष में 'सु+अर्' सन्धि मानने पर संख्या ४ का 'क्षैप्र स्वरित' नाम होगा ।

५. स्वर-प्रकरण में कहीं-कहीं अपवाद सूत्रकी प्रवृत्ति न होकर उत्सर्ग सूत्रकी ही प्रवृत्ति होती है । इस विषय पर हमने वेदवाणी कार्तिक सं० २००९ के वेदाङ्क 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' लेख में विस्तार से लिखा है । तदनुसार कन्या में 'यतोऽनावः' (अष्टा० ६।१।२१३) अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । (दुष्कृताय चरकाचार्यम्—लेख पृथक् पुस्तकरूप में भी छप चुका है । उसका पृष्ठ १६-१८ देखें) ।

(अष्टा० ६।१।१८२) इस उत्सर्ग सूत्र से, यक् पक्ष में निपातन से और ण्यत् में **तित्स्वरितम्** से स्वरित होता है। 'क्व' में **किमोऽत्** (अष्टा० ५।३।१२) से अत् प्रत्यय होता है। यहाँ भी **तित्स्वरितम्** से स्वरित होता है। 'स्वर्' अव्युत्पन्न पक्ष में **न्यङ्स्वरौ स्वरितौ** इस फिट् सूत्र से स्वरित होता है। इस प्रकार इन स्वरितों में उदात्त-संयोग कारण नहीं है।

३–**अभिनिहित**—एकार तथा ओकार से परे जहाँ ह्रस्व अकार का लोप अथवा पूर्वरूप होता है, उस सन्धि को प्रातिशाख्यों में **अभिनिहित सन्धि** कहते हैं। इस सन्धि के कारण उदात्त एकार अथवा उदात्त ओकार (चाहे वह स्वतन्त्र रूप से हो अथवा सन्धि से बना हो) से परे अनुदात्त अकार का लोप अथवा पूर्वरूप होने पर जो स्वरित होता है, उसे अभिनिहित सन्धि के कारण **अभिनिहित-स्वरित** कहते हैं। यथा—

ते + अवन्तु = तेऽवन्तु (माध्य० सं०[1] १९।५७, ५८)।
वेदः + असि = वेदोऽसि (माध्य०[1] २।२१)।

पाणिनीय लक्षणानुसार यहाँ **एङः पदान्तादति** (अ० ६।१।१०८) से पूर्वरूप एकादेश और **स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ** (अ० ८।२।६) से स्वरित होता है।

४–**क्षैप्र**—इ उ ऋ ऌ के स्थान में स्वर=अच् परे रहने पर जो य् व् र् ल् (यण्) आदेश रूप सन्धि होती है, उसे प्रातिशाख्यों में **क्षैप्र सन्धि**[2] कहते हैं। इसी क्षैप्र सन्धि के अनुसार उदात्त इकार उकार के स्थान में य व् आदेश होने पर जिस अगले अनुदात्त स्वर को स्वरित हो जाता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। यथा—

---

१. माध्यन्दिनसंहिता में इसका 'तेऽवन्तु-वेदोऽसि' विशिष्ट चिह्न प्रयुक्त होता है। देखो माध्यन्दिनस्वराङ्कन प्रकार (अध्याय १०)। हमने ऋग्वेदानुसार सामान्य चिह्न का प्रयोग किया है।

२. इ उ ऋ ऌ और य् व् र् ल् के उच्चारण स्थान क्रमशः समान हैं। इ उ ऋ ऌ का उच्चारण काल ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से एक मात्रा दो मात्रा और तीन मात्रा है। य् व् र् ल् का उच्चारण काल अर्धमात्रा है। यतः इस सन्धि में इ उ ऋ ऌ का ही य् व् र् ल् के रूप में क्षिप्र (स्वल्पकाल में) उच्चारण होता है, अतः य् व् आदि क्षैप्र वर्ण कहाते हैं। इसी कारण य् व् आदि की सन्धि क्षैप्र सन्धि कहाती है।

वाजी + अर्वन् = वाज्यर्वन् (माध्य० सं०[1] ११।४४) ।

नु + इन्द्र = न्विन्द्र (ऋ० १।८२।१) ।

पाणिनीय लक्षण के अनुसार यहां उदात्तस्थानीय यण् (य् व् र् ल्) के अनन्तर अनुदात्त स्वर को **उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य** (अ० ८।२।४) से स्वरित होता है ।

५—**प्रश्लिष्ट**—दो स्वरों (अचों) के मिलने से जो सन्धि होती है उसे **प्रश्लिष्ट सन्धि** कहते हैं । प्रश्लिष्ट सन्धि के कारण होने वाला स्वरित **प्रश्लिष्ट-स्वरित** कहाता है । प्रातिशाख्यों के अनुसार प्रश्लिष्ट सन्धि पाँच प्रकार की होती है । यथा—

क—अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, इनका परस्पर सवर्ण दीर्घरूप एकादेश (अकः सवर्णे दीर्घः—अष्टा० ६।१।१००) ।

ख—अ + इ, इनका एकाररूप एकादेश (आद् गुणः—अष्टा० ६।१।८७) ।

ग—अ + उ, इनका ओकाररूप एकादेश (आद् गुणः—अष्टा० ६।१।८७) ।

घ—अ + ए, इनका ऐकाररूप एकादेश (वृद्धिरेचि—अष्टा० ६।१।८८) ।

ङ—अ + ओ, इनका औकाररूप एकादेश (वृद्धिरेचि—अष्टा० (६।१।८८) ।

इन सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में सब वैदिक संहिताओं में एक जैसा स्वर उपलब्ध नहीं होता । इसलिए जिस संहिता में जैसा स्वर देखा जाता है, उसका विधान नीचे करते हैं—

I. शाकल,[2] शुक्लयजुः[3] (माध्य० काण्व) और मैत्रायणी संहिता में—इन संहिताओं में **उदात्त ह्रस्व इकार** को **अनुदात्त ह्रस्व इकार** परे रहने पर जो दीर्घरूप प्रश्लिष्ट सन्धि होती है, वहीं स्वरितत्व देखा जाता है । अतः इनकी दृष्टि से यही स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहाता है । यथा—

स्रुचि + इव = स्रुचीव (ऋ० १०।९१।१५) ।

---

१. माध्य० सं० में इस स्वरित के लिए भी 'वाज्यर्वन्' ऐसा विशिष्ट चिह्न प्रयुक्त होता है । देखो अध्याय १० ।

२. द्रष्टव्य—ऋक्प्राति० ३।१३॥

३. द्रष्टव्य—वाज०प्राति० १।११६॥

अभि + इन्धताम् = अभीन्धताम् (माध्य० सं०[1] ११।६१। काण्व १२।६३)।

अभि + इन्द्धाम्=अभीन्द्धाम् (मै० सं०[2] २।७।६)

तैत्तिरीय संहिता में ऐसे स्थानों में दीर्घरूप सन्धि उदात्त होती है।

यथा—अभीन्धताम् (४।१।६)।

II. तैत्तिरीय संहिता[3] में—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार उदात्त ह्रस्व उकार से परे अनुदात्त ह्रस्व उकार के परे रहने पर जो दीर्घरूप प्रश्लिष्ट सन्धि होती है, वहीं स्वरितत्व देखा जाता है। अतः तै० सं में यही स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहाता है। यथा—

सु + उद्गाता = सूद्गाता (७।१।८)।

शाकलसंहिता और शुक्लयजुःसंहिता में ऐसे स्थानों में दीर्घरूप सन्धि उदात्त होती है।

III. ऋग्वेद की माण्डूकेय संहिता में—ऋग्वेद की सम्प्रति विनष्ट माण्डूकेय शाखा के संबन्ध में ऋक्प्रातिशाख्य ३।१४ में लिखा है कि माण्डूकेय संहिता में सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में एकादेश स्वरित होता है और वह प्रश्लिष्ट स्वरित कहाता है।

विशेष वक्तव्य—उदात्त और अनुदात्त स्वरों की प्रश्लिष्ट सन्धि दो प्रकार की होती है। एक वह, जिसमें पूर्ववर्ण अनुदात्त हो और उत्तरवर्ण उदात्त। ऐसी सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में दोनों स्वरों के स्थान में **उदात्तरूप** एकादेश होता है। यथा—

प्र + अस्यं = प्रास्यं (ऋ० १।१२१।१३)।

आ + अच्या = आच्या (ऋ० १०।१५।६)।

इस स्वर का विधान पाणिनि ने **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (८।२।५) सूत्र से किया है।

---

१. माध्यन्दिन संहिता में 'अभीन्धताम्' विशिष्ट स्वरित चिह्न प्रयुक्त होता है। देखो अध्याय १०।

२. मै० सं० में 'अभीन्द्धाम्' विशिष्ट स्वरित-चिह्न प्रयुक्त होता है। देखो अध्याय १०।

३. द्रष्टव्य—तैत्ति० प्राति० २०।५॥

दूसरी प्रश्लिष्ट सन्धि वह है, जिसमें पूर्ववर्ण उदात्त हो, और उत्तरवर्ण अनुदात्त। इन दोनों स्वरों के स्थान पर जो एकादेश होता है, वह शाखा-भेद से कहीं उदात्त और कहीं स्वरित देखा जाता है। इसकी व्यवस्था शाकल, माध्य० काण्व, मैत्रायणी, तैत्तिरीय और माण्डूकेय शाखाओं के विषय में हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

यद्यपि पाणिनि ने इस उदात्तत्व और स्वरितत्व का विधान **स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ** (अष्टा० ८।२।६) सूत्र द्वारा सामान्यरूप से किया है, तथापि वैदिक ग्रंथों में यह एकादेश-स्वर शाखा-भेद से व्यवस्थित है। इसलिए माध्यन्दिन और काण्व आदि संहिताओं में **अभि + इन्धताम् = अभीन्धताम्** आदि ई-रूप प्रश्लिष्ट सन्धि स्वरित होती है, तो तैत्तिरीय संहिता में (**अभीन्धताम्**) उदात्त देखी जाती है। इसी प्रकार जहाँ तैत्तिरीय संहिता में **सु + उद्गाता = सूद्गाता** आदि में ऊ-रूप प्रश्लिष्ट सन्धि स्वरित दिखाई पड़ती है, वहां माध्यन्दिन काण्व आदि संहिताओं में ऊ-रूप प्रश्लिष्ट सन्धि उदात्त मिलती है।

यह प्रश्लिष्ट स्वरित की शाखा-भेद से व्यवस्था तीन चार संहिताओं से उदाहरणरूप में दर्शाई है। इसी प्रकार अन्य संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में यथाप्रयोग जान लेनी चाहिए।

६—तैरोव्यञ्जन—एक पद में (अथवा अनेक पदों में) उदात्तस्वर से परे व्यञ्जन से व्यवहित जो स्वरित देखा जाता है, उसे **तैरोव्यञ्जन-स्वरित** कहते हैं। यथा—

इडे, रन्ते, हव्ये, काम्ये, (माध्य० पदपाठ ८।४३)।
देवो वः (माध्य० सं० १।१)।

पाणिनि के लक्षणानुसार यहाँ **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (८।४।६५) से स्वरित होता है। यह संहितज स्वरित का ही भेद है।

तैरोव्यञ्जन नाम का कारण—पाणिनि तथा अन्य सभी स्वराचार्यों ने उदात्त से अव्यवहित अनुदात्त को स्वरितत्व का विधान किया है (अष्टा० ८।४।६५ + १।१।६७), परन्तु **इडे** पद में उदात्त इकार से अव्यवहित परे अनुदात्त एकार नहीं है। मध्य में 'ड्' व्यञ्जन का व्यवधान है। इसी प्रकार **रन्ते** में, 'न् त्' **हव्ये** में 'व् य्' और **काम्ये** में 'म् य' दो दो व्यञ्जनों का व्यवधान है। इसलिए उक्त स्वरितत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः वैयाकरणों ने इस दोष की निवृत्ति के लिए एक परिभाषा स्वीकार की है—**स्वरविधौ व्यञ्जन-**

मविद्यमानवद् भवति[१] अर्थात् स्वरविधि में व्यञ्जन को अविद्यमानवत् समझा जाता है, उसका व्यवधान व्यवधान नहीं माना जाता। इसलिए ऐसे स्वरितों में व्यञ्जन को तिरोहित समझने के कारण प्रातिशाख्यों में इसका नाम **तैरोव्यञ्जन स्वरित**[२] रखा है। वैदिकाभरण व्याख्याकार ने तैरोव्यञ्जन का अर्थ 'व्यञ्जनव्यवहित' किया है।

७–**वैवृत्त** अथवा **पादवृत्त**—संहिता में जहाँ पदान्त और पदादि दो स्वरों (अचों) में सन्धि नहीं होती उसे विवृत्ति कहते हैं।[३] ऐसे स्थानों में पदान्त उदात्त स्वर से परे जहाँ पदादि अनुदात्त को स्वरित होता है, उसे विवृत्ति (=सन्ध्यभाव) में होने से **वैवृत्त स्वरित** कहते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य २।२६ में पदान्त पदादि के सन्ध्यभाव की **पदवृत्ति** संज्ञा की है। इसलिए पदवृत्ति नामक सन्ध्यभाव में होने वाला स्वरित **पादवृत्त** कहा जाता है। वैवृत्त अथवा पादवृत्त स्वरित के उदाहरण—

मध्ये॑ सत्यानृ॒ते अ॑व॒ पश्य॑न् (ऋ० ७।४९।३)।

ध्रु॒वा अ॑सदन्नृ॒तस्य॑ (माध्य० सं० २।६)।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के माहिषेय (२०।७) तथा त्रिरत्न भाष्य (२०।६) में स्वतन्त्र दो पदों में पदान्त उदात्त से परे पदादि अनुदात्त के स्थान पर होने वाले स्वरित को ही **पादवृत्त** माना है। यथा—**ता अस्मा॑त् सृ॒ष्टाः** (तै० सं० २।१।२) **पदविवृत्त्यां पादवृत्तः** (२०।६ वा ७)[४] सूत्र में पद ग्रहण

---

१. सीरदेव परिभाषावृत्ति ५६, परिभाषेन्दुशेखर ८०।

२. माहिषेय तथा त्रिरत्नभाष्य में तैरोव्यञ्जन (तै० प्रा० २०।७ वा ८) स्वरित के उदाहरणों में प्रउगम् (तै० सं० ४।४।२) उदाहरण भी दिया है। सम्भव है इन्होंने तैरो व्यञ्जन का अर्थ 'स्वरों=अचों के मध्य व्यञ्जन के व्यवधान का तिरोभाव होना, समझा हो।
इसमें किसी व्यञ्जन का व्यवधान नहीं है। अतः यह चिन्त्य है। वैदिकाभरण व्याख्या में 'व्यञ्जनव्यवहितः किम्—'प्रउगम्' युक्त व्याख्या की है।

३. तै० प्रा० के त्रिरत्नभाष्य में 'विवृत्ति' पद का अर्थ 'व्यक्ति' (अभिव्यक्ति) किया है (२०।६)।

४. तै० प्रा० के इस अध्याय में माहिषेय भाष्य में एक सूत्र अधिक है। अतः इस अध्याय के सूत्रों के उद्धरणों में परस्पर एक संख्या का अन्तर हो जाता है।

का प्रत्युदाहरण **प्रउंगमुक्थम्** (तै० सं० ४।४।२) दिया है। अर्थात् माहिषेय और त्रिरत्नभाष्य के मत में जहाँ दो भिन्न पदों में सन्ध्यभाव हो, वहाँ उदात्त से परे होने वाले स्वरित की पादवृत्त संज्ञा होती है। **प्रउग** एक पद है।[1] अतः इस एक पद में सन्ध्यभाव होने पर भी उदात्त से परे विद्यमान स्वरित की पादवृत्त संज्ञा नहीं होती।[2]

वैदिकाभरण संज्ञक (तै० प्रा०) भाष्य में एक पद में ही जहां सन्ध्यभाव हो, वहीं पर उदात्त से परे विद्यमान स्वरित की **पादवृत्ति** संज्ञा कही है। यथा **प्रउंग। ता अस्मात्** यहां दो पद होने से पादवृत्त संज्ञा नहीं होती।

मतभेद का कारण—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्यकारों में मतभेद का कारण **पदविवृत्त्यां पादवृत्तः** (तै० प्रा० २०।६ वा ७) सूत्र के **पदविवृत्त्यां** पद की व्याख्या-भेद है। माहिषेय तथा त्रिरत्न भाष्य के कर्त्ता 'पदविवृत्यां' में **पदयोर्विवृत्याम्** ऐसा द्विवचन से विग्रह करते हैं। अर्थात् जहां दो पदों में विवृत्ति सन्ध्यभाव अथवा दो पदों की पृथक् अभिव्यक्ति हो ऐसा अभिप्राय स्वीकार करते है। वैदिकाभरण का कर्त्ता **पदविवृत्यां** में **'पदे विवृत्याम्'** ऐसा एकवचन से विग्रह मानता है। इसलिए उसके मत में **प्रउंग** में पादवृत्त संज्ञा होती है, **ता अस्मात्** में नहीं।

---

१. वस्तुतः 'प्रउग' समस्त पद है। वाज० प्राति० ४।१३० के अनुसार 'प्रयुग' में 'य्' का लोप होकर 'प्रउग' सिद्ध होता है। हमारे विचार में यहाँ प्रस् उग इन दो पदों का समास हुआ है। सन्धि में सकार का लोप होने से 'स आगच्छति' के समान पुनः सन्धि नहीं होती। पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी प्रउग में दो स्वरों की समीपता देखकर इसे प्राकृत मानते हैं। यह उनका मिथ्याज्ञान है। प्रउग में प्रयुक्त सान्त 'प्रस्' शब्द 'प्रस्कण्व' शब्द में उपलब्ध होता है। पाणिनि ने अपनी प्रक्रिया के अनुसार लोकप्रसिद्ध 'प्र' शब्द से परे सकार का आगम (अ० ६।१।१५३) करके क्वचिदुपलब्ध अत एव अप्रसिद्ध 'प्रस्' शब्द की विद्यमानता दर्शाई है। पाणिनि अपने शास्त्र में आगम आदेश द्वारा उसके अपने काल में अप्रसिद्ध परन्तु पुराकाल में व्यवहृत मूल-शब्दों का संकेत करता है। इसकी उपपत्ति के लिए देखिए 'वैदिक-छन्दो-मीमांसा' ग्रन्थ का 'छन्दः पद का निर्वचन और उसकी विवेचना' नामक द्वितीय अध्याय।

२. देखो पृष्ठ २८ की टि० सं० १।

मतभेद का प्रभाव—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२०।१२ वा १३) में पादवृत्त स्वरित का अल्पतर प्रयत्न बताया है। अतः पादवृत्त संज्ञा में विद्यमान मतभेद का प्रभाव उनके उच्चारण पर पड़ता है। माहिषेय और त्रिरत्न भाष्य के अनुसार ता अ॑स्मात् में स्वरित का उच्चारण अल्पतर प्रयत्न से होगा, प्रउ॑गम् का नहीं। वैदिकाभरण के मत में प्रउ॑गम् स्वरित का अल्पतर प्रयत्न होगा, ता अ॑स्मात् का नहीं। तैत्तिरीय शाखा के अध्येता कहां पर कैसा उच्चारण करते हैं, यह हमें ज्ञात नहीं।

हमारे विचार में माहिषेय तथा त्रिरत्न भाष्य का मत ठीक है, क्योंकि वह ऋग्वेद और शुक्लयजुः के प्रातिशाख्यों के अनुकूल है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का क्या अभिप्राय है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

८—**तैरोविराम**—संहिता में एक पद का पदपाठ में जब अवान्तर पद-विराम दर्शाया जाता है, तब उन अवान्तर पदविभागों के उच्चारण के मध्य में एक मात्रा (अथवा अर्धमात्रा) काल का व्यवधान किया जाता है। इसे प्रातिशाख्यों में **अवग्रह** कहते हैं।[1] यथा—

गोप॑ताविति गो प॑तौ। यज्ञप॑तिरिति यज्ञ प॑तिः[2]

(माध्य० सं० पदपाठ)।

अवग्रह में मात्रा (अथवा अर्धमात्रा) काल का व्यवधान विरामवत् स्वीकृत होने से अर्थात् परःसन्निकर्षरूप संहिता (अष्टा० १।४।११०) धर्म का व्याघात हो जाने से उदात्त से परे विद्यमान अनुदात्त को स्वरितत्व प्राप्त नहीं होता। अतः उस विराम (=संहिताभाव) को तिरोहित मान कर किए गए स्वरित को **तैरोविराम स्वरित** कहते हैं।

---

१. समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः। वाज० प्राति० ५।१॥ कैयट ने 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (अष्टा० १।१।७) के भाष्यप्रदीप में अवग्रह का अर्धमात्रा काल लिखा है। दोनों मतों के सामञ्जस्य के लिए इसी सूत्र का नागेश का उद्योत ग्रन्थ देखना चाहिए।

२. माध्यन्दिन पद-पाठ के लेखन की दो प्रकार की शैली है। इसलिए किन्हीं ग्रन्थों में विगृह्यमाण पदों के दोनों अवयवों के मध्यवर्ती अवग्रह को दर्शाने के लिए ऽ संकेत किया जाता है। यथा—"गोऽपतौ"। और किसी में केवल स्थान रिक्त छोड़ा जाता है। जैसा हमने ऊपर लिखा है।

तैरोविराम स्वरित का उल्लेख केवल शुक्लयजुःप्रातिशाख्य (१।११८) में ही मिलता है।

तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ में अवग्रह काल को विरामवत् व्यवधायक मान कर पूर्वभागस्थ उदात्त से परे उत्तरभागस्थ अनुदात्त को स्वरित नहीं होता। उसके अभाव में अगला अनुदात्त भी अनुदात्त ही रहता है। यथा—

गोपताविति गो पतौ। यज्ञपतिरिति यज्ञ पतिः।

ऋक्प्रातिशाख्य में यद्यपि तैरोविराम स्वरित का उल्लेख नहीं है, तथापि उसके पदपाठ में पूर्वभागस्थ अन्त उदात्त से परे उत्तर भागस्थ आदि अनुदात्त को माध्यन्दिन पदपाठ के समान स्वरित देखा जता है यथा—

पूतऽदक्षम् (ऋ० १।२।७)। विदत्ऽवसुम् (ऋ० १।६।६)।

९—**ताथाभाव्य**—वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२० में लिखा है—

उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः।

अर्थात्—उदात्तादि उदात्तान्त के मध्य अनुदात्त अवग्रह हो तो वह ताथाभाव्य स्वर कहाता है। यथा—

तनूनप्त्रे इति तनू नप्त्रे (माध्य० सं०)

यहाँ 'नू' अवग्रह अनुदात्त है उस से पूर्व 'त' और उत्तर 'न' दोनों उदात्त हैं।

इस सूत्र पर उव्वट आदि सभी टीकाकारों ने लिखा है कि यह सूत्र स्वरितों के मध्य पढ़ा है। माध्यन्दिन और काण्व पदपाठ में स्वरित नहीं देखा जाता। अनन्त भट्ट ने लिखा है कि यह स्वरित आपस्तम्बादि के मत में होता है। निस्सन्देह तैत्तिरीय पदपाठ में तनूनपादिति तनू नपात् (४।१।८।१) आदि में अवग्रह में स्वरितत्व देखा जाता है तथापि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ताथाभाव्य स्वरित का उल्लेख नहीं मिलता।

वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१४० के **अनवग्रह एके** सूत्र से भी ध्वनित होता है कि कई आचार्यों के मत में तनूनपात् आदि में अवग्रह में स्वरितत्व होता है।

हमारे विचार में वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२० तथा ४।१४० सूत्रों में अवग्रह में दो उदात्तों के मध्य वर्तमान स्वरित को स्वरित रूप से स्वीकार किया

है। इसलिए माध्यन्दिन और काण्व पदपाठ में ऐसे स्थानों पर स्वरितत्व न देखे जाने पर (अनुदात्तत्व देखे जाने पर) भी वाजसनेयों की किसी शाखा में इस ताथाभाव्य स्वरित की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। आपस्तम्ब आदि अन्यवेदीय शाखाओं तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी ८।४।६७ से विदित होता है कि गार्ग्य काश्यप और गालव के मत में उदात्त और स्वरित परे रहने पर भी उदात्त से उत्तरवर्ती अनुदात्त को स्वरित हो जाता है[1] तदनुसार इनकी शाखाओं में संहितो पाठ में भी तनूनपात् आदि में 'नू' स्वरित हो जाता है। अन्य शाखावत् **तनूनपात्** अनुदात्त नहीं रहता।

गार्ग्य कश्यप और गालव में से गालवशाखा पञ्चदश वाजसनेयों में अन्तर्निहित है। इसलिए जब गालव शाखा में संहितापाठ में भी 'नू' अनुदात्त न होकर स्वरित ही रहता है तब उसके पदपाठ में तो 'नू' अवश्य ही स्वरित रहेगा। इसलिए वाजसनेय प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का ताथाभाव्य स्वरित का निर्देश उसके सवर्गीय गावल शाखा के लिए उपपन्न हो सकता है।

१०—**प्रातिहित**—दो स्वतन्त्र पदों में पूर्वपदस्थ अन्त उदात्त से परे उत्तरपदस्थ आदि अनुदात्त को संहिता-पाठ में जो स्वरित होता है, उसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मतानुसार **प्रातिहित स्वरित** कहते हैं। यथा—

इषे + त्वा + ऊर्जे + त्वा = इषे त्वोर्जे त्वा (तै० सं० १।१।१)।

यह भेद अन्य प्रातिशाख्यों में उल्लिखित नहीं है। वस्तुतः यह संहितज स्वरित के ही अन्तर्गत है।

इन १० प्रकार के स्वरितों में अर्थ की दृष्टि से केवल जात्य स्वरित ही महत्त्वपूर्ण है। स्वर-अङ्कन-प्रकार की दृष्टि से जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ये चार स्वरित मुख्य हैं।

अब अगले अध्याय में 'संसार की प्राचीन भाषाओं में स्वरों का सद्भाव और उनका लोप' विषय पर लिखा जायगा।

---

१. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ।८।४।६७॥

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन भाषाओं में स्वरों का सद्भाव
और
उनका लोप

उदात्तादि स्वरों की व्यापकता—हम पूर्व लिख चुके हैं कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर अकारादि स्वरों (=अचों) के विशिष्ट उच्चारणधर्म हैं।

शिक्षा और व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'अ इ उ ऋ' इन चार स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत तीन तीन भेद होते हैं। प्रत्येक भेद का शुद्ध (निरनुनासिक) और सानुनासिक भेद से दो दो प्रकार का उच्चारण होने से (३ × २ = ६) छः भेद बनते हैं। इनमें से प्रत्येक भेद का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर से उच्चारण होने पर पुनः तीन तीन भेद होकर (६ × ३ = १८) अठारह अठारह भेद होते हैं।[1] कई आचार्यों के मत में 'ऌ' का दीर्घ-भेद नहीं होता। इसलिए उनके मत में ऌकार के बारह भेद होते हैं।[2] जो आचार्य ऌ का दीर्घ भेद भी मानते हैं, उनके मत में ऌ के भी पूर्ववत् अठारह भेद होते हैं।[3] ए ऐ ओ औ इन सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व-भेद नहीं माने जाते।

---

१. अष्टादशप्रभेदमवर्णकुलमिति । अत्र—ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च । आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ॥ इति। एवमिवर्णादयः। आपि० शिक्षा ६ । १–३ ॥ अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः । एवमिवर्णादयः । पाणि० शिक्षा ६ । १–२ ॥ अत्र चावर्णो ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति त्रिधा भिन्नः। प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदेन सानुनासिकनिरनुनासिकभेदेन चाष्टादशधा भवति । एवमिवर्णोवर्णावृवर्णश्च ॥ चान्द्र-शिक्षासूत्र ३८–४० ॥

२. ऌवर्णस्य दीर्घा न सन्ति। तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते । आपि० शिक्षा ६ । ४, ५ ॥ पाणिनि-शिक्षा ६ । ३, ४ ॥ चान्द्र शिक्षा ४१ ॥

३. यदृच्छाशक्तिजानुकरणा वा यदा दीर्घाः स्युस्तदा तमप्यष्टादशप्रभेदं ब्रुवते । आपि० शिक्षा ६ । ६ ॥ पाणि० शिक्षा ६ । ५ ॥

अतः इनमें प्रत्येक के बारह बारह भेद ही होते हैं।[1]

सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व भेद—पाश्चात्य भाषामानियों का मत है कि प्राक्-भारोपीय[2]-भाषा में 'ए ऐ ओ औ' स्वरों की ह्रस्व ध्वनियाँ भी थीं। इन्हें ग्रीक और लैटिन ने सुरक्षित रखा, परन्तु संस्कृत में उनके स्थान पर 'अ' रूप हो गया।[3]

पाश्चात्य-मत की निस्सारता—पाश्चात्य भाषामानियों का ए ओ ध्वनि-विषयक जो मत संक्षेप से उद्धत किया है। उसके दो अंश हैं—

क—ग्रीक और लैटिन भाषाओं ने प्राक्भारोपीय भाषा में वर्तमान ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का संरक्षण किया है।

ख—संस्कृत में ए ओ की ह्रस्व ध्वनियाँ नहीं हैं।

इनमें से प्रथम अंश की निस्सारता श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भाषा का इतिहास' नामक ग्रन्थ (द्वि० सं०) में पृष्ठ १५२–१६१ तक भले प्रकार दर्शाई है। उसे वहीं देखें। आपने अनेक उदाहरणों और सुदृढ़ प्रमाणों के द्वारा बताया है कि ग्रीक लोगों ने किसी प्राचीन भाषा में विद्यमान ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का संरक्षण नहीं किया, अपितु उनका स्वाभाविक उच्चारण ही ऐसा दूषित था, जिससे कण्ठ्य अ अर्ध ए ओ की ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो जाता था। भारतीय बंगाली आज भी संस्कृत के कण्ठ्य अ को अर्ध ओष्ठ्य 'ओ' के रूप में उच्चारण करते हैं।

जोधपुर राज्य के 'रजलाणी' गांव ('गोटन' स्टेशन के पास) में सं० २०१४ चैत्र कृष्णा १ को जाने पर विदित हुआ कि वहाँ के निवासी भी अ, आ का उच्चारण प्रायः ह्रस्व ओकार के सदृश करते हैं। यथा—परसाल =

---

१. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति। तान्यपि द्वादशप्रभेदानि। आपि० शिक्षा ६।७, ८॥ पाणि० ६।६, ७॥ चान्द्र शिक्षा ४२॥

२. भारत और योरोप के भाषा समूहों के लिए भाषा वैज्ञानिक भारोपीय (इण्डोयोरोपीयन) शब्द का प्रयोग करते हैं।

३. उह्लनबैक, पृष्ठ ६३, ६४। बरो, पृष्ठ १०३। ब्लूमफील्ड, पृष्ठ ३०७। इस मत की समीक्षा के लिए देखिए श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भाषा का इतिहास' द्वि० संस्क० पृष्ठ १५२–१६४।

पोरसाल, परसाद = पोरसाद, बांक्या = बोंक्या (वाद्यविशेष) आदि । गुजराती भी पद के अन्त्य 'अ' का प्रायः ओकार सदृश उच्चारण करते हैं ।[1]

आदि भाषा में अर्ध (ह्रस्व) ए ओ—अब रहा द्वितीय अंश । शिक्षा-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से हस्तामलक के समान है कि आदि भाषा (=अति भाषा) अर्थात् संस्कृत भाषा के प्राचीनतमरूप में न केवल ए ओ की ही, अपितु चारों सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व (=अर्ध) ध्वनियाँ विद्यमान थीं । यथा—

१—वासिष्ठी शिक्षा [2] में लिखा है—

लृवर्णं दीर्घं परिहाप्य स्वराः षड्विंशतिः प्रोक्ताः ।[3]

अर्थात्—लृवर्ण के दीर्घ भेद को छोड़कर २६ स्वर कहे गए हैं ।

इस २६ संख्या की उपपत्ति इस प्रकार होती है—अ इ उ ऋ ए ऐ ओ औ इन ८ अक्षरों के ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेद से (८ × ३ = २४) चौबीस भेद होते हैं । इन में लृकार के दीर्घभेद को छोड़कर ह्रस्व और प्लुत दो भेदों को मिलाने से २६ संख्या उपपन्न होती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि वासिष्ठी शिक्षा के काल में संस्कृत भाषा में 'ए, ऐ, ओ, औ' इनके ह्रस्व उच्चारण विद्यमान थे ।

२—वर्णोच्चारण-विद्या का असाधारण विद्वान् आचार्य आपिशलि अपनी शिक्षा में लिखता है—

छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति ।

तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि ।६।९,१०।।

अर्थात्—सामवेदियों में राणायनीय अन्तर्गत सात्यमुग्र शाखा के अध्येता सन्ध्यक्षरों के ह्रस्वभेद पढ़ते हैं । उनके मत में सन्ध्यक्षरों के भी अठारह अठारह भेद होते हैं ।

---

१. इसके लिए देखिए "सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके" आपिशल और पाणिनीय शिक्षासूत्र ।

२. काशी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में मुद्रित वासिष्ठ-शिक्षा से यह भिन्न ग्रन्थ है ।

३. गार्ग्य गोपाल यज्वा द्वारा तै० प्राति० १।१ की व्याख्या में वासिष्ठी शिक्षा के नाम से उद्धृत ।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में संस्कृत भाषा में 'ए, ऐ, ओ, औ' के ह्रस्व (=अर्ध) उच्चारण विद्यमान थे। भाषा में सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व उच्चारणों के विद्यमान होने पर अन्य वर्णों के समान उनके स्वतन्त्र लिपि संकेत भी अवश्य रहे होंगे।

ह्रस्व ए ओ के विषय में पतञ्जलि का लेख—पतञ्जलि ने ह्रस्व ए ओ के विषय में लिखा है—

पारिषदकृतिरेषा तत्र भवताम्। नैव लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति। ऐ औच् सूत्रभाष्य।

अर्थात्—छन्दोग सात्यमुग्री और राणायनी शाखाध्येताओं का अर्ध एकार अर्ध ओकार का उच्चारण गीतिवशात् है। नहीं लोक में और नहीं अन्य वेद में अर्ध एकार वा ओकार है।

महाभाष्यकार का **नैव लोके** यह लिखना पाणिनि वा उससे उत्तर काल की भाषा की दृष्टि से है। पाणिनि के समय अर्ध एकार अर्ध ओकार का उच्चारण नष्ट हो गया था यह पाणिनि के शिक्षासूत्र के लघु पाठ में पूर्व निर्दिष्ट आपिशल शिक्षावत् **तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि** सूत्र के अनिर्देश से ध्वनित होता है।

उत्तरवर्ती भारतीय भाषाओं में सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियाँ—उत्तर कालीन संस्कृत भाषा से सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियों के नष्ट हो जाने पर भी आदिभाषा (=अतिभाषा=प्राचीनतम संस्कृत) से उत्तरोत्तर विकार को प्राप्त होकर उत्पन्न हुई प्राकृत भाषाओं में सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियाँ विद्यमान रहीं।

तामिल और कन्नड में ह्रस्व ए ओ—तामिल और कन्नड भाषाओं[1] और उनकी लिपियों में ह्रस्व ए ओ विद्यमान हैं।

शौरसेनी और अर्धमागधी में ह्रस्व ए ओ—शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृत में ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का प्रयोग होता है।[2]

अवधी में ह्रस्व ए ऐ—गोस्वामी तुलसीदास की रामायण मुख्यतया अवधी भाषा में लिखी गई है। उसमें ह्रस्व ए ऐ का बहुधा प्रयोग होता है। यथा—

---

१. अनार्य कही जाने वाली तामिल आदि दाक्षिणात्य भाषाएँ भी वस्तुतः आदि भाषा (प्राचीन संस्कृत) का विकार है। स्वयं तामिळ शब्द भी संस्कृत द्रामिळ का रूपान्तर है। देखो 'भाषा का इतिहास' संस्करण २ पृष्ठ २८१-२८३।

२. देखिए, भाषा का इतिहास, द्वि० संस्क० पृष्ठ १५९।

अवधेश के द्वारे सकारे गई, सुतगोद कै भूपति लै निकसे।

इनमें रेखांकित अक्षरों के ए ऐ का ह्रस्व (एक मात्रिक) उच्चारण होता है।

व्रजभाषा में—व्रजभाषा में भी ए ऐ का ह्रस्व उच्चारण होता है।

हिन्दी में—राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी किन्हीं किन्हीं स्थानों में ए ऐ का ह्रस्व उच्चारण देखा जाता है। यथा—**मैं, है**। इनमें ऐकार का संस्कृत जैसा दीर्घ उच्चारण नहीं होता।

ह्रस्व ए ऐ ओ औ के लिपि संकेत का नाश—निश्चय ही जिस काल में संस्कृत भाषा में सन्ध्यक्षरों की ह्रस्वध्वनियाँ विद्यमान थीं, उस समय उनके पृथक् लिपि संकेत भी रहे होंगे। उत्तरकाल में संस्कृत भाषा से सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियों के नष्ट हो जाने पर उनके स्वतन्त्र लिपि संकेत भी नष्ट हो गए। जिन भारतीय भाषाओं में सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व उच्चारण सुरक्षित हैं, उनमें से जिन भाषाओं की लिपि का मूल उत्तरकालीन संस्कृत लिपि है, उन भाषाओं में ह्रस्व उच्चारणों के विद्यमान रहने पर भी उनके लिए लिपि संकेत उपलब्ध नहीं होते। उनमें दीर्घ सन्ध्यक्षरों की लिपि संकेत से ही काम चलाना पड़ता है।[1] इससे स्पष्ट है कि तामिल आदि लिपियों का भी मूल अतिप्राचीन संस्कृत लिपि है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का अकारादि प्रत्येक स्वर (=अच्) के साथ संबन्ध है। इसलिए उदात्तादि स्वरों का प्रत्येक शब्द के साथ अविभाज्य संबन्ध होने से इनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

प्राचीन भाषाओं में उदात्तादि स्वर

संसार की अनेक प्राचीन भाषाओं में उदात्त आदि स्वरों की विद्यमानता के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—वैदिक वाक् में—भारतीय ऐतिहासिक मतानुसार वेद सम्पूर्ण वाङ्मय के आदि ग्रन्थ हैं। वे सम्पूर्ण भाषाओं की जननी प्राचीनतम आदि भाषा संस्कृत के प्रभव-स्थान हैं।[2] पाश्चात्य लेखकों के मतानुसार भी वेद संसार की

---

१. प्राचीन संस्कृत में अन्य भी कई स्वतन्त्र ध्वनियाँ थीं। देखिए, 'भाषा का इतिहास', द्वि० सं० पृष्ठ १०८-११३॥

२. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनु १।२१॥

समस्त भाषाओं में प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। ये संसार के प्राचीनतम अमूल्य निधि वेद आज तक उदात्त आदि स्वरों से युक्त विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, वेद से संबन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थों में आज भी उदात्त आदि स्वर सुरक्षित हैं। स्वर शास्त्र की दृष्टि से भी वेद संसार की अपूर्व शेवधि (= निधि) हैं।

वैदिक ग्रन्थों में स्वर की अविकृति—वैदिक तपस्वी, कुम्भीधान्य ब्राह्मणों की सतत जागरूकता के कारण शाकल, माध्यन्दिन, काण्व और तैत्तिरीय संहिता के पाठ आज भी ठीक उसी रूप में प्राप्त हो रहे हैं, जिस रूप में इनके प्रवचन-कर्त्ता ऋषियों ने अपने शिष्यों के प्रति प्रवचन किया था। इन ग्रन्थों में एक भी वास्तविक पाठान्तर का उपलब्ध न होना इसका प्रबल प्रमाण है। इसलिए इन ग्रन्थों के स्वर भी अद्यावधि सर्वथा अविकृत हैं, यह निस्सन्दिग्ध है। वैदिक ग्रन्थों में स्वरों की पूर्ण अविकृतता पाश्चात्य लेखकों के लिए भी आश्चर्य का विषय है। उह्लन बैक इस विषय में लिखता है—

Verner's law has been an evident proof of the fact, that the Indian stress, as it is handed down to us in some Vedic books and by ancient Indian grammarians, generally fell on the same sylables as in the Indogermanic mother-language. (p. 109.)[1]

अर्थात्—वर्नर नियम इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय ध्वनि बल (उदात्त स्वर) जैसा हमारे पास कुछ वैदिक ग्रन्थों और भारतीय वैयाकरणों द्वारा पहुँचा है, प्रायः उन्हीं अक्षरों पर पड़ता है, जैसा वह मूल मातृ-भाषा में था।

जैस्पर्सन भी लिखता है—

H wholl sereies of consonant alterations in the old Gothonic Languages was dependent on accent, and (more remarkable still) on the primeval accent, preserved in its oldest form in sanskrit. (p. 93)[2]

---

१. श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, सं० २, पृ० ६८ से उद्धृत।

२. श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत भाषा का इतिहास, पृष्ठ १५१ (द्वि० सं०) में उद्धृत। तुलना करो ब्लूमफील्ड ३०७।

व्यञ्जन परिवर्त्तन की परम्परा, जो प्राचीन गॉथिक भाषा में पाई जाती है, स्वरों पर आश्रित है। इसमें और भी अधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि यह परम्परा प्रारम्भिक स्वर पर आश्रित होती है–यह परम्परा अपने प्राचीन रूप में केवल संस्कृत में ही उपलब्ध होती है।

वैदिक पदानुक्रम कोश में स्वर-परिवर्तन—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने अपने वैदिक पदानुक्रम कोश में वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट अनेक स्वरों को प्रमाद पाठ मान कर परिवर्तित करके छापा है। इस परिवर्तन का निर्देश कतिपय स्थानों में टिप्पणी में कर दिया है, परन्तु अधिकांश स्थानों में टिप्पणी में कोई निर्देश नहीं किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१६।१ में प्रयुक्त पूर्वपद मध्योदात्त **चरकाचार्य** पद के स्वर के विषय में टिप्पणी में लिखा है—

'र॒का'[1] इति मुपा स्वरोऽशुद्धः। ब्राह्मणपद कोष भाग १, पृष्ठ ४१२।

अर्थात् तैत्तिरीय ब्राह्मण के पाठ में 'चरकाचार्य' पद पूर्वपद मध्योदात्त छपा है, उसमें स्वर अशुद्ध है।

यह टिप्पणी उस ग्रन्थ के पाठ पर दी है, जिसमें एक भी पाठान्तर उपलब्ध नहीं होते। माननीय पण्डित जी ने जिस ढंग से टिप्पणी दी है उसके अनुसार प्रतीत होता है कि मुद्रित ग्रन्थ का पाठ अशुद्ध है, परन्तु हस्तलिखित ग्रन्थों में अथवा तैत्तिरीय शाखाध्यायी ब्राह्मणों के पाठों में पूर्वपदाद्युदात्तत्व ही देखा जाता है। वस्तुतः ऐसा है नहीं, हस्तलेखों तथा अध्येताओं के पाठों में पूर्वपद मध्योदात्त पाठ ही सर्वसम्मत है। अतः टिप्पणी का लेखन प्रकार भी भ्रामक है।

भूल का कारण—इस प्रकार की भूलों का प्रधान कारण होता है पाणिनीय अष्टाध्यायी के नियमों को निरपवाद समझना। श्री पं० विश्वबन्धु जी ने पाणिनी के **लिति** (अष्टा० ६।१।१९३) सूत्र को निरपवाद समझकर ही यह भूल की है।[2] लक्षणैकचक्षु वैयाकरण प्रायः ऐसी भूलें करते रहते हैं। आधुनिक

---

१. ब्राह्मण कोश में उदात्तस्वर का अधोरेखा से निर्देश किया है।

२. इसी प्रकार का दूसरा पद है—मेध्याय। पाणिनीय व्याकरणानुसार यत् प्रत्ययान्त (अष्टा० ४।४।११०) होने से 'यतोऽनावः' (अ० ६।१।२१३) से आद्युदात्त होना चाहिए (माध्य० १६।३८, काण्व १८।३८, मैत्रा० २।९।७ में ऐसा ही है), परन्तु तै० सं० ४।५।७ तथा काठक सं० १७।१५ में अन्त स्वरित उपलब्ध होता है। चरकाचार्य और मेध्य पद के स्वर पर विशेष विचार हमारे 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' निबन्ध (पृष्ठ १६-१९) में किया है।

वैयाकरणों में परमप्रामाणिक महामहोपाध्याय नागेश ने भी ऐसी अनेक भूलें की हैं।[१] वस्तुतः वेद में यथादृष्ट स्वर की उपपत्ति की जाती है और उसके अनुसार ही अर्थ किया जाता है। यह वैयाकरणों का सिद्धान्त है। वैदिक पाठों में लक्षण-शास्त्रों के अनुसार शुद्धाशुद्धत्व की कल्पना नहीं की जाती।[२] अन्यथा महान् विप्लव हो जाएगा।

२–लौकिक संस्कृत में—भारतीय परम्परानुसार लोक में भाषा की प्रवृत्ति वेद शब्दों के आधार पर हुई।[३] अतः वैदिक शब्दों के स्वर लौकिक भाषा में स्वभावतः आ गए। इसलिए प्राचीन काल में लौकिक संस्कृत भाषा में भी उदात्तादि स्वरों का यथावत् उच्चारण होता था। यह उच्चारण संस्कृत भाषा में कब तक रहा, इसके विषय में आगे अनुपद ही विचार किया जाएगा। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में उदात्तादि स्वरों का केवल व्यवहार-काल में ही उच्चारण नहीं होता था, अपि तु उस काल में लौकिक संस्कृत में लिखे गए ग्रन्थों में भी वैदिक ग्रन्थों के समान उदात्त आदि स्वरों का निर्देश होता था। इसमें कतिपय प्रमाण इस प्रकार हैं—

क—पाणिनि ने वैदिक शब्दों के समान लौकिक शब्दों के स्वरों का भी अनुशासन अपने ग्रन्थों में किया है। जहाँ वैदिक और लौकिक स्वर में भिन्नता थी, वहाँ स्पष्ट रूप से लौकिक शब्दों के स्वरभेद का प्रतिपादन किया है। यथा—

i विभाषा भाषायाम्। अष्टा० ६।१।१८१॥

अर्थात्—भाषा में झलादि विभक्त्यन्त षट् संज्ञक (षष् पञ्चन् सप्तन् आदि) त्रि और चतुर् शब्द में अन्त से पूर्व अच् को विकल्प से उदात्त होता है। पक्ष में विभक्ति को उदात्त होता है। यथा—**पुञ्चभिः, पञ्चभिः।**

ii इसी प्रकार विपाट् (व्यास नदी) के उत्तर और दक्षिण भाग में निर्मित कूपों के लिए लोक में आद्युदात्त और अन्तोदात्त स्वरभेद से **दात्त गौप्त** आदि शब्दों का व्यवहार होता था। इसलिए पाणिनि ने इन शब्दों में विद्यमान सूक्ष्म

---

१. सूत्रविरोधात् स पाठः प्रामादिकः ६।१।२१० सूत्र का शब्देन्दुशेखर, भाग २, पृष्ठ ९५८। तथा ६।१।३३ का प्रदीपोद्योत।

२. ऋग्वेद-कल्पद्रुम के रचयिता ने ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार शाकल संहिता में अनेक पाठ-प्रमाद दर्शाए हैं।

३. मनु० १।२१॥

स्वरभेद को दर्शाने के लिए **अञ्** और **अण्** दो प्रत्ययों की कल्पना की। गुप्त और दत्त द्वारा निर्मित उत्तर भाग के कूपों के लिए आद्युदात्त **गौप्त, दात्त** शब्दों का प्रयोग होता था और दक्षिण भाग में वर्तमान कूपों के लिए अन्तोदात्त **गौप्त दात्त** शब्दों का।[1] निश्चय ही पाणिनि ने लोक में प्रयुक्त स्वरों की रक्षा में महती सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है।[2]

ख—प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अति पुराकाल में मनुस्मृति, निरुक्त आदि ग्रन्थों में भी स्वर चिह्न लगे हुए थे। यथा—

i. निरुक्त ३।४ में स्वायम्भुव मनु का **अविशेषेण पुत्राणां** श्लोक उद्धृत है। उस पर आज भी स्वर चिह्न उपलब्ध हैं।[3] यतः यह श्लोक **अङ्गादङ्गात्** मन्त्र के साथ निर्दिष्ट है, अतः मन्त्र-साहचर्य्य के कारण कथंचित् इस श्लोक के स्वर चिह्नों की रक्षा हो गई।

ii. डा० लक्ष्मण स्वरूप सम्पादित निरुक्त में निरुक्त ३।१६ के **ब्राह्मणवत्, वृषलवत्** इन लौकिक उदाहरणों पर भी स्वर चिह्न विद्यमान हैं। इसमें **ब्रा** का स्वरचिह्न लुप्त हो गया है अथवा पूर्वपद के कारण एकश्रुति रूप रहा हो। पूर्वपद के स्वर के लोप हो जाने से **ब्रा** भी वैसा ही रह गया हो।

iii. निरुक्त १४।६ में **मृतश्चाहं** आदि तीन श्लोक उद्धृत हैं। इन पर भी स्वर चिह्न अद्यावधि सुरक्षित हैं। इनमें से **आहारा विविधा भुक्ताः** श्लोक महाभारत अश्वमेध पर्व १६।३२ में भी उपलब्ध होता है।

iv. निरुक्त के कतिपय लिखित पत्र हमारे पास हैं।[4] उनमें मन्त्रोद्धरण के पश्चात् प्रयुक्त होने वाले **'इत्यपि निगमो भवति'** अंश पर भी स्वर चिह्न लगे हुए हैं। वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े द्वारा सम्पादित निरुक्त में[5] भी

---

१. द्रष्टव्य—'उदक् च विपाशः'। अष्टा० ४।२।७३॥

२. महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। काशिका ४।२।७३॥

३. आनन्द आश्रम पूना के संस्करण में 'अङ्गादङ्गात्' मन्त्र और 'अविशेषेण' श्लोक पर स्वरचिन्ह नहीं हैं।

४. हमें सं० १९९० में काशी में गंगा-प्रवाह में बहते हुए कतिपय पुस्तकों के पत्रे मिले थे। उन्हीं में निरुक्त के ये पत्रे भी थे। इन्हें उक्त स्वर निर्देश के कारण अत्यन्त उपयोगी समझ कर सुरक्षित रख लिया।

५. इस निरुक्त की भूमिका में राजवाडे ने तथा 'इटोमॉलोजी आफ यास्क'

कहीं कहीं मन्त्रातिरिक्त अंश पर भी स्वरचिह्न उपलब्ध होते हैं। डा० लक्ष्मण स्वरूप सम्पादित निरुक्त पृष्ठ ३१ की १० वीं टिप्पणी से भी स्पष्ट है कि अनेक हस्तलेखों में मन्त्रोद्धरणानन्तरप्रयुक्त 'इति' पद पर स्वर चिह्न उपलब्ध होता है।

ग—श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा पर भी स्वर चिह्न उपलब्ध होते हैं।[1] यद्यपि ये स्वर चिह्न सस्वर पाठ के प्रायः लुप्त हो जाने से अत्यन्त विकृत हो गए हैं। तथापि इनमें यह स्पष्ट है कि पुराकाल में श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा सस्वर थी। पाणिनीय शिक्षा का यह सस्वर पाठ काशी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में मिलता है।

घ—गुरुपरम्परा से अधीत महाराष्ट्र ऋग्वेदी ब्राह्मण आज भी शिक्षा आदि षडङ्गों का सस्वरग्रन्थवत् विशिष्ट पद्धति से पाठ करते हैं। इससे अनुमान होता है कि पुरा काल में इन षडङ्गों पर भी स्वर चिह्न रहे होंगे।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पुराकाल में मौलिक भाषा निबद्ध मनुस्मृति, निरुक्त और पाणिनीय शिक्षा आदि ग्रन्थ भी स्वर निबद्ध थे। उत्तरकाल में स्वरोच्चारण के शिथिल हो जाने पर जिस प्रकार ताण्ड्य आदि ब्राह्मण ग्रन्थों से स्वरों का लोप हुआ[2], उसी प्रकार इन ग्रन्थों से भी स्वर चिह्न नष्ट हो गए।

३–ग्रीक भाषा में—मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य लेखकों का मत है कि प्राचीन ग्रीक भाषा में भी संस्कृत के समान ही उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग होता था।[3]

में श्री सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्कीय निर्वचनों के विषय में बिना समझे जो महान् उपहास किया है उसका संक्षिप्त उत्तर हमने 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के 'छन्दः पद का निर्वचन और उसकी विवेचना' नामक द्वितीय अध्याय में दिया है। यह अंश वेदवाणी (काशी) के कार्तिक सं० २०१४ के वेदाङ्क में भी छप चुका है।

१. डा० मनोमोहन घोष ने सन् १९३८ में श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का एक संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें इस शिक्षा के कई पाठ छपवाए हैं। उनमें चिरकाल मुद्रित सस्वरपाठ की क्यों उपेक्षा की, यह हमारी समझ में नहीं आता।

२. इसके विषय में आगे लिखा जाएगा।

३. वैदिक साहित्य-चरित्रम् (मैकडानल कृत हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर का संक्षिप्त अनुवाद) पृष्ठ ६०,६१।

४–अरबी में—अरबी भाषा में उदात्त आदि स्वर थे अथवा नहीं, इसका साक्षात् विनिगमक प्रमाण उपलब्ध नहीं। पुनरपि निम्न हेतुओं से उस भाषा में प्राचीन काल में स्वर सद्भाव की आशंका होती है—

क—उदात्त आदि स्वरों का अर्थ के साथ साक्षात् संबन्ध है, यह हम अगले अध्याय में दर्शाएँगे। पदों के स्थान परिवर्तन से स्वरों में परिवर्तन प्रायः हो जाता है और उसका अर्थ पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए प्राचीन आचार्य मन्त्र की व्याख्या करते हुए मन्त्र-पद-क्रम के अनुसार ही उसकी व्याख्या करते हैं, जिससे स्वरों के अनुरूप यथार्थ अर्थ प्रकाशित हों। निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः[1] इसी शैली से मन्त्र व्याख्यान उपलब्ध होता है (मन्त्रार्थ में अन्वय का उपयोग सर्वथा आधुनिक है)।

इसी प्रकार कुरान के जितने प्राचीन प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध हैं। उनमें आयतों में पठित पद-क्रम के अनुसार ही अनुवाद उपलब्ध होता है, अन्वित वाक्य रचना के रूप में नहीं। सस्वर वेद के निरुक्त आदि व्याख्यान ग्रन्थों में विद्यमान मन्त्र-पद-क्रमानुसारी व्याख्या के साथ कुरान के अनुवाद की तुलना करने से कुछ सम्भावना होती है कि कहीं प्राचीन अरबी में भी उदात्त आदि स्वर रहे हों और उनसे प्रभावित होकर कुरान के अनुवाद की रीति भी आयात-पद-क्रम के अनुसार स्वीकृत की गई हो।

ख—प्रायः देखा जाता है कि कुरान का पाठ प्रायः शरीर को आगे पीछे हिलाते हुए करते हैं। इस शरीर चालन क्रिया की ऋग्वेद अध्येताओं के शिरः-कम्प से तुलना की जाए तो सम्भावना होती है कि इस शरीर चालन के मूल में स्वर आदि कोई विशेष कारण है।

---

१. निरुक्त में केवल व्यवहित उपसर्ग और आख्यात पदों को अन्वित करके व्याख्यान करने की शैली उपलब्ध होती है। इससे इतना स्पष्ट है कि यास्क के काल तक उपसर्ग और क्रियापद को अन्वित करके अर्थ करने का सिद्धान्त स्थिर हो चुका था। हाँ, निरुक्त में कहीं कहीं पादव्यत्यय करके भी अर्थप्रदर्शन देखा जाता है। यथा ७।२१ में "वैश्वानरस्य सुमतौ" मन्त्र का। निरुक्त के परिशीलन से इतना तो सूर्य की भाँति स्पष्ट है कि उसके काल में मध्य काल में तथा सम्प्रति व्यवहृत मन्त्र-पदान्वय-प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव था।

ग—अरबी भाषा में एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि अनेक विषयों में संस्कृत भाषा से समानता उपलब्ध होती है।[१] उस समानता से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि कभी अरबी में भी संस्कृत के समान उदात्त आदि स्वरों का प्रचलन रहा होगा।

पुरातत्त्व विशारदों को इस विषय में विशेष अनुसन्धान करना चाहिए। इसी विचार से हमने उपर्युक्त संकेत किया है।

ग्रीक आदि भाषाओं में स्वर-सद्भाव का कारण

ग्रीक आदि भाषाएँ वैदिक-वाक्-प्रसूता अतिप्राचीन काल की आदि भाषा अथवा अतिभाषा[२] की परम्परा से विकार हैं।[३] अतः प्राचीन अतिभाषा में प्रयुक्त उदात्त आदि स्वर उससे परम्परा से विकृत ग्रीक आदि प्राचीन भाषाओं में भी प्रयुक्त होते रहे, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

स्वरों का लोप

उदात्त आदि स्वरों का लोप न केवल ग्रीक, जर्मन आदि भाषाओं में ही हुआ है, अपितु लौकिक संस्कृत से भी स्वरों का सर्वथा लोप हो गया। इतना ही नहीं, अनेक वैदिक ग्रन्थ जो पहले सस्वर थे, वे भी स्वर चिह्नों से रहित हो गए।[४]

---

१. पाश्चात्य भाषाविचारकों ने अरबी को सेमेटिक वर्ग में माना है। सेमेटिक वर्ग का इण्डो-योरोपीय भाषा वर्ग से कोई संबन्ध नहीं माना जाता। परन्तु अब अनेक लेखकों का मत है कि सेमेटिक परिवार की भाषाओं और इण्डो-योरोपीय वर्ग की भाषाओं का मूल एक है। (द्र० भाषा का इतिहास, संस्क० २, पृष्ठ २१९-२२२) निश्चय ही यह सत्य है। और वह मूल भाषा संस्कृत का प्राचीतम रूप अतिभाषा है।

२. नाट्यशास्त्र १७।२८ तथा उसके पाठान्तर। अतिभाषा—वैदिक-शब्द-बहुला। अभिनवगुप्त की टीका।

३. इस तथ्य के ज्ञान के लिए देखें 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, संस्क० २, पृष्ठ ६९-९४ 'संसार की आदि भाषा संस्कृत' अध्याय तथा 'भाषा का इतिहास' संस्क० २ पृष्ठ २१५—२२४ तक।

४. शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां स्वरः। भाषिक सूत्र ३।१५॥ इसी प्रकार नारदी शिक्षा (शिक्षा संग्रह, पृष्ठ ३९८) में भी लिखा है। सम्प्रति ताण्ड्य ब्राह्मण पर स्वर-चिह्न नहीं मिलते।

स्वरों का क्रमिक लोप—हम पूर्व लिख चुके हैं कि उदात्त आदि स्वरों की संख्या कोई सात मानता है, तो कोई पाँच, कोई चार, कोई दो और कोई एक। इन संख्याओं में उदात्तादि स्वरों के क्रमिक ह्रास का इतिहास छिपा हुआ है। आदि काल में जब मनुष्य परम विद्वान्, कन्दमूल फलभक्षी और परम सात्त्विक थे[1], उस समय उनकी वाग्-इन्द्रिय सर्वथा विकाररहित थी। उनके स्वर-यन्त्र सूक्ष्मतम स्वर-भेदों के उच्चारण में पूर्ण समर्थ थे। उत्तरकाल में क्रमशः सत्त्वगुण के ह्रास, और रजस् तथा तमस् गुणों की वृद्धि के कारण ज्यों-ज्यों मेधा का ह्रास, आलस्य, प्रमाद, और दर्प आदि दुर्गुणों का प्रादुर्भाव हुआ[1] तथा मद्य, मांस और अति तीक्ष्ण व्यञ्जनयुक्त आहार में प्रवृत्ति हुई, त्यों-त्यों सूक्ष्मतम स्वर-भेदों के उच्चारण में अनवधानता और स्वर-यन्त्रों में विकार के कारण उच्चारण-शक्ति के शैथिल्य से सूक्ष्म स्वर-भेदों का लोप होना आरम्भ हुआ। स्वरों के उच्चारण सीमित होते गए। अन्त में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन प्रधान स्वरों का भी लोप होकर एकतान अथवा एक-श्रुति स्वर ही अवशिष्ट रह गया।

स्वरलोप का आरम्भ—उच्चारण में उदात्त आदि स्वरों के सूक्ष्मभेद के लोप का आरम्भ कब से हुआ, यह निश्चित रूप से कहना अशक्य है। परन्तु प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि वर्तमान वैदिक शाखाओं, श्रौतसूत्रों और प्रातिशाख्यों के प्रवचन-काल से बहुत पूर्व से उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में शैथिल्य आ चुका था। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—उपलब्ध शाखाओं के पाठों की तुलना करने से प्रकट होता है कि उनके प्रवचन-काल में उदात्तादि स्वरों के उच्चारण का भेद शिथिल हो चुका था। अतएव उनमें स्वर-भेद से प्रकट हो सकने वाले अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए भी पाठान्तर किए गए। यथा—

पुष्पसूत्र ८।८ (पृष्ठ १८६) के अनुसार कालबविनों और शाट्यायनिनों के ब्राह्मणों में भी स्वर निर्देश था। 'यथादेशं च कालबविनामपि प्रवचन-विहितः स्वरः तथा शाट्यायनिनामपि।'

१. पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्य······धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। पराशर ज्योतिष तन्त्र। भट्टोत्पल की बृहत् संहिता टीका पृ० १५ पर उद्धृत। इसी से मिलता जुलता पराशर सतीर्थ्य अग्निवेशकृत आयुर्वेद संहिता (चरक सं०) विमान अ० ३।२८ में वर्णन है।

माध्यन्दिनी संहिता १।१७ में पाठ है—**भ्रातृव्यस्य वधाय।**

भ्रातृव्य शब्द के दो अर्थ हैं। एक भाई का पुत्र (भतीजा) और दूसरा शत्रु। स्वर-शास्त्र के अनुसार आद्युदात्त भ्रातृव्य शब्द शत्रु का वाचक है और अन्तस्वरित भतीजे का।[1] यदि स्वर का वक्ता द्वारा यथार्थ उच्चारण और श्रोता द्वारा यथार्थ ग्रह हो तो माध्यन्दिन आद्युदात्त भ्रातृव्य पद के अर्थ में कोई सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता। परन्तु स्वर के यथार्थ उच्चारण के अभाव में अर्थ-सन्देह होगा कि उक्त वचन में शत्रु के वध का निर्देश है अथवा भतीजे के वध का। इस सन्देह के उत्पन्न होने पर ही उसकी निवृत्ति के उपाय की चिन्ता होती है। अतः उक्त सन्देह के मूल की ही निवृत्ति के लिए काण्व शाखा १।२८ में **भ्रातृव्यस्य वधाय** के स्थान पर स्पष्टार्थक **द्विषतो वधाय** पढ़ा है। उदात्तादि स्वरों के उच्चारण-शैथिल्य के अभाव में इस प्रकार के पाठान्तरों की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

२—शाङ्खायन, आश्वलायन और कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में यज्ञकर्म में मन्त्रों का एकश्रुति से उच्चारण विहित है।[2] इससे प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के प्रवचन-काल (३००० विक्रम-पूर्व) से बहुत पूर्व से ही मन्त्रों के सस्वर यथार्थ पाठ[3] करने वाले ऋत्विक् दुर्लभ होने लग गये थे। यज्ञ में स्वरों के मिथ्या उच्चारण से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।[4] इसलिए यज्ञ में कतिपय विशिष्ट मन्त्रों को छोड़कर सामान्यतया एकश्रुति[5] का विधान किया, जिससे स्वरों के अन्यथा उच्चारण से अर्थ का अनर्थ न हो।

यज्ञ में सस्वर पाठ—अति पुराकाल में यज्ञों में समस्त मन्त्रों का पाठ सस्वर ही होता था। इसमें अनेक प्रमाण हैं। यहाँ हम तीन प्रमाणों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

---

१. 'भ्रातुर्व्यच्च', 'व्यन् सपत्ने'। अष्टा० ४।१।१४४,१४५॥ भतीजा अर्थ का वाचक व्यत् प्रत्ययान्त भ्रातृव्य शब्द 'तित् स्वरितम्' (अष्टा० ६।१।१८५) से अन्तस्वरित होता है और शत्रुवाचक व्यन् प्रत्ययान्त 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (अष्टा० ६।१।१९७) से आद्युदात्त।

२. शांखा० १।१; आश्व० १।२; कात्या० १।८।१९॥

३. यहाँ सस्वर पाठ से अभिप्राय सस्वर मुखोच्चारण से है, हस्तादि से स्वर-निर्देश का नहीं।

४. देखो, आगे उद्ध्रियमाण पाणिनीय शिक्षा का "दुष्टो मन्त्रः…"वचन।

५. देखो, इसी पृष्ठ की द्वितीय टिप्पणी।

क—शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

वाचि स्वरमिच्छेत। तया स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्। तस्माद् यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। १४।४।१।२७॥

अर्थात्—उस स्वर से सम्पन्न वाणी से ऋत्विक् कर्म करे।[1] इसलिए यज्ञ में प्रशस्तस्वर [से पाठ करने] वाले को देखने की चाहना ही करते हैं।

ख—श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा में एक वचन है—

दुष्टो मन्त्रः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्॥[2]

अर्थात्—स्वर अथवा वर्ण से अशुद्ध उच्चरित दुष्ट मन्त्र उस अर्थ को नहीं कहता [जिसके लिए उसका उच्चारण किया जाता है।] वह वाग्रूपी वज्र यजमान को नष्ट करता है[3], जैसे स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु ने किया।

इस वचन में इन्द्रशत्रु की जिस आख्यायिका की ओर संकेत है, उसके अनुसार त्वष्टा नाम के असुर ने अपने पुत्र वृत्र की वृद्धि के लिए जो यज्ञ किया था, उसमें इन्द्र के अथवा उसकी भेदनीति के द्वारा अपनी ओर मिलाए गए ऋत्विजों ने **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व** मंत्र में अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु पद के स्थानमें **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व** आद्युदात्त पद का प्रयोग कर दिया। उससे इन्द्र वृत्र का शत्रु=मारनेवाला है यह अर्थ प्रकट हो गया।

इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि उस समय में यज्ञ में मन्त्रों का पाठ सस्वर होता था, अन्यथा एकश्रुतिपक्ष में इस आख्यायिका की उत्पत्ति ही नहीं होती।

ग—नारदीय शिक्षा में, जो कि सम्भवतः उपलब्ध शिक्षा-ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है, लिखा है—

---

१. इसीलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—"जो (पत्नी) वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके।" तृतीय समु० षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ७३।

२. महाभाष्य में भी यह वचन पठित है, उसमें प्रसङ्ग के अनुरूप 'मन्त्रः' के स्थान पर 'शब्दः' पाठ किया है।

३. अर्थात् यजमान के अभिप्राय को, जिसके लिए उसने यज्ञ का आरम्भ किया है।

प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते ।
यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायुः प्रजां पशून् ॥ २।६ ॥

अर्थात्—यज्ञों में स्वर और वर्ण से हीन जो मन्त्र प्रयुक्त होता है, वह यजमान की आयु, प्रजा और पशु आदि को नष्ट करता है।

इन दो प्रमाणों से स्पष्ट है कि अति पुराकाल में यज्ञों में मन्त्र उदात्त आदि स्वरों से युक्त पढ़े जाते थे। उत्तरकाल में सस्वर मन्त्रपाठ में कुशल ऋत्विजों की सुलभता में कठिनाई होने पर यज्ञ में एकश्रुति का विधान किया गया।

३—इनसे कुछ उत्तरवर्त्ती आचार्य पाणिनि (२८०० वि० पूर्व)[1] ने यज्ञकर्म से अन्यत्र भी मन्त्रोच्चारण में विकल्प से एकश्रुति स्वर का विधान किया है। इससे भी क्रमशः सस्वर उच्चारण के शैथिल्य का ही बोध होता है।

४—इसी काल के वाजसनेय प्रातिशाख्य (२८०० वि० पूर्व) में आचार्य कात्यायन ने उदात्तादि स्वरों का हस्त-चालन से निर्देश करने का विधान किया है। यथा—

हस्तेन ते । १।१२१॥

अर्थात्—पूर्वोक्त उदात्त आदि स्वरों का हस्त के ऊर्ध्व-चालन आदि से निदर्शन करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में उदात्त आदि स्वरों के प्रदर्शनार्थ हस्तचालन का सुन्दर विधान उपलब्ध होता है। यह प्रक्रिया आज तक माध्यन्दिनी वेदपाठियों में सुरक्षित है।[2]

---

१. पाश्चात्य तथा तदनुयायी अन्य लेखक पाणिनि को ४००—६०० विक्रम पूर्व मानते हैं। यह नितान्त मिथ्या है। भारतीय इतिहास के अनुसार पाणिनि २८०० वि० पूर्व से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता। देखो—हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १३५–१४०।

२. हस्तचालन द्वारा उदात्तादि स्वरों के बोध की प्रक्रिया स्वामी दयानन्द को भी अभिमत है। द्र० ऋग्भाष्य १।४०।६ भावार्थ—"सस्वरहस्तक्रिया वेदा उपदेष्टव्याः।" इसका अर्थ है—स्वरों की जो हस्तक्रिया (चालन-परिपाटी) उससे युक्त वेदों का उपदेश करे। यदि यहाँ 'हस्तक्रिया' से कला-कौशल का ग्रहण अभीष्ट होता तो "सस्वराः सहस्तक्रियाः" ऐसा पाठ होता। 'सस्वरहस्तक्रिया' एक पद का तो पूर्व संकेतित ही अर्थ हो सकता है।

५—नारदशिक्षा कण्डिका ६ के आरम्भ में साम के सप्तस्वरों का गान गात्र-वीणा में दर्शाया है (इसी प्रकरण में गात्र-वीणा का पूरा स्वरूप भी स्पष्ट किया है)। गात्र-वीणा से साम-स्वरों का प्रदर्शन भी ठीक वैसा ही है, जैसा माध्यन्दिनों में हस्तचालन से स्वरप्रदर्शन।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि उदात्तादि स्वरों का उच्चारण द्वारा भेद-प्रदर्शन चिरकाल से शिथिल हो रहा था। इस शैथिल्य से वेद स्वर-रहित न हो जाएँ, इसलिए तात्कालिक आचार्यों ने हस्त आदि अङ्ग चालन द्वारा उदात्तादि स्वरों के प्रदर्शन की परिपाटी आरम्भ की। इसका यह लाभ हुआ कि वेदों के स्वर-चिह्न नष्ट नहीं हुए, वे आज भी सस्वर उपलब्ध हो रहे हैं।

महाभाष्य और सस्वर पाठ—महाभाष्य १।१।१ में लिखा है—

एवं हि दृश्यते लोके—य उदात्ते कर्तव्ये अनुदात्तं करोति, खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति, अन्यत्वं करोषीति।

अर्थात्—लोक में देखा जाता है कि जो उदात्त करने के स्थान में अनुदात्त कर देता है, उसे खण्डिकोपाध्याय चपड़े लगाता है, अन्यथा करता है?

इस उद्धरण से यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि यहाँ उदात्त आदि स्वर का अन्यथाकरण उच्चारण द्वारा अभिप्रेत है, अथवा हस्तादि के चालन द्वारा। दोनों ही प्रकार के अन्यथाकरण का सम्भव हो सकता है। परन्तु स्वर-लोप के पूर्व-विवरण के प्रकाश में हस्तादि चालन के अन्यथाकरण की ही यहाँ अधिक सम्भावना है।

स्वर-लोप का प्रकार

भाषा में उदात्त आदि स्वरों का क्रमशः किस प्रकार लोप हुआ, इसके ज्ञान के लिए भाषा में प्रयुज्यमान स्वरों की स्थिति का ज्ञान अपेक्षित है।

भाषा में स्वर-स्थिति—वक्ता अपने यथार्थ अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए भाषा का आश्रय लेता है। भाषा वाक्यों के समूह का नाम है। और वाक्य पदों के समूह का।[1] इस प्रकार भाषा की इकाई के पदरूप होने पर भी व्यवहार में वाक्यार्थ की प्रधानता होने से वाक्य ही प्रधान माना जाता है, पद उसकी अपेक्षा गौण होते हैं।[2] इसीलिए निर्वचनशास्त्र-पारङ्गत

---

१. वाक्य और पद के विविध लक्षणों के लिए 'भाषा का इतिहास' (द्वि० सं०) पृष्ठ ७१–९१ तक देखना चाहिए।

२. पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते। संग्रहवचन, वाक्यपदीय विवरण भाग १ पृ० ४२ पर उद्धृत।

आचार्यों का कथन है कि किसी भी पद का निर्वचन उसकी वाक्यस्थ स्थिति का ज्ञान करके ही करना चाहिए, स्वतन्त्र रूप से नहीं।[1]

इस प्रक्रिया के अनुसार प्रतिपद स्वतन्त्र स्वर की विद्यमानता होने पर भी वाक्यार्थ की प्रधानता की दृष्टि में पदों के स्वतन्त्र स्वरों में कुछ परिवर्तन हो जाता है। इसलिए भाषा में प्रयुज्यमान स्वर न केवल पदात्मक हैं और न केवल वाक्यात्मक दोनों का अविभाज्य समन्वय है।

वैदिक ग्रन्थों में प्रयुज्यमान स्वर भी इसी प्रकार के पद-वाक्य उभयात्मक हैं।

पद-स्वर का लोप—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों में उदात्त स्वर ही प्रधान माना जाता है। उदात्त स्वर प्रायः प्रत्येक पद में रहता है। उसी से पद के विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।[2] मेधा के ह्रास के कारण जब प्रतिपद सूक्ष्म-अर्थ-ज्ञान की शक्ति का क्षय हुआ, तब पदस्वर की उपेक्षा के कारण उसका लोप हुआ।

वाक्य-स्वर—प्रतिपद सूक्ष्मार्थ-निदर्शक पदस्वर के लोप के पश्चात् वाक्य-स्वर प्रतिष्ठित हुआ। सम्पूर्ण वाक्य में विशिष्ट अर्थ वक्तव्य होता था, उसे प्रकट करने के लिए वाक्य के उसी पद में उदात्तस्वर का उच्चारण किया जाता था, जिससे वाक्य का विशिष्ट अर्थ अभिव्यक्त हो। इस वाक्यस्थ उदात्तस्वर को संस्कृत में **काकु-स्वर** कहा जाता है। इसे ही पाश्चात्य भाषाविद् बलाघात कहते हैं। सम्प्रति यह काकुस्वर भी प्रत्येक वाक्य में प्रयुक्त नहीं होता, कहीं कहीं ही इस का प्रयोग होता है।

जिस प्रकार संस्कृत भाषा में पदस्वर का लोप हुआ, उसी प्रकार ग्रीक भाषा में भी पदस्वर का लोप हुआ और वह वाक्य-स्वर के रूप में परिणत हो गया।[3]

वाक्य-स्वर का लोप—उत्तर काल में प्रतिवाक्य प्रयुक्त होने वाले काकुस्वर का भी प्रायः लोप हो गया। अब इसका प्रयोग संस्कृत में यत्र तत्र ही देखा जाता है।

---

१. व्युत्पत्तौ वाक्यस्थं पदम्। वाक्यपदीयविवरण भाग १, पृष्ठ ४३। तथा निर्वचनं ब्रूयात् वाक्यार्थस्यावधारणम्। वायुपुराण ५९।१३४॥ नैकपदानि निर्ब्रूयात्। निरुक्त २।२॥

२. उदात्त स्वर से विशिष्टार्थ की प्रतीति कैसे होती है, इसकी विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी।

३. वैदिक-साहित्य-चरित्रम्, पृष्ठ ६०।

सन्दर्भस्वर—काकु नामक वाक्य-स्वर के लोप होने पर वह सन्दर्भस्वर के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सन्दर्भस्वर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

तत्र हास्यश्रृङ्गारयोः स्वरितोदात्तवर्णैः पाठ्यमुपपाद्यम्, वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः करुणबीभत्सभयानकेष्वनुदात्तस्वरितकम्पितैः। १७।११०॥

अर्थात्—हास्य और शृङ्गार रस में स्वरितोदात्त वर्णों से पाठ करे, वीर, रौद्र और अद्भुत रस में उदात्तकम्प से युक्त वर्णों से तथा करुण, बीभत्स और भयानक रस में अनुदात्त, स्वरित कम्प से युक्त वर्णों से।

भरत मुनि के उक्त वचन से स्पष्ट है कि यहाँ भिन्न-भिन्न रस में पाठ्य-सन्दर्भ का भिन्न-भिन्न स्वरों में उच्चारण करने का जो विधान किया है, वह सन्दर्भ-स्वर की स्थिति में ही उपपन्न हो सकता है। पदस्वर अथवा वाक्यस्वर की अवस्था में एक सन्दर्भ का एक स्वर से उच्चारण असम्भव है। अतः सदर्भ स्वर की प्रवृत्ति पद स्वर और वाक्य स्वर के अभाव में ही जाननी चाहिए।

सन्दर्भ-स्वर का लोप—उत्तर काल में भरतमुनि-प्रोक्त स्वर का भी लोप हो गया।

साहित्य-शास्त्र और स्वर—उदात्त आदि स्वरों के लोप में अर्वाचीन साहित्य शास्त्र का भी भारी हाथ है। साहित्यशास्त्रियों ने अपनी बुद्धि का वैभव दिखाने के लिए अर्थ-नियामक स्वर की, जो कि वर्णों का उच्चारण धर्म था, न केवल उपेक्षा की, अपितु उसे काव्यमार्ग में भारी प्रतिबन्धक मानकर उसका विरोध किया। काव्यप्रकाशकार मम्मट लिखता है—

काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते ।९।८४। पृष्ठ ३२१ (मैसूर सं०)

अर्थात्—काव्य-सम्प्रदाय में स्वर-भेद नहीं माना जाता।

इसी को स्पष्ट करता हुआ विश्वनाथ लिखता है—

यदि यत्र क्वचिद् अनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यम्, तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसंगः। साहित्यदर्पण २।१४॥

अर्थात्—यदि कहीं अनेकार्थ शब्दों में प्रकरणादि से अनियन्त्रित अर्थों में स्वर के अनुसार अर्थविशेष का नियमन माना जाए, तो उक्त प्रकार के स्थलों में श्लेष अलंकार की हानि होगी।

साहित्यविशारदों की भ्रान्ति—साहित्यशास्त्र के अनुशीलन करनेवाले लोगों में एक महती भ्रान्ति दिखाई देती है। वे समझते हैं कि स्वर श्लेष में सर्वत्र बाधक है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। **स्वर केवल सभंग श्लेष में ही कुछ सीमा तक[1] बाधक होता है, अभङ्ग श्लेष में तो स्वर कहीं भी बाधक नहीं होता।** साहित्यविशारदों को स्वरशास्त्र का यथार्थ सूक्ष्म ज्ञान न होने से वे उसकी सूक्ष्म विवेचना करने में असमर्थ रहे। अन्यथा वे श्लेषमात्र में स्वर को दोषावह न लिखते।

साहित्यमीमांसक और वैदिक स्वर—इतना होने पर भी साहित्य-मीमांसकों ने वेद में स्वर की अर्थ-परिच्छेदकता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। विश्वनाथ स्पष्ट शब्दों में लिखता है—

स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्। साहित्यदर्पण परि० ३।

अर्थात्—स्वर वेद में ही विशेष अर्थ का द्योतन कराने वाला है [काव्य में नहीं]।

कतिपय आर्यसमाजी महारथी—मध्यकालीन साहित्यशास्त्रियों ने काव्य-शास्त्र में स्वर को अनुपयोगी मानते हुए भी वेद में उसकी उपयोगिता स्वीकार की है। परन्तु साहित्य शास्त्र-मात्र तक कुछ गति रखने वाले आर्यसमाज के कतिपय गुरुकुलों के आचार्य तथा वेद के माने गए विद्वान् वेदार्थ में भी स्वर को उसी प्रकार बाधक मानते हैं, जिस प्रकार साहित्यशास्त्री काव्यशास्त्र में। श्लेषालंकार के विषय में वस्तुतः इन विद्वानों ने साहित्यशास्त्र का भी विधिवत् सांगोपाङ्ग अध्ययन नहीं किया, अन्य शास्त्रों के विषय में तो कहना ही क्या? व्याकरण की किञ्चित् गन्ध ले लेने पर भी स्वर-शास्त्र के पास भी नहीं फटके। इतना ही नहीं, इन्होंने अपने आचार्य के ग्रन्थों का भी ध्यानपूर्वक मनन नहीं किया। अत एव ये लोग वेदार्थ में भी स्वर को बाधक मानते हैं। मानें भी क्यों नहीं, इनके अनियन्त्रित, स्वकल्पित, मनमाने तथा कथित वेदार्थ में स्वर बाधक जो बनता है। अब तो आर्यसमाज में ऐसे भी स्वयम्भू आचार्य उत्पन्न हो गए हैं जो वेदार्थ में व्याकरण, निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थ जैसे साक्षात् उपकारक शास्त्रों

---

१. सभङ्गश्लेष में जहाँ स्वर का विरोध नहीं होता, वहां वेद में सभङ्ग-श्लेष भी माना जाता है। यथा 'मासकृत्' (ऋ० १।१०५।१८) पद में—मा सकृत्, मासकृत्। देखो निरुक्त ५।२१॥ इस पर विशेष विचार अध्याय ८ में किया गया है, वहां देखिए।

को भी वेदार्थ में बाधक कहने की धृष्टता करते हैं। वे अपनी स्वकथित अन्तः-साधना अथवा तपस्या को ही एकमात्र वेदार्थ का साधन मानते हैं।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वर—स्वामी दयानन्द सरस्वती इस युग के असाधारण-प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी प्रत्येक शास्त्र में अप्रतिहत गति थी। उन्होंने अपनी लोकोत्तर सूक्ष्म मेधा के द्वारा देशकाल से व्यवहित अनेक ऐसे प्राचीन सूक्ष्म तत्त्वों का पुनर्दर्शन किया, जो भगवान् व्यास, याज्ञ-वल्क्य और जैमिनि आदि के काल में भी संम्भवतः लुप्त हो चुके थे।[2] ऐसा प्रतिभाशाली विद्वान् लिखता है—

वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३७४ (तृ० सं०)।

अर्थात्—वेदार्थ में उपयोगी होने से संक्षेप से स्वरों की व्यवस्था लिखते हैं।

सौवर की भूमिका में—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सौवर ग्रन्थ की भूमिका में 'स्वरशास्त्र की वेदार्थ में क्या उपयोगिता है और उसके अज्ञान से क्या हानि हो सकती है' इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

क—जबतक उदात्तादि स्वरों को ठीक ठीक नहीं जानते तबतक··· ठीक ठीक अर्थ भी नहीं जाने जासकते।

ख—इसलिए जैसा अपना इष्ट अर्थ हो वैसे स्वर और वर्ण का ही नियम पूर्वक उच्चारण करना चाहिये।[3]

ग—जब मनुष्य को उदात्तादि स्वरों का ठीक ठीक बोध हो जाता

---

१. पच्चीस वर्ष हुए हमने एक ऐसे वेदभाष्यकार के भी दर्शन किए थे, जिन्हें लौकिक संस्कृत का नाममात्र भी ज्ञान नहीं था। उन्होंने अपनी साधना और अन्तःप्रेरणा से ऋग्वेद के एक आध सूक्त का ऊटपटांग भाष्य छपवाया था। ये महात्मा अमृतसर के निवासी थे॥

२. देखिए, 'वेदार्थ की विविध-प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक हमारा निबन्ध, पृष्ठ २९-३१॥ विस्तार के लिए शीघ्र प्रकाशित होने वाला "वेदार्थ-मीमांसा" ग्रन्थ।

३. तुलना करो—[व्याकरणेन] संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते। तेषां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति। पात्रमाहर, आहर पात्रं वा। महाभाष्य १।१।१ वृद्धिसूत्रे।

है, तब स्वर लगे हुए लौकिक वैदिक शब्दों के नियत अर्थों को शीघ्र जान लेता है।

घ—एक प्रकार[1] के शब्दों का अर्थभेद स्वर व्यवस्था के जानने से ही निकलता है।[2]

ङ—जो स्वर व्यवस्था का बोध न हो तो लौट पौट व्यभिचार हो जाने से बड़ा अन्धेर फैल जावे।

च—उदात्तादि स्वरज्ञान के विना अर्थ की भ्रान्ति नहीं छूटती…।

इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज के वैदिक विद्वानों का वेदार्थ में स्वरशास्त्र की उपेक्षा करना, अथवा उसे वेदार्थ में बाधक बताना उनके अपने आचार्य के मन्तव्य के ही विपरीत है। वास्तविकता तो यह है कि स्वरशास्त्र के ज्ञान के बिना वेद का वास्तविक अर्थ समझ में आ ही नहीं सकता।[3] अतः वेद के जिज्ञासु को स्वरशास्त्र का यथार्थ ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

अब अगले अध्याय में उदात्त आदि स्वरों का पदार्थ और वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी मीमांसा करेंगे।

---

१. अर्थात् स्वरातिरिक्त वर्णध्वनि के समान होने से एक जैसे प्रतीत होने वाले शब्दों के।

२. इस तत्त्व के परिज्ञान के लिए देखिए पञ्चम अध्याय के अन्त में संगृहीत कतिपय शब्द।

३. इसकी विशेष मीमांसा आठवें अध्याय में की जायेगी।

पञ्चम अध्याय

स्वर का पदार्थ और वाक्यार्थ पर प्रभाव

उदात्त आदि स्वरों के भेद, उनके उच्चारण-प्रकार तथा संसार की प्राचीन भाषाओं में उनका सद्भाव आदि विषयों पर गत अध्यायों में लिखा जा चुका है। स्वरों का पदार्थ और वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी मीमांसा इस अध्याय में की जाएगी।

गत अध्याय में इन्द्रशत्रु-सम्बन्धी जिस आख्यायिका का संक्षेप से निर्देश किया है, उससे स्पष्ट है कि आद्युदात्त और अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु शब्द के अर्थ में कितना अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी के **क्षयो निवासे, जयः करणम्** (६।१।२०१,२०२) सूत्रों से भी स्पष्ट है कि आद्युदात्त 'क्षय' शब्द गृह का वाची होता है और अन्तोदात्त नाश अथवा हानि का। इसी प्रकार आद्युदात्त 'जय' का अर्थ होता है जीत का साधन अश्वादि और अन्तोदात्त का अर्थ होता है जीतना।

पदार्थ पर पड़ने वाले स्वर-भेद के प्रभाव को अधिक स्पष्टतया समझाने के लिए सस्वर पद अथवा वाक्य का निर्देश करना अत्यावश्यक है। इसलिए हम पहले स्वर-चिह्नों का निर्देश करते हैं।

उदात्त आदि स्वरों के चिह्न—चिह्न सभी कल्पित होते हैं, अतः रुचिभेद और मतिवैचित्र्य के कारण कल्पना में वैविध्य होना स्वाभाविक है। इसी कारण वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों के चिह्न भी विविध रूप में उपलब्ध होते हैं। उनका विशेष वर्णन दसवें अध्याय में यथास्थान किया जाएगा। हम यहाँ साधारण रूप में प्रयुक्त होने वाले तीन स्वर-चिह्नों का निर्देश करते हैं—

उदात्त—उदात्त स्वर वाले वर्ण पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता। यथा—**अ॒ग्निम्**। इसमें **'ग्नि'** पर कोई चिह्न नहीं है, अतः इसे उदात्त समझना चाहिए।[1]

अनुदात्त—अनुदात्त स्वर वाले वर्ण के नीचे पड़ी रेखा लगाई जाती है।

---

१. उदात्तादि धर्म स्वरों=अचों के ही होते हैं, व्यञ्जनों के नहीं। यह हम पूर्व लिख चुके। अतः यहाँ 'ग्नि' के इकार को उदात्त समझना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी समझें॥

यथा—अ॒ग्निम्, भा॒र॒द्वा॒जः। यहाँ अ, भा, र, द्वा के नीचे पड़ी रेखा लगी है, अतः इन्हें अनुदात्त स्वर-युक्त समझना चाहिए।

स्वरित—स्वरित स्वरवाले वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा लगाई जाती है। यथा—अ॒ग्निमी॑ळे, का॒र्य॑म्। इनमें अ॒, का॒ अनुदात्त हैं, मीं, यँ के ऊपर खड़ी रेखा लगी है, अतः ये स्वरित हैं।

एकश्रुति अथवा प्रचय—एकश्रुति स्वर के विषय में द्वितीय अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। संहिता में जो अक्षर एकश्रुति स्वर से युक्त होते हैं, उन पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं लगाया जाता। यथा—**अ॒ग्निमी॑ळे**। यहाँ ळे एकश्रुति स्वर से युक्त है।

उदात्त और एकश्रुति चिह्नरहित—ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि वैदिक ग्रन्थों में उदात्त और एकश्रुति दोनों पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता, इसलिए इन दोनों का भेद जानना आवश्यक है।

उदात्त और एकश्रुति का भेद—स्वरित अथवा अनुदात्त चिह्नयुक्त वर्ण से पूर्व जो एक अथवा दो वर्ण किसी भी प्रकार के चिह्न से रहित हों, उन्हें **उदात्त** जानना चाहिए, और जो स्वरित चिह्नयुक्त वर्ण से परे बिना चिह्नयुक्त के वर्ण हों, उन्हें **एकश्रुति**-स्वरयुक्त समझना चाहिये।

स्वरित के दो भेद—स्वरित स्वर ९ प्रकार का होता है। उनकी विशद व्याख्या तृतीय अध्याय में कर चुके। यहाँ हमें दो प्रकार के स्वरितों से कार्य है। एक वह जो उदात्त स्वर से परे होता है। इसे संहितज स्वरित कहते हैं। दूसरा जो अनुदात्त[1] से परे देखा जाता है। इसे जात्यस्वरित कहा जाता है। जो स्वरित समान पद में उदात्त से परे उपलब्ध होता है, वह यथार्थ में अनुदात्त ही होता है। अतः इस संहितज स्वरित का पदार्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो स्वरित एक पद में अनुदात्त से परे अथवा क आदि एकाच् पदों में स्वतन्त्ररूप से प्रयुक्त होता है, वह जात्यस्वरित शब्दार्थ पर कुछ प्रभाव डालता है। इसलिए ९ प्रकार के स्वरितों में अर्थ की दृष्टि से केवल जात्यस्वरित ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[2]

---

१. यहाँ अनुदात्त से अभिप्राय अनुदात्तस्वरयुक्त वर्ण से है। ऐसे ही उदात्त और स्वरित का अभिप्राय उन उन स्वरों से युक्त वर्णों से है॥

२. जिन वैदिक ग्रन्थों में उदात्त स्वर पर ही चिह्न लगाया जाता है, उनमें भी जात्यस्वरित को प्रकट करने के लिए विशिष्ट संकेत किया जाता है। इससे भी जात्यस्वरित की प्रधानता स्पष्ट है॥

उदात्त आदि स्वरों का पदार्थ पर प्रभाव

उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित स्वरों (उच्चारण धर्मों) का शब्द के अर्थों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विवरण हम नीचे देते हैं।

पदस्वर—प्राचीन वैयाकरणों और नैरुक्तों के मतानुसार संस्कृत भाषा में जितने भी नाम[1] और आख्यात (क्रियापद) हैं, वे सब धातु और प्रत्यय के योग से बने हुए हैं।[2] प्रायः एक पद में एक वर्ण ही उदात्त होता है, शेष वर्ण अनुदात्त रहते हैं।[3] उदात्त और अनुदात्त में उदात्त ही प्रधान होता है (अत एव एक पद में एक ही उदात्त होता है, अधिक नहीं, अनुदात्त तो अनेक होते हैं)। पद के प्रकृति अथवा प्रत्ययरूपी जिस भाग में उदात्त स्वर रहता है उसी भाग का अर्थ मुख्य होता है। अत एव निरुक्तकार यास्क ने लिखा है—

तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। निरुक्त ४।२५॥

अर्थात्—उदात्त का अर्थ तीव्र होता है, और अनुदात्त का अल्प = गौण।

इसी भाव को पाणिनि ने **उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः** (अष्टा० १।२।२९–३१) सूत्रों से दर्शाया है। ये सूत्र कतिपय प्रातिशाख्यों में भी उपलब्ध होते हैं।

शिशुपालवध में उदात्त स्वर की प्रधानता का संकेत—महाकवि माघ ने शिशुपालवध २।९० में प्रसङ्गात् उपमा द्वारा उदात्त स्वर की प्रधानता का वर्णन इस प्रकार किया है—

---

१. कतिपय आधुनिक वैयाकरण रूढ़ माने जाने वाले शब्दों को धातु-निष्पन्न नहीं मानते। परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा में कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। द्रष्टव्य—हमारा सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ ९–१३ (अ० १९)। यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अंग नहीं हैं। इसीलिए वैयाकरणों में एक पक्ष है—**न सन्ति यदृच्छाशब्दाः।** (महाभाष्य ऋलृक्सूत्रे) अर्थात् यदृच्छा शब्द नहीं हैं। द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ ८, ९ (अ० ९)॥

२. प्राचीन वैयाकरणों के मतानुसार अव्यय, निपात और उपसर्ग भी धातु से निष्पन्न माने जाते हैं॥

३. 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'। अष्टा० ६।१।१५८॥

अनल्पत्वात् प्रधानत्वादंशस्येवेतरे स्वराः ।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥

इसकी व्याख्या करता हुआ वल्लभदेव[४] लिखता है—

क इव इतरे स्वरा इव । यथाऽन्ये स्वरा अनुदात्तादयः अंशस्य अंशाभिधानस्वरस्य उदात्तस्वरस्य बहुलध्वनेः परिवारतां गच्छन्ति । सोऽपि सकृदुच्चारणादल्पो भवति । उक्तं च—'योऽत्यन्तबहुलो यत्र वादी चांशस्य तत्र सः' इति । अतएव प्रधानत्वम् ।

अर्थात्—जिस प्रकार अन्य अनुदात्त आदि स्वर अवयवार्थ को कहने वाले उदात्त स्वर उच्चध्वनि के परिवारपन को प्राप्त होते हैं । वह उदात्त स्वर (पद में) एक बार उच्चरित होने से अल्प होता है (अनुदात्त आदि की दृष्टि से) । कहा भी है—जो उच्च ध्वनि वाला स्वर है वह वक्ता के जिस अवयवार्थ को प्रकट करने की इच्छा होती है वहाँ होता है । इसीलिए उस (उदात्तस्वर) की प्रधानता होती है ।

समास-स्वर—जिस प्रकार एक पद में उदात्त स्वर वाले प्रकृति अथवा प्रत्यय भाग के अर्थ की प्रधानता होती है, उसी प्रकार समास में भी जिस पद में उदात्तत्व रहता है, समास में उसी पद का अर्थ प्रधान होता है । वेङ्कट माधव लिखता है—

तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्तते ।
उदात्तस्तत्र भवति..................॥
यदि स्वरः पूर्वपदे तदर्थः प्रस्फुटो भवेत् ।
सर्वेष्वेव समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत् ।
काशं कुशं वावलम्ब्य स्वरं तं स्थापयेदिति ॥

स्वरानुक्रमणी १।३।२, ३, २२ ॥

अर्थात्—उत्तरपद के अर्थ की जहाँ प्रधानता होती है, वहाँ उत्तरपद में उदात्त स्वर रहता है । यदि उदात्त स्वर पूर्वपद में हो तो उसका अर्थ विस्पष्ट = प्रधान होता है । सब समासों में जहाँ जहाँ उदात्त स्वर हो, उसके अर्थ की प्रधानता किसी न किसी प्रकार (काशकुशावलम्बन्याय से) स्पष्ट करनी चाहिए ।

वह पुनः लिखता है—

---

४. मल्लिनाथ की टीका में श्लोक में 'वंशस्येवेतरे स्वराः' पाठ मानकर अन्यथा व्याख्या की है ।

सर्वेष्वेव समासेषु कार्या सूक्ष्मेक्षिका बुधैः।
पदेषु चासमस्तेषु शुद्धमर्थमभीप्सुभिः॥

स्वरानु० १।४।९॥

अर्थात्—सब समासों में और असमस्त पदों में शुद्ध अर्थ को चाहना करने वाले को सूक्ष्म विचार करना चाहिए।

वाक्य-स्वर—इसी प्रकार वाक्य में जिन क्रियादि पदों का उदात्तत्व अथवा अनुदात्तत्व देखा जाता है, वहाँ उनके अर्थों की प्रधानता अथवा गौणता होती है। इस विषय का उपपादन करके वेङ्कट माधव स्पष्ट शब्दों में लिखता है—

एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निश्चयः॥

स्वरा० १।१।२१॥

अर्थात्—वाक्य के अथवा समास के जिस पद में अथवा पद के जिस वर्ण में उदात्त स्वर हो, उसी में काकु (=विशेषार्थबोधक ध्वनि-विशेष) समझनी चाहिए, यह बात निश्चित है।

समासस्वर और वाक्य स्वर को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं—

ब्राह्मणग्रामंगच्छ=हे ब्राह्मण! गाँव को जा।

ब्राह्मणग्रामंगच्छ=ब्राह्मणों का जो ग्राम (निवास स्थान) है, उसको जा।

ब्राह्मणग्रामंगच्छ=ब्राह्मणों के समुदाय को लक्ष्य करके जा। अथवा ब्राह्मण स्वामिक ग्राम को जा।[1]

पहले वाक्य में ब्राह्मण और ग्राम दोनों पदों में उदात्तत्व होने से ये दो स्वतन्त्र पद हैं। ब्राह्मण पद में यहाँ जो आद्युदात्तत्व दिखाई पड़ रहा है वह संबोधन के कारण है।[2] अतः इसका अर्थ होगा—हे ब्राह्मण! गाँव को जा। द्वितीय और तृतीय वाक्य में ब्राह्मणग्राम समुदाय में एक उदात्त है। अतः ये दोनों पद समस्त हैं।[3] द्वितीय वाक्य में अन्तोदात्त स्वर होने से वहाँ षष्ठी

---

१. अष्टा० ६।२।८४॥

२. ब्राह्मण पद अन्तोदात्त है। पर यहाँ 'आमन्त्रितस्य च' (अष्टा० ६।१।१९८) से आद्युदात्त है।

३. समास का फल अनेक पदों का एक पद और अनेक स्वरों का एक स्वर होना ही है। द्र० 'समर्थः पदविधिः' (अ० २।१।१) सूत्र का भाष्य।

तत्पुरुष समास जाना जाता है।[1] अतः अर्थ होगा—ब्राह्मणों का जो ग्राम (निवासस्थान) है, उसको जा। तृतीय वाक्य में पूर्वपद ब्राह्मण में उदात्तत्व है। इसलिए इसका अर्थ होगा—ब्राह्मणों का जो ग्राम समुदाय उसको लक्ष्य करके जा, अथवा ब्राह्मण स्वामिक ग्राम को जा।[2]

उदात्त स्वर के शब्दार्थ पर पड़नेवाले प्रभाव के उदाहरण

अब हम उदात्त स्वर के शब्दार्थ पर पड़नेवाले पूर्वनिर्दिष्ट प्रभाव को कतिपय उदाहरणों से व्यक्त करते हैं—

पद-स्वर—पाणिनि के मतानुसार गन्ता, पक्ता आदि पद तृच् और तृन् प्रत्ययों से निष्पन्न होते हैं। तृजन्त गन्ता, पक्ता आदि पद अन्तोदात्त होते हैं, अर्थात् उनके प्रत्ययभाग में उदात्तस्वर रहता है और तृन्नन्त गन्ता पक्ता आदि पद आद्युदात्त होते हैं, अतः उनके धातुभाग में उदात्तस्वर रहता है। इसलिए तृजन्त **गन्ता, पक्ता** पद के अर्थ में क्रिया करने वाले कर्त्ता की मुख्यता होती है—जाने अथवा पकाने की क्रिया **करने वाला**। तृनन्त **गन्ता पक्ता**[3] में धात्वर्थ की प्रधानता होती है। अतः उनका अर्थ होगा—**अच्छे प्रकार जाने** अथवा **पकाने** की क्रिया करने वाला। इस अर्थ में धात्वर्थ की मुख्यता होने से क्रिया का सौष्ठव विशेष रूप से व्यक्त होता है।

इसी अभिप्राय को वेङ्कट माधव ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

तृन्तृचोरर्थभेदोऽयं प्रकृत्यर्थः स्फुटस्तृनि।
तृचि स्फुटः प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः ॥

स्वरानु० १।८।७ ॥

वाक्य-स्वर[4]—अब इन्हीं गन्ता और पक्ता शब्दों को वाक्य में प्रयुक्त कीजिए। वाक्य में भी इसका प्रयोग दो प्रकार से होगा, वाक्य के आरम्भ में

---

१. 'समासस्य'। अष्टा० ६।१।२२३ ॥

२. द्र० ग्रामेऽनिवसन्तः। अष्टा० ६।२।८४ ॥ वणिग्ग्रामः। ग्रामशब्दोऽत्र समूहवाची। देवग्रामः। देवस्वामिक इत्यर्थः। काशिका ६।२।८४ ॥

३. इस प्रकरण में उदात्त और अनुदात्त के स्पष्ट भेद-ज्ञान के लिए उदात्त से परे अनुदात्तों का स्वरित और एकश्रुति स्वर से निर्देश नहीं किया है ॥

४. यद्यपि क्रमानुसार इस स्वर का वर्णन समासस्वर के पश्चात् करना चाहिए, तथापि पदस्वर से इसका साक्षात् संबन्ध होने से इसका प्रथम निर्देश किया है ॥

और क्रिया अन्त में, अथवा क्रिया आरम्भ में और गन्ता आदि पद अन्त में। दोनों प्रकार से स्वरों में भेद होता है और अर्थ भी भिन्न होता है। यथा—

गन्ता गच्छति, पक्ता गच्छति इन वाक्यों में **गन्ता, पक्ता** के प्रत्ययभाग में उदात्तत्व है और **गच्छति** पद सारा अनुदात्त है। अतः इन वाक्यों में **तृच्** प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता होगी और **गच्छति** क्रिया की गौणता। तदनुसार अर्थ होगा—जाने अथवा पकाने की क्रिया **करने वाला** जाता है।

गन्ता गच्छति, पक्ता गच्छति इन वाक्यों में **गन्ता** और **पक्ता** के धातु भाग में उदात्तस्वर और **गच्छति** अनुदात्त है। अतः इन वाक्यों में गन्ता और पक्ता के धात्वर्थ की ही प्रधानता होगी। अर्थ होगा—**अच्छे प्रकार जाने** अथवा **पकाने** की क्रिया करने वाला जाता है।

अब इन्हीं वाक्यों को उलट दीजिए, **गच्छति** क्रिया का प्रयोग पहले कीजिए, झट **गच्छति** क्रिया उदात्त हो जाएगी और उसके अर्थ की प्रधानता व्यक्त होगी—

गच्छति गन्ता, गच्छति गन्ता, गच्छति पक्ता, गच्छति पक्ता—इन वाक्यों में गन्ता और पक्ता पदों में तो स्वर-भेद से पूर्व वाला ही अर्थ-भेद व्यक्त होगा, परन्तु **गच्छति** पद में उदात्त स्वर आ जाने से **'गच्छति'** क्रिया की प्रधानता होगी और उसी प्रकार से उसके अर्थ की प्रधानता व्यक्त होगी, जैसे हिन्दी के **जा रहा है देवदत्त** वाक्य में **जा रहा है** अर्थ की प्रधानता स्पष्ट प्रतीत होती है। अब इसी **गच्छति पद** में उदात्तत्व के साथ काकुध्वनि और मिश्रित कर दीजिये, अर्थ होगा— **जा रहा है ?** (प्रश्नात्मक)।

इसी अभिप्राय के स्पष्टीकरण के लिए एक और उदाहरण देते हैं—

हन्तारौ हतः सर्पम्। हतो हन्तारौ सर्पम्।

इन दोनों वाक्यों में पहले का अर्थ होगा—'मारने वाले मारते हैं साँप को।' इसमें 'मारना' क्रिया के अप्रधान होने से सर्प का मरण निश्चित नहीं। दूसरे का अर्थ होगा—'मारते हैं मारने वाले साँप को।' यहाँ मारना क्रिया का प्राधान्य होने से सर्प का मारा जाना निश्चित रूप से द्योतित होता है।

वक्ता के अभिप्राय विशेष की प्रतीति स्वरविशेष से होती है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—

संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते। तेषां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति। तद्यथा—आहर पात्रम्, पात्रमाहरेति। महा० १।१।१ वृद्धिसूत्र।

अर्थात्—व्याकरण तो पदों का संस्कार करके उन्हें छोड़ देता है। उनका यथेष्ट (=वक्ता के अभिप्रायानुसार) संबन्ध होता है। **आहर पात्रम्—पात्रमाहर।**

यहाँ यदि वक्ता को आहरणक्रिया का त्वरितत्व द्योतन करना होगा तो वह **आहर पात्रम्** ऐसा प्रयोग करेगा और पात्राहरण सामान्य की विवक्षा होगी तो **पात्रमाहर** ऐसा उच्चारण करेगा।

समास-स्वर—इसी प्रकार स्वर की महिमा समास में देखिए—समासभेद से स्वर-भेद अथवा यों कहिए स्वरभेद से अर्थ-भेद होता है। उदाहरण है—

कृष्णकम्बलम् आनय, कृष्णकम्बलम् आनय।

इन दोनों वाक्यों में **कृष्णकम्बल** पद में दो प्रकार का स्वर है। एक में पूर्वपद **कृष्ण** में उदात्त स्वर है, दूसरे में उत्तरपद **कम्बल** में। अतः उदात्तस्वर की महिमा से दोनों का अर्थ इस प्रकार होगा—

प्रथम कृष्णकम्बल पद में **कृष्ण** में उदात्तत्व होने से अर्थ होगा—काले कम्बल वाले को लाओ। इसमें कृष्ण और कम्बल दोनों की प्रधानता न होकर अन्य पदार्थ—काले कम्बल वाले की प्रधानता है। कृष्ण और कम्बल दोनों अप्रधान=गौण हैं। परन्तु इन दोनों गौण पदों में भी तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि दोनों में कृष्ण प्रधान है और कम्बल पद गौण। कम्बल वाले अनेक पुरुष उपस्थित हैं। अतः किसको लाया जाए, इसको व्यक्त करने के लिए कम्बल का कृष्ण विशेषण दिया गया। इससे दोनों पदों के गौण होने पर भी कम्बल की अपेक्षा कृष्ण की प्रधानता है। इसी प्रधानता को व्यक्त करने के लिए उदात्त स्वर कम्बल पर न होकर कृष्ण पद में उच्चरित होता है। इसी सूक्ष्म तत्त्व को व्यक्त करने के लिए पाणिनि ने उत्सर्ग सूत्र पढ़ा—**बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) अर्थात् बहुव्रीहि में पूर्वपद का जो स्वर है, वही समास में भी रहता है।

द्वितीय कृष्णकम्बल पद में कम्बल में उदात्तत्व है। इसलिए इसका अर्थ होगा—काला कम्बल लाओ। इसमें कृष्ण और कम्बल दोनों पदों में से कम्बल पद की प्रधानता है। क्योंकि वक्ता कम्बल मँगाना चाहता है, और सेवक भी कम्बल ही लाकर उपस्थित करता है। कृष्णत्व धर्म भी कम्बल के आश्रित होकर ही अर्थ को व्यक्त करता है स्वतन्त्र रूप से नहीं। यदि कृष्णत्व-धर्म का आनयन वक्ता को मुख्य रूप से अभिप्रेत हो तो कृष्णत्व-धर्म-विशिष्ट किसी भी

पदार्थ से वक्ता का अभिप्राय सिद्ध हो सकता है। यतः वक्ता काले कम्बल को ही मँगाना चाहता है और कृष्णत्व-धर्म-विशिष्ट कम्बल के समय पर उपलब्ध न होने पर उसके प्रतिनिधि रूप में कम्बल मात्र से कार्य चलाया जा सकता है। अतः उदात्तस्वर कम्बल में ही उच्चरित होता है, कृष्ण में नहीं।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिये दूसरा उदाहरण लीजिए—कोई गृहस्वामी यज्ञ आदि कार्य कराने के लिए वृद्ध ब्राह्मण को बुलाना चाहता है। वह सेवक को कहता है—**वृद्धब्राह्मणम् आनय**। दैवयोग से सेवक को यज्ञकर्म के लिए वृद्धब्राह्मण नहीं मिलता, वापस आ जाता है। उस पर रुष्ट होकर स्वामी कहता है—अरे मूर्ख वृद्धब्राह्मण नहीं मिला तो किसी भी ब्राह्मण को ले आता, हमें तो यज्ञ कराना है, वृद्ध से ही तो विशेष प्रयोजन नहीं।

इससे स्पष्ट है कि विशेष्यविशेषण समास में पूर्वपद विशेषण की अपेक्षा उत्तरपद विशेष्य के अर्थ की मुख्यता होती है। इसी तत्त्व को व्यक्त करने के लिए पाणिनि ने एक उत्सर्ग सूत्र पढ़ा—**समासस्य**। (६।१।२२३) अर्थात् समास (अगले अपवादों को छोड़कर) अन्तोदात्त होता है।

पद, समास और वाक्यस्वरों में तारतम्य—पदस्वर, समासस्वर और वाक्यस्वर (तिङ्स्वर) में वाक्यस्वर की अपेक्षा समासस्वर और उसकी अपेक्षा पदस्वर सूक्ष्म होता है। यह हमारी पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है। इसीलिए वेंकट माधव लिखता है—

तत्रैतस्मिन् पदे काकुर्देवैरेवावगम्यते।

सूक्ष्मविद्भिः समासस्थः प्राकृतैरपि तिङ्स्वरः॥ स्वरानुक्रमणी १।१।२२॥

अर्थात्—पदान्तर्गत काकु = उदात्तस्वर (यथा—गन्ता-गन्ता) से अर्थ का सूक्ष्मभेद देवों से ही जाना जा सकता है। समासस्वर से अर्थ-भेद सूक्ष्मविद् विद्वानों से ज्ञेय है। और तिङ्स्वर (= वाक्यस्वर) से गम्यमान अर्थभेद साधारण जनों से भी जाना जाता है।

हिन्दी में तिङ्स्वर—यह स्थूल तिङ्स्वर हिन्दी में भी थोड़ा बहुत प्रयुक्त होता है। यथा—जा देवदत्त, देवदत्त जा। पूर्ववाक्य में वक्ता जा पद पर बल देता है और द्वितीय वाक्य में जा धीरे से बोला जाता है। यह उच्चारण तथा उससे प्रतीयमान सूक्ष्म अर्थभेद स्वाभाविक है। इसीलिए संस्कृत में भी जहाँ आख्यात वाक्य के आरम्भ में आता है वह उदात्त होता है, और वाक्य के मध्य अथवा अन्त में प्रयोग होने पर **'यत्'** आदि से असंबद्ध आख्यात

अनुदात्त होता है। किन्तु जहाँ आख्यात के वाक्य के मध्य अथवा अन्त में प्रयोग करने पर भी आख्यतार्थ की प्रधानता अपेक्षित होती है वहाँ **'यत् च ह वा'** आदि का प्रयोग किया जाता है जिससे उस क्रिया की विशेषता का बोध होता है। तदनुसार ही उनके अर्थ की मुख्यता अथवा गौणता व्यक्त होती है।

ये तो हुए लौकिक भाषा में स्वरभेद से अर्थभेद के कतिपय उदाहरण। अब हम वैदिक ग्रन्थों से स्वरभेद से अर्थभेद के उदाहरण देते हैं—

वैदिक भाषा में स्वरभेद से अर्थभेद

ऋग्वेद में एक मन्त्र है—**हनो॑ वृ॒त्रं जया॑ अ॒पः** (१।८०।३)। इसमें **जयाः** पद आद्युदात्त है।

अथर्ववेद में दूसरा मन्त्र है—**ज॒यो मे॑ स॒व्य आहि॑तः** (७।५२ (५०)।८)। इसमें **जयः** अन्तोदात्त है।

इन दोनों मन्त्रों में प्रयुक्त 'जय' में स्वरभेद होने से निश्चय ही दोनों का एक अर्थ नहीं हो सकता।

आद्युदात्त **जयाः** पद दो प्रकार से उपपन्न हो सकता है। एक **जयः करणम्** (अ० ६।१।२०२) सूत्र से करण अर्थ में, दूसरा लेट् लकार के मध्यम पुरुष के एक वचन में।[1] करणवाची अकारान्त जय शब्द के बहुवचन का अर्थ इस मन्त्र में संबद्ध नहीं हो सकता, परिशेष्य से इसे लेट् लकार का रूप मानना होगा। अतः अर्थ होगा—'अपों (=जलों) को जीत [हे इन्द्र तू]।

दूसरे मन्त्र में प्रयुक्त अन्तोदात्त **जयः** पद भावार्थक अच्-प्रत्ययान्त है। अतः इसका अर्थ होगा—'मेरे बाएँ हाथ में जीत रखी हुई है।'

इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वरभेद से अर्थभेद समझना चाहिए। इसीलिए वेङ्कट माधव लिखता है—

अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः।
यदा न तं स्वरं पश्येद् अन्यथार्थं तदानयेत्॥

अर्थात्—अर्थ के समान होने पर शब्द का स्वर सर्वत्र समान होता है। जब कहीं उस समान स्वर को न देखे, तब उस शब्द का अर्थ भी अन्य ही करे।

---

१. शप् के अनुदात्त होने से धातुस्वर होता है। वाक्य के आदि में होने से 'तिङ्ङतिङः' (अ० ८।१।२८) से निघात (=सर्वानुदात्त) नहीं होता॥

वेङ्कट माधव ने अपने ऋग्वेद भाष्य में, विशेषकर बृहद् भाष्य (जो माधव के नाम से अडियार-मद्रास से छपा है) में इस नियम का सर्वत्र पालन किया है। हम उसके कतिपय शब्दों की सूची देते हैं—

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
जठरः	अग्निः	४२६, ७३९
जठरः	उदरवचनः	
यमः	येन गच्छति	५०१
यमः	वैवस्वतः	
सत्यम्	ऋतार्थे	५२७
सत्यम्	दारिद्र्ये	
ज्येष्ठः	प्रशस्यः	५६९
ज्येष्ठः	वयसा ज्येष्ठः	
सुकृतम्	निष्ठान्तम्	५८३
सुकृतम्	क्विबन्तम्	
सुकृतम्	भावे निष्ठान्तं बहुव्रीहौ	

इसी प्रकार निम्न शब्दों के विषय में भी वेङ्कट माधव का अभिप्राय देखिए—

निषत्त (पृष्ठ ५०८), वना (पृष्ठ ५१३), क्षपावान् (पृष्ठ ५१४), अश्व्य (पृष्ठ ५३९), अद्भुत (पृष्ठ ५४१), अर्वाचीन (पृष्ठ ५६८), अर्ध (पृष्ठ ६१८), छन्द (पृष्ठ ६२१, ६२२), दक्षिणे (पृष्ठ ६३९), अन्ध (पृष्ठ ६३७, ६३८), नोधा (पृष्ठ ६८८)।

इस प्रकार हमने स्वरभेद से होने वाले अर्थभेद के कतिपय उदाहरण देकर उदात्त स्वर के शब्दार्थ और वाक्यार्थ पर पड़ने वाले प्रभाव का स्पष्टीकरण कर दिया।

विशेष—हमने इस प्रकरण में यथाज्ञान और यथाशक्ति स्वरभेद से होने वाले अर्थभेद पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। यद्यपि हम इस नियम को सर्वथा युक्त और अपवादरहित मानते हैं तथापि ऐसे पचासों शब्द हैं

जिनमें स्वरभेद दिखाई देता है, परन्तु हम अभी उनके सूक्ष्म अर्थभेद के समझने अथवा दर्शाने में असमर्थ हैं।[१]

अब अगले अध्याय में संक्षेप से वेदार्थ के विषय में लिखेंगे।

---

१. यथा—पाणिनीय नियम ६।२।१६१, १६४, १७१ आदि नियमों द्वारा प्रदर्शित स्वरविकल्प। काण्व शतपथ १।३।४।१ में अन्तोदात्त और माध्य० शतपथ २।४।४।२ में आद्युदात्त पठित 'वसिष्ठयज्ञ' शब्द।

षष्ठ अध्याय

वेद का अर्थ

उदात्त आदि स्वरों की वेदार्थ में उपयोगिता दर्शाना इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए वेदार्थ के विषय में कुछ निर्देश करना आवश्यक है। हम यहाँ अतिसंक्षेप से इस विषय का प्रतिपादन करेंगे। विस्तार से इस विषय पर अन्यत्र लिखा जाएगा।

वेद की महत्ता—भारतीय प्राचीन वाङ्मय में वेद का स्थान सर्वोपरि माना गया है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद समस्त विद्याओं के आकर ग्रन्थ हैं।[1] आजकल संस्कृत-वाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनके प्रवक्ता ऋषि, मुनि और आचार्य सबकी एक स्वर से प्रतिज्ञा है कि उनके ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विद्याओं का आदिस्रोत वेद हैं।[2] इस प्रतिज्ञा से स्पष्ट है कि प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय के अनुसार वेदार्थ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

वेदार्थ के विभाग—प्राचीन आचार्यों ने वेदार्थ के उक्त महान् क्षेत्र को स्थूलतया दो विभागों में बाँटा है। एक है आधिदैविक, और दूसरा आध्यात्मिक।

प्रथम क्षेत्र—आधिदैविक क्षेत्र स्थूलतया द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक के भेद से त्रिधा विभक्त है। तदनन्तर प्रत्येक लोक में विविध भौतिक तत्त्व विद्यमान हैं, जिनका वेद में वर्णन है। वैदिक परिभाषा में त्रिलोकी के ये भौतिक तत्त्व ही देव अथवा देवता कहाते हैं।

इसी तथ्य का उल्लेख महाभारत में निम्न शब्दों में किया गया है—

स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयम्भुवा। शान्ति० ३२७।५०॥

---

१. 'सर्वज्ञानमयो हि सः'। मनु० २।७ (द्र० मेधातिथि की व्याख्या)। 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है', (स्वामी दयानन्द सरस्वती)। महाभारत (अनु० १२२।४) में लिखा है—'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः। तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥'

२. इस विषय के विस्तार के लिए देखिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक निबन्ध पृष्ठ ४, ५। तथा 'वेदार्थ-मीमांसा' ग्रन्थ, जो शीघ्र प्रकाशित होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी मन्तव्य यही है कि वेद में मुख्यतया आधिदैविक (आधिभौतिक) पदार्थों के अतिसूक्ष्म विज्ञान का उपदेश है। उन्होंने पूना के १२ जुलाई १८७५ ई० के वेदविषयक व्याख्यान में कहा था—

पदार्थ ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है। [१]

इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद भाष्य की रचना से पूर्व चारों वेदों का गहरा अनुशीलन करके जो **चतुर्वेदविषयानुक्रम** [२] तैयार किया था, उसके अध्ययन से भी यही प्रतीत होता है कि उनके मतानुसार वेद में प्रधानतया **पदार्थविज्ञान** का ही वर्णन है।

द्वितीय क्षेत्र—आधिदैविक जगत् के तीनों लोक अध्यात्म = शरीर में भी निहित हैं। इस तत्त्व का निर्देश भगवती श्रुति इस प्रकार करती है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ मा०सं० ७।५

अर्थात्—भीतर तुम्हारे द्युलोक और पृथिवीलोक को स्थापित करता हूँ, भीतर स्थापित करता हूँ विस्तृत अन्तरिक्ष लोक को। साथ देवों के अवरों और परों [३] के [इस] अन्तर्यामी द्युलोकरूपी [४] [ग्रह] पात्र में हे मघवन् (इन्द्र = जीव) हर्षित हो।

---

१. उपदेशमञ्जरी, पृष्ठ ४५।

२. यह अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में हस्तलिखित-रूप में 'चतुर्वेदविषय सूची' के नाम से पड़ा प्रकाश में आने की बाट जोह रहा है। इस पर मैंने कुछ कार्य भी किया है।

३. ये 'पर' और 'अवर' देव शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन्हीं पर और अवर देवों को ऋ० १।१।२ में पूर्व और नूतन ऋषि कहा है। वैदिक वाङ्मय में ऋषि शब्द इन्द्रियों के लिए बहुधा प्रयुक्त है। यथा अथर्व० १०।८।९; बृ० उ० २।२।३॥

४. असौ (द्यौः) एवान्तर्यामः। शत० ४।१।२।२७॥ यज्ञ में अन्तर्याम एक सोमपात्र की संज्ञा है। अध्यात्म में यह अन्तर्याम पात्र मस्तिष्क का वह भाग है, जिसमें सोम = ब्रह्म जल भरा हुआ है। वहीं इन्द्र = जीव का निवास-स्थान है। उसी के चारों ओर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के मूल स्थान हैं। वहीं इन्द्र देवों के साथ सोम का पान करता है। देखिए हमारा 'वेद-प्रति-

यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे—वेद द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त तथ्य का निर्देश प्राचीन तत्त्वदर्शी मनीषियों ने **'यद्ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** सूत्र द्वारा दिया है। इस मानुष पिण्ड में शिरोभाग द्युलोक, नाभिपर्यन्त भाग अन्तरिक्ष लोक और उससे नीचे का भाग पृथिवीलोकस्थानीय है।

वेद में प्रधानतया इन्हीं आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के विभिन्न विभागों में निहित देवताओं का वैज्ञानिक वर्णन है।

वैदिक देवताओं का विभाग—वेद में जिन आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन है, उन्हें वैदिक परिभाषा में देव अथवा देवता कहते हैं।[1] उनमें ग्यारह देवता प्रधान हैं। इन्हें रुद्र भी कहा जाता है। इनके व्याकुलित होने अथवा अपने अपने क्षेत्र से निकल जाने पर, न केवल वही क्षेत्र, अपितु समष्टिरूप से सम्पूर्ण आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक जगत् डाँवाडोल हो उठता है। कभी कभी उसकी स्थिति भी संशयास्पद हो जाती है। अत एव इन ग्यारह प्रधान देवों को वैदिक परिभाषा में रुद्र कहते हैं।[2]

देवों का त्रिवृत्त्व—वेदों में जिन देवों का वर्णन है, वे आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के पूर्वोक्त तीनों क्षेत्रों में त्रिधारूप से विद्यमान हैं। इसीलिए देवों को त्रिवृत् कहा जाता है।[3] ऋग्वेद १।१३९ के ११ वें मन्त्र में ग्यारह प्रधान देवों का त्रिवृत्त्व (तीनों लोकों में रहना) स्पष्ट दर्शाया है। यथा—

ते देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥

अर्थात्—जो देव द्युलोक में ग्यारह हैं, पृथिवी लोक में ग्यारह हैं और अन्तरिक्ष लोक में निवास करने वाले अपनी महिमा से ग्यारह हैं, वे देव

पादित आत्मा का शरीर में निवासस्थान' लेख, सरस्वती (लखनऊ) मई १९५६ के अङ्क में।

१. या तेनोच्यते सा देवता। ऋक्सर्वा० २।५॥ यो देवः सा देवता। निरुक्त ७।१४॥

२. यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः। शत० ११।६।२।७॥

३. त्रिवृत् यस्त्रेधा वर्तते। स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद भाष्य १०।१५॥ 'त्रिषु लोकेषु वर्तत इति त्रिवृत्' सा० ऋ० भाष्य १।४७।२॥

इस यज्ञ[1] का सेवन करें।[2]

प्रधानभूत तीन देवताओं का त्रिवृत्त्व—आधिदैविक पक्ष में तीन ही प्रधान देवता हैं—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। निरुक्त ७।५॥

ये तीनों प्रधान देवता त्रिवृत् हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (६।३।२-३) में कहा है—

हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि।

अब हम ब्राह्मण ग्रन्थों के वे वचन उद्धृत करते हैं जिनमें कतिपय देवों का त्रिवृत्त्व (=तीनों लोकों में निवास करना) स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है। यथा—

वायु का त्रिवृत्त्व—शतपथ ८।४।१।९ में लिखा है—

वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्। स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते।

अर्थात्—वायु ही शीघ्रगामी त्रिवृत् है, वह इन तीनों लोकों में रहता है।

अग्नि का त्रिवृत्त्व—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१०।४ में कहा है—

अग्निर्वै त्रिवृत्।

अर्थात्—अग्नि निश्चय से त्रिवृत् है।

---

१. यज्ञ से यहाँ द्रव्यमय आहुत्यात्मक यज्ञ अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि यज्ञों की उत्पत्ति वेद-प्रादुर्भाव के बहुत पश्चात् त्रेता के आरम्भ में हुई है। इसलिए वेद में जहाँ भी यज्ञ शब्द का व्यवहार मिलता है। वह आधिदैविक अर्थ में ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्मपक्ष में पिण्ड का वाचक है। इन्हीं ब्रह्माण्ड और पिण्ड (शरीर) में निरन्तर होने वाले यज्ञों को समझाने के लिए ऋषियों ने द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना की है। देखिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक निबन्ध तथा 'वेदार्थ मीमांसा' ग्रन्थ।

२. इन तीनों लोकों के ग्यारह देवों की पृथक् पृथक् गणना करने पर ११ × ३ = ३३ संख्या होती है। ये ही मूल वैदिक ३३ देव हैं। शतपथ १४।६।९।३-६ में कहे गए १२ आदित्य, ११ रुद्र, और ८ वसु ये तैंतीस देव वेदानुसारी नहीं हैं। उपर्युक्त मन्त्र में कहे गए ग्यारह देव कौन से हैं, यह हमें अभी ज्ञात नहीं हुआ।

ऋग्वेद १।१४०।२ **अभि द्विज्मा त्रिवृत्** मन्त्र में भी अग्नि को त्रिवृत् कहा है।

ऋग्वेद १०।८८।१० में तो अग्नि का त्रिवृत्त्व अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है। मन्त्र है—

तमूँ अकृण्वन् त्रेधा भुवेकम्।

यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। निरु० ७।२८॥

अर्थात्—उस [अग्नि] को किया तीन प्रकार से होने के लिए, पृथिवी में,[1] अन्तरिक्ष में[2] और द्युलोक में। यह शाकपूणि आचार्य का मत है।

बृहद्देवता १।६५ में आचार्य शौनक का कथन है—

अग्निभूतं स्थितं त्रिधा।

अर्थात्—अग्नि नाम का भूत तत्त्व ठहरा तीन प्रकार से।

शतपथ में त्रिवृत् अग्नि के विशिष्ट नाम—शतपथ में तीनों लोकों में विद्यमान अग्नि के विशिष्ट नामों का उल्लेख किया है। यथा—

स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त। यदस्य पवमानं रूपमासीत् तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्ताथ यत्पावकं तदन्तरिक्षेऽथ यच्छुचिस्तद्दिवि। तद्वा ऋषयः प्रति बुबुधिरे। श० २।२।१।१४॥

अर्थात्—पृथिवी में पवमानरूप से, अन्तरिक्ष में पावक रूप से और द्युलोक में शुचि रूप से अग्नि को स्थापित किया है।

वेदस्थ पवमान आदि पदों का अर्थ—शतपथ के उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि वेद में जहाँ पवमान पावक और शुचि नाम से अग्नियों का वर्णन है वह आधिदैविक प्रक्रिया में क्रमशः पार्थिव आप्य (वैद्युत) और सौर अग्नि का ही है। इस लिए वेद के वैज्ञानिक अर्थ में इनका यही अर्थ करना चाहिए।[3]

शतपथ के उक्त वचन की विस्तृत व्याख्या वायु पुराण ५३।५–१७, मत्स्य-

---

१. द्रष्टव्य—समिद्धोऽग्निर्निहितः पृथिव्याम्। ऋ० २।३।१॥

२. द्रष्टव्य—अप्स्वग्ने सधिष्टव। ऋ० ८।४३।९॥

३. तुलना करो—निर्मथ्यः पवमानः स्याद् वैद्युतः पावकः स्मृतः।
यश्चासौ तपते सूर्ये शुचिरग्निरसौ स्मृतः॥
विष्णुपुराण टीका १।१०।१६ में श्रीधर उद्धृत कौर्मवचन।

पुराण १२७।५–९, ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग २४।६—में मिलती है। इस विषय के विस्तार के लिए श्री पं० भगवद्दत्त जी *कृत **वेदविद्या निदर्शन** ग्रन्थ पृष्ठ ६२–६८ तक देखना चाहिए।

अग्नि का चतुर्विधत्व—प्रशस्तपाद भाष्य में अग्नि का चतुर्विधत्व दर्शाया है। उसका विभाजन प्रकार अन्य प्रकार का है।

देवों के त्रिवृत्त्व के कतिपय उदाहरण—अब हम देवों के त्रिवृत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए कतिपय उदाहरण देते हैं। यथा—

१–वैश्वानर अग्नि—वेद के शतशः मन्त्रों में वैश्वानर संज्ञक अग्नि देव का वर्णन मिलता है। वेद की वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार वैश्वानर उस अग्नि का नाम है जिसमें ताप (उष्णता) तो हो, परन्तु ज्वाला न हो। जैमिनीय ब्राह्मण में इस परिभाषा का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

अथ ह वा अग्निर्वैश्वानर इत्थमेवास, यथेमे अङ्गाराः।

जै० ब्रा० ३।१६५॥

अर्थात्—निश्चय ही अग्नि वैश्वानर इसी प्रकार का था, जैसे ये अङ्गारे।

अङ्गारों में ताप होता है, परन्तु उनमें ज्वाला नहीं होती, यह सर्वलोक-विदित है।

आधिदैविक जगत् में वैश्वानर—यह वैश्वानर अग्नि द्युलोक में सूर्य रूप से विद्यमान है,[1] अन्तरिक्ष में विद्युद् रूप से[2] और पृथिवी में भूगर्भस्थ ताप रूप में।[3]

अध्यात्म में वैश्वानर—यही वैश्वानर अग्नि अध्यात्म में द्युलोक स्थानीय शिरोभाग (मस्तिष्क) में[4] जीवरूप से,[5] अन्तरिक्ष रूप मध्यभाग में जठराग्नि

१. एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः। मै० सं० १।६।६॥ असौ (वैश्वानरः) आदित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः। निरुक्त ७।२३॥ स्तुतो वैश्वानरो दिवि। बृहद्देवता १।६७॥

२. तत्को वैश्वानरः? मध्यम इत्याचार्याः। निरुक्त ७।२२॥

३. वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम्। अथर्व० १२।१।६॥

४. जीवात्मा का शरीर में निवास मस्तिष्कान्तर्गत ब्रह्म गुहा नामक स्थान में है। देखिए हमारा 'वेद-प्रतिपादित आत्मा का शरीर में निवासस्थान" शीर्षक लेख। सरस्वती (लखनऊ) मई १९५६ में।

५. मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते। महाभारत शान्ति १८७।२१॥ शिर एव वैश्वानरः। शत० ६।६।१।९॥

के रूप में[1] और पृथिवीस्थानीय अधोभाग=नाभि से नीचे वीर्यरूप में निहित है।[2]

इन्हीं आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों अग्नियों का प्रतिनिधित्व यज्ञ में आहवनीय, दक्षिण और गार्हपत्य नाम की अग्नियाँ करती हैं। आचार्य शौनक ने इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार किया है—

त्रिस्थानं चैनमर्चन्ति होत्रायां वृक्तबर्हिषि। बृहद्देवता १।६५॥

अर्थात्—इसी त्रिस्थान (पृथिवी-अन्तरिक्ष-सूर्य में स्थित) अग्नि की यज्ञ में अर्चना करते हैं।

२—जातवेदस् अग्नि—जातवेदस् उस अग्नि को कहते हैं, जो उत्पन्न होते ही सबको जाने, देखे अथवा प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान हो।[3]

आधिदैविक जातवेदाः—आधिदैविक जातवेदाः अग्नि का त्रिवृत्त्व (=तीनों लोकों में रहना) निरुक्त ७।२१ में स्पष्ट दर्शाया है।[4] वहाँ द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी स्थानीय जातवेदाः अग्नि के लिए मन्त्र भी उद्धृत किए हैं।

आध्यात्मिक जातवेदाः—यही जातवेदाः अग्नि शरीर के शिरोभाग में जीव रूप में है। इसके शरीर में प्रकट होते ही अन्य देव (इन्द्रियाँ) ज्ञान से युक्त हो जाती हैं,[5] उसके शरीर से पृथक् होते ही इन्द्रियाँ अपने कर्म में असमर्थ हो जाती हैं। यही जातवेदाः मध्यभाग में जठराग्नि के रूप में है। यह मनुष्यादि प्राणियों तथा वृक्ष, लता, गुल्मादि सभी पदार्थों में व्याप्त है। इसके बिना रस आदि का परिपाक असम्भव है। नाभि से नीचे अधोभाग में वीर्यरूप से स्थित है। इस तत्त्व के बिना किसी भी प्राणी की स्थिति सम्भव नहीं।

---

१. अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते। शत० १४।८।१०।१॥ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।··· पचाम्यन्नं चतुर्विधम्। गीता १५।१४॥

२. अतएव वीर्यहीन मनुष्य के शरीर में तापकी न्यूनता होती है और नाडी की गति भी मन्द हो जाती है

३. जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जाते जाते विद्यते, जातवित्तो जातप्रज्ञानः······॥ निरुक्त ७।१९॥

४. स न मन्येत अयमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते।

५. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्। ऋ० २।१२।१॥

अथर्ववेद ४।३४।२ में वीर्य के लिए जातवेदाः का प्रयोग उपलब्ध होता है। उक्त मन्त्र में कहा है—

नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः।

अर्थात्—नहीं उनकी उपस्थेन्द्रिय को जलाता जातवेदाः (अग्नि)।

३–इन्द्र—विभिन्न रूपों में विद्यमान अग्नि ही परमैश्वर्य रूप महान् गुण से युक्त होने के कारण इन्द्र भी कहाता है।[1]

आधिदैविक इन्द्र—यह परमैश्वर्यवान् इन्द्र भी द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी इन तीनों लोकों में विविध रूप से विद्यमान है। यथा—

द्युस्थानी—ऋग्वेद में द्युस्थानी सूर्य को इन्द्र कहा है—

युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।६।४७।१८॥

अर्थात्—युक्त हैं (जुड़े हुए हैं) निश्चय से इस (=इन्द्र) के हरि सौ (गुणित) दश (१०००)।

इस मन्त्र में इन्द्र पद वाच्य सूर्य है और १००×१० हरि उसकी सहस्र विध रश्मियां हैं। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १।४४।५ में इस मन्त्रांश को उद्धृत करके लिखा है—

युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति सहस्रं हैत आदित्यरश्मयः। तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति। तद्यदेतैरिदं सर्वं हरति तस्माद्धरयः।

अर्थात्—'युक्त हैं निश्चय से इसके हरि शत गुणित दश' यह सहस्र निश्चय से ये आदित्य की रश्मियां हैं। वे इस की युक्त हैं, उनसे इस सबको हरण करता है। जो इनसे इस सबको हरण करता है इस कारण हरि हैं।

ऋग्वेद में निर्दिष्ट सूर्य की सहस्रविध रश्मियों का वर्णन वायुपुराण ५३।१८–२७, मत्स्य पुराण १२७।१७–२८ तक विस्तार से किया गया है। द्रष्टव्य और गवेषणीय है।

अन्तरिक्षस्थानी—नैरुक्त सम्प्रदाय में इन्द्र अन्तरिक्षस्थानी प्रसिद्ध है। वेद में भी इसका बहुधा उल्लेख है।

पृथिवीस्थानी—ऋग्वेद में पृथिवी को चलायमान करने वाले अर्थात् पृथिवी पर जलाशय और समुद्रों में पृथिवी का प्रादुर्भाव करने में समर्थ

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्। ऋ॰ १।१६४।४६॥

प्रलयंकारी भूकम्पों को उत्पन्न करनेवाले भूगर्भस्थ अग्नि के लिए इन्द्र शब्द का प्रयोग मिलता है। यथा—

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा ।१०।११९।९॥

अर्थात्—हन्त (विचारार्थे) मैं इस पृथिवी को रखूं यहां अथवा यहां ?

इस मन्त्र का गायत्री छन्द होने से इस मन्त्र में निर्दिष्ट इन्द्र निश्चय ही पार्थिव अग्नि रूप है।[1]

अध्यात्म में इन्द्र—यह इन्द्रदेव द्युस्थानीय शिरोभाग में जीवरूप से विद्यमान है।[2] पाणिनि ने अपने **इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टम्०** (अ० ५।२।९३) सूत्र में इन्द्र पद जीव के लिए ही प्रयुक्त किया है। मध्यस्थानीय जठराग्नि भी अपने आहार-पाचन तथा रसादि की निष्पत्ति रूप अद्भुत कर्म के कारण इन्द्र कहाता है। अधोभाग स्थित वीर्य भी शरीरोत्पत्ति तथा उसके पालनरूपी महान् कार्य के कारण इन्द्र पदवाच्य है। इसीलिए यज्ञ में अध्यात्म के वीर्यस्थानीय गार्हपत्याग्नि के उपस्थान कर्म के लिए इन्द्र देवतावाली ऋचा का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है।[3]

इन्द्र के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् में तीनों लोकों या स्थानों में विद्यमान होने से वेद में इन्द्र को त्रित भी कहा है।[4] यास्क ने त्रित पद का व्याख्यान करते हुए लिखा है—

त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः। निरुक्त ९।२५॥

आध्यात्म में त्रित—अध्यात्म पक्ष में यह त्रित (=इन्द्र=जीव) मस्तिष्कान्तर्गत नीचे मुँह और ऊपर बन्धन चमस[5] कूप में पतित है।[6] जब

---

१. छन्दोऽव्यवस्था से तत्तल्लोकस्थ पदार्थ का नियमन होता है। इसके लिए निरुक्त अ० ७ खण्ड ८-११ में निर्दिष्ट भक्ति साहचर्य प्रकरण देखिये।

२. जीवात्मा का निवासस्थान मस्तिष्क है, इसके लिए देखिए "सरस्वती" मई १९५६ में 'वेदप्रतिपादित आत्मा का शरीर में निवासस्थान' शीर्षक मेरा लेख।

३. ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते।

४. इन्द्रो यद् वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद् वलस्य परिधींरिव त्रितः। ऋ० १।५२।५॥

५. अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। बृह० उप० २।२।३॥ तुलना करो अथर्व० १०।८।९॥

६. त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये। ऋ० १।१०५।१७॥

वह मेधा द्वारा सांसारिक विषयों से तर जाता है (=पार हो जाता है), तब उसे ब्रह्म (=अपना अथवा परब्रह्म) का ज्ञान होता है। ऋग्वेद १।१०५ में इसी त्रित (=इन्द्र=जीव) की सांसारिक दुःखमयी दशा का करुणामय वर्णन है। इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने इस सूक्त की ९वीं ऋचा[1] का व्याख्यान करने के अनन्तर लिखा है—

त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ।······त्रितस्तीर्णतमो मेधया।
निरुक्त ४।६॥

४–सप्तसिन्धु–सात नदियाँ—ऋग्वेद १०।७५ के प्रसिद्ध नदीसूक्त के प्रथम मन्त्र में सप्तसिन्धुओं (=सात नदियों) के त्रिविधत्व (=त्रिस्थानित्व) का प्रतिपादन अत्यन्त विस्पष्ट शब्दों में किया है। वहाँ लिखा है—

प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः।

अर्थात्—सात सात नदियाँ [स्थान भेद से] तीन प्रकार से गतियाँ करती हैं।

सप्त सिन्धुओंके नाम—इन सात सिन्धुओं अथवा सात नदियों के नाम इसी सूक्त में लिखे हैं।[2] वे हैं—सिन्धु, गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, मरुद्वृधा और आर्जीकीया। इन्हें ऋग्वेद २।१२।१२ में स्पष्ट शब्दों में **सप्तसिन्धु** कहा है।

नदियों के त्रिविधत्व का कारण—वेद में नदियों की उत्पत्ति इन्द्र से कही है।[3] यह इन्द्र आधिदैविक जगत् के तीनों लोकों में भिन्न भिन्न रूप से विद्यमान है। अतः तीन प्रकार के इन्द्रों से उत्पन्न होने वाली नदियाँ भी तीन प्रकार की हैं। इसीलिए ऋ० १०।७५।१ में इन नदियों के लिए **त्रेधा** पद का निर्देश किया है। इसी प्रकार अध्यात्म में भी त्रिविध इन्द्र से प्रसूत होने वाली आध्यात्मिक नदियाँ भी तीन प्रकार की हैं।

आधिदैविक त्रिविध सात नदियाँ—द्युस्थानीय इन्द्र सूर्य है, यह पूर्व कहा जा चुका है। उससे उत्पन्न होनेवाली सात नदियाँ सात प्रकार की

---

१. टिप्पणी २ में उद्धृत मन्त्र।

२. इस सूक्त की व्याख्या में श्री० स्वामी आत्मानन्द जी ने २१ प्रकार की नदियों का वर्णन माना है। देखिए 'वेदवाणी' (काशी) कार्तिक सं० २००९ में 'ऋग्वेद का एक नदी सूक्त' लेख।

३. इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुः। ऋ० ३।३३।६॥

रश्मियाँ हैं। अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान इन्द्र = विद्युत् के तारतम्य से विभक्त सप्तविध मेघ[1] अन्तरिक्षस्थानीय सात नदियाँ हैं।[2] ऋग्वेद २।१२।१२ में इन्द्र के लिए प्रयुक्त **सप्तरश्मि** पद की व्याख्या में सायण ने तैत्तिरीय आरण्यक १।९।४।५ के प्रमाण से सप्तविध मेघों का वर्णन किया है। पृथिवी लोक में विद्यमान अग्नि और उसके सखा सोम के तारतम्य (=न्यूनाधिक संसर्ग) से युक्त सात प्रकार के जल वाली सप्तविध नदियाँ हैं।[3] महान् वैज्ञानिक ऋषियों ने किन किन गुणों से युक्त जल वाली नदियों के सिन्धु, गङ्गा, यमुना आदि नाम रखे, यह महान् अनुसन्धान का विषय है।

गाङ्ग जल—भारत की प्रसिद्ध गङ्गा नामक नदी के जल की यह विशेषता है कि वह चाहे कितने काल तक बन्द पड़ा रहे, बिगड़ता नहीं। शल्यतन्त्रकार आचार्य धन्वन्तरि ने सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ४५।३ में आकाश से आश्विन मास में बरसने वाले जल के दो भेद दर्शाए हैं, गाङ्ग जल और सामुद्र जल।[4] भावप्रकाश निघण्टु वारिवर्ग में लिखा है कि गाङ्ग जल आकाश गङ्गा से सम्बन्ध रखता है।[5] यह जल अत्यन्त ऊँचे बादलों से बरसता है। वहाँ तक पार्थिव जल के सूक्ष्मतम रूप में पहुँचते पहुँचते पार्थिव विकार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। सूर्य की सुषुम्णा संज्ञक विशिष्ट किरणों के योग से उनमें सोम का विशेष संयोग हो जाता है।[6] वर्षा के द्वारा वह सोम पृथिवी पर पहुँच-

---

१. वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः स्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति। तै० आर० १।९।४, ५॥ वराह अथवा वराहु संज्ञक मेघ के विशेष वर्णन के लिए देखिए 'वेदवाणी' कार्तिक सं० २०१३ के अंक में श्री पं० भगवद्दत्त जी का 'वैदिक वराह का वैज्ञानिक स्वरूप' लेख। विविध मेघों का वर्णन वायु पुराण अ० ५१, मत्स्य पुराण अ० १२४ में द्रष्टव्य है।

२. यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून्। ऋ० २।१२।१२

३. द्रष्टव्य—सोमधारा नदी गङ्गा पवित्रा विमलोदका। सोमपुत्र-पुरोगाश्च महानद्यो द्विजोत्तमाः। वायु पुराण ५१।२२॥

४. तेषां धारं प्रधानं लघुत्वात्। तत्पुनर्द्विविधम्—गाङ्गं सामुद्रं चेति।

५. धाराजलं द्विविधं गाङ्गसामुद्रभेदतः। आकाशगङ्गासम्बन्धि जलमादाय दिग्गजः॥ गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः। सर्वथा तज्जलं देयं तथैव चरके वचः॥

६. निरुक्त २।६ में कहा गया है—अस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते··· सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः (माध्य० यजु० १८।४०) इसी सुषुम्णा

कर[1] चराचर जगत् की पुष्टि का कारण बनता है। सामुद्रजल समीपवर्ती (कम ऊँचे) मेघों से बरसता है। उसमें कुछ पार्थिव विकार विद्यमान रहते हैं, अतः वह विकृत हो जाता है। पौराणिक आख्यायिका में गङ्गा का स्वर्ग से अवतरण माना है। स्वर्ग=द्युलोक ही सोम का स्थान है।[2] सम्भव है, गङ्गा के उद्भव-स्थान में सोमतत्त्व की प्रधानता हो और इसी कारण गङ्गा के जल में अन्य नदियों के जल की अपेक्षा सौम्य गुण का आधिक्य हो अत एव वह विकृत न होता हो। भारतवर्ष में अनेक नदियों के लिए गङ्गा पद का प्रयोग होता है। यथा—रामगङ्गा, वेणगङ्गा आदि। सम्भव है उन उन प्रदेशों में बहने वाली अन्य नदियों के जलों की अपेक्षा गङ्गा पद वाच्य रामगङ्गा वेणगङ्गा आदि के जलों में सौम्यगुण की अधिकता हो और इसी कारण उन्हें गङ्गा नाम प्राप्त हुआ हो। ऐसे ही विन्ध्याचल से प्रसृत कालीसिन्ध और सिन्ध के जलों में भी कुछ विशिष्ट साम्यता होनी चाहिए। यदि कोई भारतीय वैज्ञानिक उपर्युक्त सात नदियों के जलों की भारतीय ग्रन्थों में उल्लिखित वर्णन के प्रकाश में परीक्षा करे तो सम्भव है इस समस्या का वास्तविक हल निकल आवे।

अध्यात्म में सप्तसिन्धु—अध्यात्म में द्युस्थानीय इन्द्र=जीव से खोदी गई अथवा प्रसृत होनेवाली सप्तसिन्धु दो चक्षु, दो कान, एक घ्राण, एक रसना और एक त्वक् है। इन्द्र के कारण ही ये अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। इसलिए अथर्ववेद १०।८।९ तथा बृह० उप० २।२।३ में इन्हें सप्तऋषि भी कहा है। अन्यत्र इन्हें सप्तप्राण भी कहा गया है। मध्यस्थानीय जठराग्नि-रूपी इन्द्र से उत्पन्न होनेवाली सप्तविध नदियाँ रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्यरूप सात धातुएँ हैं। जठराग्नि से ही इनकी क्रमशः उत्पत्ति

रश्मि के द्वारा चन्द्रमा में सोम का आधान होता है और वह सौम्य गुण की प्रधानता से स्वयं सोमरूप हो जाता है। शरीर द्युस्थान मस्तिष्क में विद्यमान ब्रह्मजल अथवा ओज नामक अष्टम धातु ही सोम है, वह सुषुम्णा नाड़ी के सहस्रों, लक्षों सूक्ष्म तन्तुओं के द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त होता है।

१. इसी वैज्ञानिक तत्त्व का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में गायत्री के द्युलोक में जाकर वहाँ से पृथिवी पर सोम लाने रूपी आख्यान में किया है। यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन सा श्येनः। शत० ३।४।१।१२॥ तुलना करो—तै० ब्रा० १।१।३।१०॥३।२।१।१॥

२. सोमो गौरी अधिश्रितः। ऋ० ९।१२।३॥ तथा इसी पृष्ठ की प्रथम टिप्पणी में उद्धृत ब्राह्मणवचन।

होती है। अधोभागस्थानीय वीर्यरूप इन्द्र से कौन सी सप्तविध नदियाँ प्रवृत्त होती हैं, यह विवेचनीय है।

सप्त-सिन्धु और पाश्चात्य लेखक—पाश्चात्य लेखक और उनके अनुयायी भारतीयों ने वेद-सम्बन्धी भारतीय परम्पराओं की सर्वदा अवहेलना करके अनेक मिथ्या कल्पनाएँ की हैं। उनमें से एक मिथ्या कल्पना सप्तसिन्धु-सम्बन्धी भी है। उन्होंने ऋ० १०।७५ के नदी सूक्त में पठित गङ्गा, यमुना आदि शब्दों को भारतीय नदी-विशेष-वाचक बनाकर सप्तसिन्धु नामक प्रदेश की कल्पना की है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र को उद्धृत करके हम दर्शा चुके हैं कि इस सूक्त में पठित सात नदियाँ केवल पार्थिव नहीं हैं, अपितु द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में भी विद्यमान हैं। अतः ऋग्वेद के इस नदी सूक्त में उल्लिखित त्रिस्थानीय गङ्गा आदि नामों को केवल पार्थिव और वह भी भारत की प्रसिद्ध नदियों के वाचक मानना नितान्त मिथ्या है। समझ में नहीं आता कि इस नदी-सूक्त के प्रथम मन्त्र **प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः** पदों के स्पष्ट विद्यमान होने पर भी पाश्चात्य लेखकों ने ऐसी अनर्गल कल्पना कैसे की, और भारतीय लेखकों ने उनका अन्धा अनुकरण कैसे किया।

वेद का प्रत्येक देवता आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के तीनों स्थानों में वर्तमान होने से त्रिवृत् है, यह हम ऊपर दर्शा चुके। अब हम यह दर्शाएँगे कि प्रत्येक स्थान में वर्तमान देवता भी त्रिवृत् है।

प्रत्येक स्थान के प्रत्येक देवता का त्रिवृत्त्व—वैदिक देवता न केवल तीनों स्थानों में रहने के कारण त्रिवृत् हैं, अपितु एक स्थान का देवता भी त्रिविध स्वरूप होने से त्रिवृत् है। इस तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक स्थान में विद्यमान अग्नि के त्रिविध स्वरूपों का निदर्शन कराते हैं—

पार्थिव अग्नि का त्रिवृत्त्व—कौषीतकि ब्राह्मण २८।५ में लिखा है—

त्रिवृद् वा अग्निः, अङ्गारा अर्चिर्धूम इति।

अर्थात् अग्नि के तीन रूप हैं—अंगार, ज्वाला और धूम।

अन्तरिक्षस्थ अग्नि का त्रिवृत्त्व—हम पूर्व लिख चुके हैं कि अन्तरिक्षस्थानीय अग्नि विद्युत् है। शतपथ ब्राह्मण ११।२।७।२१, २२ में विद्युत् के कर्मभेद से **अशनि, ह्रादुनि** और **उल्कुषी** तीन रूप दर्शाए हैं। यह शीघ्र व्याप्त होने से अशनि[1], शब्द के कारण ह्रादुनि[2] और दाह धर्म के कारण

१. अशनि शब्द व्याप्त्यर्थक 'अश' धातु से निष्पन्न होता है॥

२. ह्रादुनि शब्द 'ह्राद अव्यक्ते शब्दे' अर्थात् अव्यक्त शब्द अर्थवाली ह्राद धातु से बनता है॥

उल्कुषी[1] कहाती है। ऋग्वेद १।१६४।२९ में अन्तरिक्षस्थ अग्नि के शब्द, भय और प्रकाश ये तीन कार्य कहे हैं।[2]

द्युलोकस्थ अग्नि का त्रिवृत्त्व—द्युलोक में अग्नि सूर्य रूप में विद्यमान है। सूर्य के भी तीन रूप हैं, प्रकाशक मण्डल, कृष्ण मण्डल और किरणें। सूर्य के चारों ओर का मण्डल प्रकाशक है, उसके मध्य का भाग काला है। विक्रम से तीन सहस्र वर्ष पूर्वभावी महामुनि जैमिनि ने अपने ब्राह्मण में लिखा है—

असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इति। जै० ब्रा० २।२८॥

अर्थात्—वही संवत्सर है जो तप रहा है। उसका जो भाग चमकता है वह संवत् है और जो मध्य में कृष्ण मण्डल है वह सर है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों का वृथाभिमान—आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक और उनके अनुयायी समझते हैं कि विज्ञान में हमने जितनी उन्नति की है और कर रहे हैं, वह अभूतपूर्व है। परन्तु सत्य इतिहास से अनुमोदित तत्त्व यह है कि प्राचीन ऋषियों, देवों और असुरों की भौतिक विज्ञान में जहाँ तक पहुँच थी, उसका शतांश भी अभी आधुनिक वैज्ञानिक नहीं जान पाए। सूर्य के चारों ओर का भाग प्रकाशक है, मध्य में काले काले धब्बे हैं, और वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते—यह तथ्य पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने कुछ काल पूर्व ही जाना है। परन्तु भारत के महान् ऋषि जैमिनि ने आज से ५००० पांच सहस्र वर्ष पूर्व इन तीनों तथ्यों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। सूर्य के काले धब्बे गतिशील हैं, वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते, इस तत्त्व का प्रतिपादन उनके लिए प्रयुक्त 'सर' शब्द कर रहा है। 'सर' गत्यर्थक 'सृ' धातु से निष्पन्न होता है।

वेद में सूर्य के लिए कृष्ण शब्द का बहुधा प्रयोग उपलब्ध होता है, वह इसके कृष्णवर्ण वाले धब्बों की प्रधानता के कारण है। भारतीय प्राचीन वैदिक ग्रन्थ में ऐसे वैज्ञानिक संकेत भरे पड़े हैं। आवश्यकता है उनके अनुसन्धान की।[3]

---

१. उल्कुषी शब्द की निष्पत्ति वैयाकरण 'उल्मुक' के समान 'उष दाहे' से मानते हैं॥

२. 'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता। सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत'। इस मन्त्र की निरुक्त २।९ में यास्कीय व्याख्या भी द्रष्टव्य है॥

३. इस विषय पर श्री पं० भगवद्दत्त जी का 'वेदविद्यानिदर्शन' नाम का महत्काय ग्रन्थ देखें॥

इस संक्षिप्त निर्देश से स्पष्ट है कि वेद परमगहन विज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति का प्रवेश असम्भव है। विविध-शास्त्र-ज्ञान-संपन्न साधनानिरत, चिन्तनशील, अनूचान का ही उसमें प्रवेश सम्भव है। आजकल के वेदभाष्यकारों का ज्ञान इतना ही है जितना लोगों से झूठी सच्ची सुनी सुनाई बातों से किसी अदृष्ट देश वा नगर का हो सकता है।

वेदार्थ का तृतीय क्षेत्र

हम ऊपर प्रमाणित कर चुके हैं कि वेदार्थ का क्षेत्र आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् है। परन्तु कालान्तर में इनके साथ वेदार्थ का एक गौणक्षेत्र यज्ञ भी सम्मिलित हो गया। मनुष्यों की बुद्धि का ह्रास देख कर ऋषियों ने त्रेता युग के आरंभ में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अतीन्द्रिय सूक्ष्म रहस्यों को समझाने के लिए अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास आदि विविध श्रौतयज्ञों[1] की प्रकल्पना की।[2] इसलिए आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के वर्णन करने वाले मन्त्रों का एक स्थूल अर्थ यज्ञपरक भी माना गया। इसीलिए यास्क ने निरुक्त १।२० में याज्ञिक अर्थ को पुष्पस्थानीय कहा है।[3] उत्तर काल में वेद के वास्तविक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ लुप्त हो गए और गौण याज्ञिक अर्थ ही प्रधान बन गया।[4] वैदिकों ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि वेद यज्ञ के लिए प्रवृत्त हुए हैं।[5] इस कारण विविध विज्ञान और अध्यात्मज्ञान

---

१. यतः श्रुति में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन है, अतः उनके आधार पर आरम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई, वे श्रौतयज्ञ कहाए। उत्तरकाल में अनेक ऐसे श्रौत नामधारी यज्ञ भी कल्पित किए गए, जिनका श्रुति- प्रतिपादित आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् से कोई संबन्ध नहीं। श्रौत यज्ञान्तर्गत मानी गई काम्येष्टियां ऐसी ही हैं। गृह्य तथा धर्मसूत्रों में उल्लिखित यज्ञ स्मार्त कहाते हैं। उनका श्रुति से साक्षात् संबन्ध याज्ञिक भी नहीं मानते हैं॥

२. श्रौत यज्ञों की कल्पना कब और किस लिए हुई, उनमें उत्तरोत्तर किस प्रकार परिवर्त्तन हुए इन सब विषयों को विस्तार से जानने के लिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' निबन्ध देखना चाहिए॥

३. याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा॥

४. ब्राह्मण ग्रन्थ जो वेद के व्याख्यान के लिए मुख्यतया प्रवृत्त हुए, उनमें वेद का याज्ञिक अर्थ ही दर्शाया है॥

५. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः। वेदाङ्ग ज्योतिष के अन्त में॥

के आकर ग्रन्थ वेद केवल कर्मकाण्ड के ग्रन्थ माने जाने लगे।[१] इसीलिए प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद का अन्तिम लक्ष्य अध्यात्म ज्ञान होने पर भी इन्हें पराविद्या से बहिष्कृत करके अपराविद्या में डाल दिया गया।[२] कर्मकाण्डियों के एक वर्ग ने तो वेद को अनर्थक (अर्थ-रहित) ही कहना आरम्भ कर दिया।[३] इस सब का प्रभाव यह हुआ कि वेद का मुख्य अभिप्राय लुप्त हो गया। वेदानुयायियों में भी वेद हीनता की दृष्टि से देखे जाने लगे।[४]

मन्त्रों का यज्ञकर्म के साथ काल्पनिक गठबन्धन—हमारी पूर्व-मीमांसा से स्पष्ट है कि मन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् है। यज्ञों की उत्पत्ति आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के अतीन्द्रिय ज्ञान = रहस्य समझाने के लिए हुई है। इसलिए आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के प्रतिनिधिभूत कर्मकाण्ड में मन्त्रों का जो विनियोग किया गया, वह उसी प्रकार काल्पनिक है जैसे रामचरित-निदर्शन के लिए रची गई रामायण की चौपाइयों का रामलीला के पात्रों के साथ गठ बन्धन।

याज्ञिक आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थों का तारतम्य—यतः यज्ञों की कल्पना आधिदैविक जगत् की सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय रचना का ज्ञान कराने के लिए हुई थी, अतः यज्ञों के परार्थ होने के कारण याज्ञिक अर्थ गौण हैं, आधिदैविक अर्थ मुख्य हैं। आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थों की तुलना में आधिदैविक गौण हैं, आध्यात्मिक मुख्य। क्योंकि वह ब्रह्माण्ड की रचना के द्वारा उससे भी परम सूक्ष्म पिण्ड = शरीर की रचना का ज्ञान कराता है। इसलिए आधिदैविक अर्थ की अपेक्षा वेद का आध्यात्मिक तात्पर्य मुख्य है।

उक्त गौण-प्रधानभाव में यास्क का मत—वेद के उक्त तीन प्रकार के अर्थों में हमने जो गौण-प्रधानभाव दर्शाया है, वही आचार्य यास्क को भी सम्मत है। यास्क ऋग्वेद के **'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्'** (ऋ० १०।७१।५) की व्याख्या करता हुआ लिखता है—

---

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसा १।२।१॥

२. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक १।५॥

३. निरुक्त १।१५ में मन्त्रों को अनर्थक बताने हारे महायाज्ञिक कौत्स का मत उद्धृत किया है। जैमिनीय मीमांसा अ० १ पाद २ म मन्त्रानर्थक्य-वाद की मीमांसा की है।

४. वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः। गीता २।४२॥

याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा । निरुक्त १।२०॥

अर्थात्—वेद के याज्ञिक और आधिदैविक अर्थों में याज्ञिक अर्थ पुष्प-स्थानीय है और आधिदैविक फलस्थानीय। इसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थों में दैवत अर्थ पुष्पस्थानीय है और आध्यात्मिक फलस्थानीय।

यह लोकप्रसिद्ध है कि जो पुष्पोद्गम फल के लिये होता है, वह फल की अपेक्षा गौण होता है, और फल मुख्य। इसलिये यास्क का भी यही मत है कि वेद का याज्ञिक अर्थ अतिस्थूल अर्थात् गौण है। आधिदैविक अर्थ प्रधान है। परन्तु आध्यात्मिक अर्थ की तुलना में आधिदैविक अर्थ भी गौण है। अर्थात् अध्यात्म ज्ञान वेद का सर्वोपरि लक्ष्य है।[1]

वेद का मुख्यतर प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म है। इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण कठश्रुति में इस प्रकार किया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । २।१५॥

अर्थात्—सम्पूर्ण वेद जिस पद (प्राप्तव्यतत्त्व) का बार बार निर्देश करते हैं······वह ओम् है।

इसी कठश्रुति की प्रतिध्वनि गीता १५।१५ के

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।

वचन में सुनाई पड़ती है।[2]

उपसंहार

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के परम सूक्ष्म से लेकर परम महत् परि-माण पर्यन्त विविध तत्त्वों के गुणों तथा कर्मों का वैज्ञानिक वर्णन करना है। इसीलिए महर्षि कणाद ने **तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्** (वैशेषिक १।१।३) सूत्र द्वारा वेद का प्रामाण्य उसके वैज्ञानिक वर्णन के आधार पर ही स्वीकार किया है।[3] मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ तो ऊपर से जोड़ा गया है, उसका वेद

---

१. देखिए—अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। गीता १०।३२॥

२. इसकी विशेष विवेचना हमारे 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐति-हासिक अनुशीलन' निबन्ध में पृष्ठ १६–१८ तक देखें॥

३. इसकी विशेष विवेचना के लिए हमारे 'वे० की वि० प्र० का ऐ० अनुशीलन' निबन्ध पृष्ठ २–५ तक देखें॥

के साथ साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि भारतीय इतिहास में सर्वसम्मत तथ्य है कि यज्ञों का आरम्भ त्रेतायुग के आरम्भ में हुआ और वेद उससे पूर्व सृष्ट्यारम्भ से विद्यमान हैं। अतः पूर्वभावी वेद में पश्चाद्भावी यज्ञों का विधान हो ही कैसे सकता है। इसलिये वेद के जिन मन्त्रों में यज्ञ, इष्टि, क्रतु आदि शब्दों का निर्देश है, उनमें भी त्रेतायुग में प्रारम्भ किये गये द्रव्यमय यज्ञों का वर्णन नहीं है। वहां आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् में होने वाले यज्ञों का ही वर्णन है।

इस प्रकार वेदार्थ के विषय में अति संक्षेप से कुछ संकेत करके अगले अध्याय में 'वेदार्थ में स्वरों का उपयोग और प्राचीन आचार्य' विषय पर लिखेंगे॥



सप्तम अध्याय

वेदार्थ में स्वरों का उपयोग और प्राचीन आचार्य

गम्भीरतम वेदार्थ-ज्ञान के साधन--वेद के पूर्वप्रदर्शित गम्भीरतम अभिप्राय को समझने के लिए प्राचीन ऋषियों ने सुहृद् होकर अनेकविध शास्त्रों का प्रवचन किया।[1] उनमें शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द[2], ज्योतिष और कल्प ये ६ शास्त्र प्रधान हैं। जिस प्रकार शरीर के हस्त, पाद आदि अङ्ग शरीर के उपकारक हैं, उसी प्रकार उक्त ६ शास्त्र भी वेद के साक्षात् उपकारक हैं।[3] इसलिए इन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। इन वेदाङ्गों में भी व्याकरण प्रधानतम माना गया है।[4]

---

१. (क) बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। निरुक्त १।२०॥

(ख) अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। सायण, ऋग्भाष्योपोद्घात में षडङ्ग प्रकरण के आदि में॥

२. वेद के अनेक भाष्यकार छन्दशास्त्र को वेदार्थ में उपयोगी नहीं मानते (न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्, स्कन्द ऋग्भाष्य के आरम्भ में)। परन्तु यह महान् अज्ञान है। छन्दोज्ञान भी वेदार्थ में परम उपयोगी है। उसके उपयोग को न जानने से प्रायः सभी वेदभाष्यकार गौण अर्थ को प्रधान और प्रधान अर्थ को गौण बना देते हैं। छन्दः शास्त्र तो वेदार्थरूपी महाप्रासाद का पादस्थानीय (=नींववत्) है। उसी के आधार पर वेदार्थ का सारा प्रासाद स्थिर हो सकता है। इस सूक्ष्म विषय का विवेचन हमने 'छन्दः शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के 'छन्दः शास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता' अध्याय में किया है (यह ग्रन्थ शीघ्र छपेगा)॥

३. एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवमुदीरितम्—'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते। शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते' (ऋक्शाखीय पाणिनीय शिक्षा ४१,४२)॥ सायण, ऋग्भाष्योपोद्घात के षडङ्गप्रकरण के अन्त में॥

४. प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। महाभाष्य १।१। आ० १॥

वेद के अर्थ-ज्ञान में स्वर-शास्त्र की प्रधानता—व्याकरण में भी उसका अवयवभूत स्वर-शास्त्र वेदार्थ के सूक्ष्म अभिप्राय को व्यक्त करने में अधिक सहायक है। स्वर-शास्त्र का अवलम्बन करके वेदार्थ-विवक्षु न केवल पथ-भ्रष्ट होने से बच सकता है, अपितु उसी के द्वारा वह वैदिक शब्दों के परम सूक्ष्म रहस्यों तक पहुँच सकता है।

स्वर-शास्त्र शब्द के सूक्ष्म अर्थ तक कैसे पहुँचाता है, इसकी विशद विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी। यहाँ हम कतिपय प्राचीन प्रमाणभूत आचार्यों के उन वचनों को उद्धृत करते हैं, जिनमें उन्होंने वेदार्थ में स्वर-ज्ञान की उपयोगिता दर्शाई है।

१. ऋग्वेद का भाष्यकार, स्वर-शास्त्र का असाधारण वेत्ता वेङ्कटमाधव[1] (१२ वीं शती विक्रम) लिखता है—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति कचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥

स्वरानुक्रमणी १।८॥

अर्थात्—अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ मनुष्य मार्ग में कहीं ठोकर नहीं खाता है। इसी प्रकार स्वरों की सहायता से किए गए अर्थ स्फुट (= सन्देह-रहित) होते हैं।

वेङ्कटमाधव स्वविरचित द्वादशविध अनुक्रमणियों के उपोद्घात के आरम्भ में पदार्थज्ञान के हेतुओं में स्वर का निर्देश करता हुआ लिखता है—

नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते।[2]

अर्थात्—नाम और आख्यात का विभाग स्वर से ही जाना जाता है।

यथा—**स कर्ता—स कर्ता**। यहाँ प्रथम कर्ता पद उदात्त होने से नाम है और द्वितीय सर्वानुदात्त होने से आख्यात (लुट् के प्रथम पुरुष का एकवचन)।

---

१. सायण ने ऋग्वेदभाष्य और भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में वैदिक पदों के स्वरों के विषय में विस्तार से लिखा है (सायण अधिकांश में भट्टभास्कर की प्रतिलिपि करता है)। परन्तु वेङ्कटमाधव के स्वर-शास्त्र के सूक्ष्म ज्ञान के सम्मुख दोनों बालकवत् हैं ॥

२. मद्रास से प्रकाशित ऋग्वेदानुक्रमणी (माधवकृत) परिशिष्ट, पृष्ठ CV।

पुनः वह अपनी स्वरानुक्रमणी का प्रयोजन दर्शाते हुए लिखता है—

अनुक्रमणिका षष्ठी स्वरतोऽर्थस्य निर्णयः ।
प्रदर्शयति मन्त्रेषु ग्राह्या सा निपुणैर्नृभिः ॥[1]

अर्थात्—षष्ठी अनुक्रमणी[2] मन्त्रों में स्वर से अर्थ का निर्णय दर्शाती है। उसे चतुर मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

२. भगवान् पतञ्जलि (१२०० वि० पूर्व[3]) ने महाभाष्य के आरम्भ में व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजनों की व्याख्या करते हुए **स्थूलपृषती** पद के अर्थ में उत्पन्न होनेवाले संशय के निराकरण के लिए लिखा है—

यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ।

अर्थात्—[वैयाकरण स्वर से निश्चय कर लेगा कि] यदि स्थूलपृषतीशब्द में पूर्वपदप्रकृति स्वर है तो इस शब्द में बहुव्रीहि समास होगा, यदि समास के अन्त में उदात्तत्व है तो तत्पुरुष समास होगा।

३. मीमांसा ९।२।३१ के तृतीय वर्णक (व्याख्या) में भाष्यकार शबर स्वामी (विक्रम प्रथम शती) लिखता है—

अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति ? उच्यते, अर्थावबोधनार्थं भविष्यति ।

अर्थात्—[यदि यज्ञ में मन्त्र एकश्रुति से ही पढ़े जाते हैं] तो मन्त्रों

---

१. वही, पृष्ठ Cix ।

२. यह महत्त्वपूर्ण अनुक्रमणी इस समय अप्राप्य है ।

३. पाश्चात्य विद्वानों ने राजनीतिक कारणों तथा ईसाईयत के पक्षपात के कारण भारत के सहस्रों वर्ष प्राचीन क्रमबद्ध इतिहास को विक्रम से १५००–२५०० वर्ष पूर्व तक सीमित करने की चेष्टा की है। इस कारण उन्होंने प्राचीन इतिहास की जो तिथियाँ लिखी हैं, वे सर्वथा अशुद्ध हैं। पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुगामी एतद्देशीय लेखक महाभाष्यकार पतञ्जलि को १५०–२०० ईसा पूर्व में रखते हैं। परन्तु भारतीय इतिहास के अनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र नृपति १२०० विक्रम पूर्व से पूर्ववर्ती हैं। देखो, हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २४०–२४८। पाश्चात्यमत का मुख्य आधार उन्हीं के द्वारा प्रसूत सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य की काल्पनिक समकालीनता है॥

में तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) का पाठ किसलिए है ? उत्तर—अर्थ-ज्ञान के लिए।

४. मीमांसा ३।३।१५,१६ में ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित **तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य** (तै० सं० ६।२।५) के उत्तर वाक्य **द्वादशाहीनस्य** पर विचार किया है—

"**द्वादशाहीनस्य**" वाक्य में बारह उपसद् संज्ञक यागों का विधान ज्योतिष्टोम याग में किया है और अहीन शब्द **न हीनः फलेन** (जो फल से रहित नहीं) इस गौण अर्थ द्वारा ज्योतिष्टोम का ही विशेषण है, अथवा इस वाक्य के ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित होने पर भी बारह उपसद् यागों का विधान अहीन-संज्ञक क्रतु के लिए है, ज्योतिष्टोम के लिए नहीं। इस सन्देह की निवृत्ति करते हुए भाष्यकार शबर स्वामी ने लिखा है—

ननु नञ्समासो भविष्यति। नेति ब्रूमः। तथा सति आद्युदात्तोऽहीनशब्दोऽभविष्यत्। मध्योदात्तस्त्वयम्। तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा अहीनस्य धर्मः।

अर्थात्—[अहीन शब्द में गौण अर्थ की कल्पना के लिए] नञ् समास मान लिया जाएगा [तदनुसार अहीन शब्द का अर्थ होगा जो फल से हीन = रहित न हो, ज्योतिष्टोम कर्म भी फलवान् है। अतः अहीन शब्द उसका विशेषण बन सकता है]। उत्तर—नहीं हो सकता। [नञ् समास] होने पर अहीन शब्द आद्युदात्त[1] होता, परन्तु यहाँ अहीन शब्द मध्योदात्त है[2]। इसलिए **द्वादशाहीनस्य** वाक्य में बारह उपसद् यागों का विधान प्रकरण को बाध कर अहीन संज्ञक क्रतु विशेष के लिए मानना चाहिए।

५. वेदविदों में अलंकारभूत[3] महाविद्वान् भर्तृहरि अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-नियमन के लिए अनेकविध हेतुओं का उल्लेख करता है—

---

१. नञ् समास में 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (अष्टा० ६।२।२) से पूर्व पद प्रकृतिस्वर होकर आद्युदात्त हो जाता है।

२. वैयाकरणों के मतानुसार क्रतुवाची मध्योदात्त अहीन शब्द 'अह्नः खः क्रतौ' वार्तिक ४।२।४२ से क्रतुविशिष्टसमूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय, 'ख' को 'ईन' आदेश (७।१।२), 'अह्नष्टखोरेव' (अष्टा० ६।४।१४५) से 'अन्' भाग का लोप, तथा प्रत्ययस्वर होकर निष्पन्न होता है॥

३. वेदविरोधी प्रसिद्ध जैन ग्रन्थकार वर्धमानसूरी भर्तृहरि की विद्वत्ता के

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥[1]

अर्थात्—शब्दार्थ के निश्चय न होने पर स्वर=उदात्त आदि विशेष अर्थ के ज्ञापक होते हैं ।

इस कारिका की व्याख्या करता हुआ पुण्यराज पहले महाभाष्य के पूर्व-निर्दिष्ट 'स्थूलपृषती' शब्द का उदाहरण देता है । तदनन्तर **वैपाशः कूपः** उदाहरण देकर बताता है कि यदि वैपाश शब्द आद्युदात्त है तो उससे विपाट्=व्यास नदी के उत्तर तटवर्ती कूपों की प्रतीति होगी, यदि अन्तोदात्त है तो उससे विपरीत व्यास के दक्षिण तटवर्ती कूपों का बोध होगा ।[2]

पुण्यराज के उदाहरण का पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है । पाणिनि के **उदक् च विपाशः** (अष्टा० ४।२।७४) सूत्र के अनुसार विपाट्=व्यास नदी के उत्तर तट पर दत्त, गुप्त आदि द्वारा निर्मित कूप आद्युदात्त-स्वर विशिष्ट **दात्त, गौप्त** कहाते हैं और दक्षिण तट पर निर्मित कूप अन्तोदात्त-स्वर-विशिष्ट **दात्त, गौप्त** शब्दों से व्यवहृत होते हैं । ये ऐसे प्रयोग हैं, जिन्हें व्यास नदी के दोनों तटों के जनसाधारण सदा व्यवहार में लाते थे । तथा वे आद्युदात्त और अन्तोदात्त स्वरों के योग से विशिष्ट अर्थ (उत्तर अथवा दक्षिण के कूप) को समझते थे । इससे यह भी स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में बोलचाल की संस्कृत भाषा में उदात्त आदि स्वरों का उच्चारण कुछ सीमा तक सुरक्षित था ।

६. साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ लौकिक साहित्य में स्वरशास्त्र की अनुपयोगिता का प्रतिपादन करता हुआ वेदार्थ में स्वर की उपयोगिता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है । वह लिखता है—

स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत् । साहित्यदर्पण परि० ३ ।

अर्थात्—स्वर वेद में ही विशेष अर्थ का बोधक होता है ।

विषय में लिखता है—यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः'''। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३ ।

१. यह कारिका वाक्यपदीय के काशी संस्करण में २।३१७ से आगे उपलब्ध नहीं होती । पुण्यराज की टीका में पृष्ठ २१६ पं० १६ से आगे इस कारिका का व्याख्यान उपलब्ध होता है । इससे स्पष्ट है कि संशोधन के प्रमाद से यह कारिका छपने से रह गई ॥

२. पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१७ ॥

७. कलिकाल में विलुप्त वेदविद्या के पुनरुद्धारक असाधारण-प्रतिभा-संपन्न दीर्घदर्शी महान् तत्त्ववेत्ता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखा है—

वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते । पृष्ठ ३७४ संस्करण ३ ।

अर्थात्—वेदार्थ में उपयोगी होने से स्वरों की व्याख्या संक्षेप से लिखते हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ में स्वरों की उपयोगिता के विषय में अपने सौवर ग्रन्थ की भूमिका में अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिखा है। उस प्रकरण के कुछ उद्धरण हमने पूर्व चतुर्थ अध्याय के अन्त में लिखे हैं, वे देखने योग्य हैं।

प्राचीन आचार्यों के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक तथा लौकिक उभयविध वाङ्मय के सभी आचार्य एक स्वर से वेदार्थ में स्वरों की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। इस परमोपयोगी शास्त्र का वे ही लोग अनादर करते हैं जो शास्त्रविमुख और उच्छृङ्खल होकर वेदमन्त्रों के अभिप्राय प्रकट करने की धृष्टता करते हैं। इसलिए "स्वरशास्त्र के ज्ञान से वेदार्थ में कितनी महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है और उसकी उपेक्षा के क्या भयङ्कर परिणाम होते हैं" इसकी विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी ॥

अष्टम अध्याय

वेदार्थ में स्वर की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम

संस्कृत भाषा में ऐसे शब्द अतिस्वल्प हैं जो एक ही अर्थ के वाचक हैं। अधिकांश शब्द प्रायः अनेकार्थक हैं। वैदिक शब्द[1] तो कोई विरला ही ऐसा होगा जो अनेकार्थक न हो। इसलिए कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ ग्रहण किया जाए, इसके निर्णय के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक उपाय बतलाए हैं। वेदविदों में अलंकारभूत[2] शब्दशास्त्र के महान् आचार्य भर्तृहरि ने अनेकार्थक शब्दों के विशेष अर्थ के ज्ञापक निम्न हेतु दर्शाए हैं—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

वाक्यपदीय २।३१७, [३१८][3]

अर्थात्—१ संयोग, २ विप्रयोग, ३ साहचर्य, ४ विरोध, ५ अर्थ (=प्रयोजन), ६ प्रकरण, ७ लिङ्ग (=अर्थ-विशेषवाचक शब्द), ८ अन्य पद की समीपता, ९ सामर्थ्य, १० औचित्य, ११ देश, १२ काल, १३ व्यक्ति (=स्त्रीपुन्नपुंसक)

---

१. शब्दों के लौकिक और वैदिक भेद उत्तरकाल में किए गए हैं। अतिप्राचीनकाल में ये भेद नहीं थे। इसकी विशद विवेचना के लिए देखिए हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ पृष्ठ ३–६॥

२. वेदविरोधी जैन सम्प्रदाय के महान् आचार्य वर्धमान ने लिखा है—'यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो······ प्रमाणितशब्दशास्त्र ···'। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३॥

३. काशी से प्रकाशित वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड में 'सामर्थ्यमौचिती' आदि द्वितीय कारिका मुद्रित नहीं है, परन्तु पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६-२१७ पर इसका व्याख्यान मुद्रित है॥

और १४ स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि) शब्दार्थ के सन्देह में विशेष अर्थ की स्मृति के हेतु होते हैं।

इन 'संयोग' आदि हेतुओं से विशेष अर्थ का ज्ञान कैसे होता है, इसके सोदाहरण स्पष्टीकरण के लिए वाक्यपदीय की इन्हीं कारिकाओं की पुण्यराज[1] की टीका तथा साहित्यदर्पण परिच्छेद २ कारिका १४ की व्याख्या देखनी चाहिए।

इन चौदह विशेषार्थ-स्मारक हेतुओं में स्वर को छोड़कर शेष १३ हेतु लोक और वेद में समानरूप से स्वीकृत हैं। स्वर वेद में ही नियामक है, लौकिक साहित्य में नहीं; ऐसा अर्वाचीन साहित्य विशारदों का मत है।[2] वेद में स्वरों की अर्थनियामकता को ये साहित्यशास्त्री भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं, यह हम पूर्व (पृष्ठ ९५) लिख चुके हैं।

वेदार्थ में स्वर प्रधान सहायक

भर्तृहरि द्वारा 'संयोग' आदि साक्षान्निर्दिष्ट १४ हेतु तथा आदि पद से समुच्चयार्ह अन्य हेतु निश्चय ही वेद में विशेष अर्थ के ज्ञान में सहायक हैं, पुनरपि इन विशेषार्थ-निर्णायक हेतुओं में स्वर सबसे प्रधान सहायक है।

स्वर का पदार्थ और वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। उससे अर्थ-विशेष की प्रतीति किस प्रकार होती है। इसकी विशद विवेचना हम पाँचवें अध्याय में कर चुके। यहाँ हम कतिपय ऐसे वैदिक उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिनमें स्वर पर ध्यान दिए बिना सत्यार्थ का निर्णय हो ही नहीं सकता।

यथा—

१—भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑। माध्य० सं० १।१८॥

'भ्रातृव्य' शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं—एक शत्रु, दूसरा भतीजा। स्वर के बिना भ्रातृव्य शब्द का क्या अर्थ लिया जाए, यह सन्दिग्ध ही रहता है। भतीजे के दायभाग के हरण का इच्छुक चाचा इस मन्त्र को उपस्थित करके कहे कि भतीजे को नष्ट करने (मारने) में कोई पाप नहीं, क्योंकि वेद उपर्युक्त मन्त्र में

१. पुण्यराज ने आदि शब्द से 'गत्वनत्व' का ग्रहण किया है। यथा—प्रणायकः (बनानेवाला), प्रनायकः (नेतारहित देश आदि)॥

२. पुराकाल में लौकिक भाषा में भी स्वरों का प्रयोग होता था। यह पूर्व अध्याय ४ में लिख चुके। अतः उस काल में लिखे गए लौकिक काव्य में भी स्वर अवश्य रहे होंगे॥

भतीजे को मारने की आज्ञा देता है। ऐसे स्वार्थान्ध व्यक्ति द्वारा 'भ्रातृव्यस्य वधाय' वाक्य के किए गए अर्थ का विरोध कैसे किया जा सकता है?

स्वरशास्त्र का आश्रय लेने पर व्यक्त हो जाता है कि आद्युदात्त भ्रातृव्य पद का अर्थ शत्रु है और अन्तस्वरित का अर्थ भतीजा।[1] यतः यहाँ मन्त्र में आद्युदात्त भ्रातृव्य पद प्रयुक्त है, अतः वेद में शत्रु के नाश का विधान है, भतीजे के नाश का नहीं। अतः इस मन्त्र का 'भतीजे को मारने के लिए' यह अर्थ स्वरशास्त्र के अनुसार हो ही नहीं सकता।

शाखाप्रवचनकारों ने अपने काल में स्वरोच्चारण के शैथिल्य का अनुभव[2] और स्वर के अभाव में **भ्रातृव्य** शब्द के अर्थ में उत्पन्न होने वाले सन्देह को दृष्टि में रख कर **भ्रातृव्यस्य** के स्थान में **द्विषतः** ऐसा स्पष्टार्थक पद रखा, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह ही न हो।

२—**नतस्यंप्रतिमाअस्ति** ॥ माध्य० सं० ३२।२ ॥

स्वर का आश्रय लिए बिना इस मन्त्रांश के दो अर्थ हो सकते हैं। एक 'उस [भक्तों के प्रति] झुके हुए प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति है'। दूसरा—'उस पूर्व-निर्दिष्ट प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति नहीं है'।

ऐसी अवस्था में कौन सा अर्थ शुद्ध है और कौन-सा अशुद्ध, इसका निर्णय विना स्वर-शास्त्र के सम्भव ही नहीं है। यदि कहा जाय कि छपी पुस्तकों में **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** इस प्रकार अलग अलग पद छपे हैं तो नतस्य के एक होने का सन्देह ही नहीं होता, तब 'झुके हुए प्रभु की प्रतिमा है' यह अर्थ ही कैसे होगा?

इसका उत्तर यह है कि वेदमन्त्रों का संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है, न कि पदविच्छेदयुक्त पाठ। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। पदच्छेदरूप में पठित मन्त्रपाठ प्रामाणिक नहीं है, इसके हम दो उदाहरण देते हैं—

क—ऋग्वेद का पदच्छेदयुक्त पाठ है—**वने न वा यो न्यधायि चाकन्** (ऋ० १०।२९।१)।

---

१. देखो अष्टाध्यायी—'भ्रातुर्व्यच्च', 'व्यन् सपत्ने' (४।१।१४४,१४५)। 'व्यन्' प्रत्ययान्त नित्स्वर (अष्टा० ६।१।१९७) से आद्युदात्त होता है, और 'व्यत्' प्रत्ययान्त तित्स्वर (अष्टा० ६।१।१९९) से अन्तस्वरित ॥

२. शाखाप्रवचनकाल में कण्ठतः स्वरोच्चारण-प्रक्रिया शिथिल हो चुकी थी, यह हम पूर्व (पृष्ठ ५१) लिख चुके हैं ॥

इसमें शाकल्य के अनुसार '**वा यः**' दो पद हैं। ऐसा ही मुद्रित ग्रन्थों में छपा भी है। परन्तु यास्क ने निरुक्त ६। २८ में लिखा है—

वायो वेः पुत्रः……। वेति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः।

अर्थात्—'वायः' पक्षी का बच्चा……। शाकल्य ने 'वा' 'यः' ऐसे दो पद माने हैं। 'यः' पृथक् पद होने से 'अधायि' क्रिया उदात्त होनी चाहिये [यद्वृत्तान्नित्यम्। अष्टा० ८।१।६६ नियम से], परन्तु है अनुदात्त। तथा 'यत्' के योग में जब तक 'तत्' का अध्याहार करके दूसरा वाक्य न जोड़ें, अर्थ भी अधूरा रहता है।

अभिप्राय यह है कि शाकल्य का 'वा यः' दो पद मानना स्वरशास्त्र के अनुसार अशुद्ध है।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ अर्थ सन्दिग्ध होता है, वहाँ शाकल्य आदि का पदच्छेद प्रामाणिक नहीं माना जाता, अपितु स्वर से ही अर्थ और पदच्छेद का निश्चय किया जाता है।[1] यह भी ध्यान रहे कि अथर्व २०। ७६। १ में इस मन्त्र के पदपाठ में '**वायः**' एक पद ही माना गया है।

ख—ऋग्वेद का दूसरा मन्त्र है—**अरुणो मा सकृत्** (१।१०५।१८)।

इसमें 'मा सकृत्' ऐसे दो पद छपे हैं। परन्तु यास्क दोनों को एक पद मानकर अर्थ करता है—**मासकृत् मासानां चार्धमासानां च कर्ता** (निरु० ५। २१)। अर्थात् महीने और अर्ध महीने का बनाने वाला [चन्द्रमा]।

---

१. स्वर से अर्थनियामकता के विरोध में यास्क के यदिन्द्र चित्र मेहना मन्त्र के यदिन्द्र चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनम् पाठ को उद्धृत किया जा सकता है, जिस में सर्वनिघात संबोधन चित्र पद का चित्रं चायनीयम् प्रथमान्त में अर्थ दर्शाया है। परन्तु निरुक्त का यह पाठ अशुद्ध है। सायण ने इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्त का जो पाठ उद्धृत किया है उसमें 'चित्र चायनीय' पद संबोधनान्त ही हैं। स्कन्द टीका का 'C' संज्ञक हस्तलेख भी संबोधनान्त पाठ की ओर संकेत करता है। दुर्ग टीका के अनेक हस्तलेखों में भी संबोधनान्त ही पाठ है। किसी किसी हस्तलेख में तो 'चित्रं चायनीयं पूजार्हं' पाठ के 'त्रं, यं, र्हं' अक्षरों पर = रेखा का संकेत करके मार्जन पर 'त्र, य, र्ह' ऐसा शुद्धीकरण भी मिलता है। द्र० आनन्दाश्रम संस्करण, पृष्ठ ३०३। अतः सम्प्रत्युपलब्ध निरुक्त पाठ वस्तुतः अशुद्ध है।

स्वरशास्त्र के अनुसार 'मा-सक्कत्' अथवा 'मासक्कत्' दोनों प्रकार से पदच्छेद हो सकता है। परन्तु सपदच्छेद मुद्रण को प्रामाणिक मानने वाले व्यक्ति इन दोनों स्थानों पर यास्क की ही अशुद्धि समझेंगे।

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि वेद का संहितापाठ (विना पदच्छेद किए) ही प्रामाणिक है। उस अवस्था में **'नतस्यप्रतिमाअस्ति'** के 'झुके हुए प्रभु की मूर्ति है' इस अर्थ को कैसे अशुद्ध ठहराया जा सकता है।

यदि स्वरशास्त्र का आश्रय लिया जाए (जैसा 'वायः' में यास्क ने लिया है) तो स्पष्ट होगा कि 'नतस्य' ऐसा पदच्छेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्वर-शास्त्र के अनुसार एक पद में एक ही उदात्त होता है (तवैप्रत्ययान्त को छोड़कर)। यहाँ **'नतस्य'** में **न** और **त** दोनों उदात्त हैं, अतः ये दो पद ही हैं एक पद नहीं, यह निश्चित है। अतः 'उस प्रभु की प्रतिमा=मूर्ति नहीं है' यही अर्थ शुद्ध है, और दूसरा अर्थ अशुद्ध, यह स्पष्ट है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि स्वर सभङ्ग श्लेष में भी वहीं बाधक होता है जहाँ पदभङ्ग करने पर स्वर-दोष होता हो। **जहाँ सभङ्ग श्लेष में स्वरबाधक नहीं होता, वहाँ वेद में सभङ्ग श्लेष भी स्वीकार किया जाता है। अरुणो मासकृत् में** 'मासक्कत्' एक पद भी माना जाता है और 'मा सक्कत्' दो पद भी।

३. हम पूर्व (पृष्ठ ९४) में लिख चुके हैं कि मीमांसा ३।३।१६ के शाबरभाष्य में ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पठित **तिस्र एव साह्नस्योपसदः, द्वादशाहीनस्य** में श्रुत अहीनशब्द मध्योदात्त स्वर के कारण ही ज्योतिष्टोम प्रकरण को बाधकर स्वतन्त्र अहीन संज्ञक याग में 'द्वादश उपसद्' याग का विधान माना है।

'कुह कस्य' का स्वर और अर्थ—ऋग्वेद (१०।१२९) के नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में **कुहकस्य** में दो उदात्त स्वर हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ये दो पद हैं, एक पद नहीं। रावण और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **कुहकस्य** का जो अर्थ किया है, तदनुसार अनेक विद्वानों का मत है कि इन दोनों आचार्यों ने **कुहकस्य** को एक पद माना है। यथा—

रावण—यथा कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य।[1]

---

१. सूर्यपण्डित-विरचित गीताभाष्य ९।१० में उद्धृत। द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, 'वेदों के भाष्यकार' भाग, पृष्ठ २६०॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती—यत् प्रातः **कुहकस्य वर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्तमानं भवति**······।[१]

रावण की व्याख्या संदिग्ध—रावण ने **कुहकस्य** को एक पद माना अथवा दो पद, यह सन्दिग्ध है।

स्वामी दयानन्द ने एक पद नहीं माना—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निश्चय ही **कुहकस्य** समुदाय को एक पद नहीं माना, यह इस मन्त्र की पूरी व्याख्या के सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट है। वे मन्त्र के **कुह कस्य** पदों का अर्थ **कुह=कचित्** असार्वत्रिक अर्थात् किञ्चित् और **कस्य=जलस्य** समझ रहे हैं। इसी अभिप्राय को उन्होंने भावप्रधान (न कि पदार्थप्रधान) व्याख्या में उपर्युक्त प्रकार से दर्शाया है।[२] हां, इतना अवश्य है कि जैसे **वाचस्पतिः** आदि दो पृथक् पदों को अर्थ करते समय इकट्ठा पढ़ा जाता है, उसी प्रकार उन्होंने **कुह कस्य** दो पृथक् पदों को भी इकट्ठा पढ़कर उनका भाव दर्शाया है।

व्याख्याकार व्याख्या करते समय न केवल समीपस्थ दो पदों को ही इकट्ठा करके अर्थ-निर्देश करते हैं, अपितु दो व्यवहित पदों को भी इकट्ठा करके उनका एक पद द्वारा अर्थनिदर्शन कराते हैं। अतएव बृहद्देवताकार शौनक ने लिखा है—

> **पदव्यवायेऽपि पदे एकीकृत्य निरुक्तवान्।**
> **गर्भं निधानमित्येते न जामय इति त्वृचि॥** २। ११३॥

अर्थात्—पद के व्यवधान होने पर भी दो पदों को इकट्ठा करके यास्क ने व्याख्या की है, यथा न जामये (निरुक्त ३।७) मन्त्र में व्यवहित **गर्भं निधानम्** पदों का **गर्भनिधानीम्** पद से निर्वचन (अर्थ) दर्शाया है।

इसलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में **कुह कस्य** को एक पद मानना भ्रम मात्र है। उन्होंने तो केवल अर्थनिदर्शनार्थ एकत्र पढ़ा है।

अभी तक हमने स्वरशास्त्र के अनुसार स्वरभेद से अर्थभेद तथा स्वर द्वारा

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय, पृष्ठ ११७, संस्क० ३॥

२. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद ५।६ के भाष्य में पदपाठ से विपरीत होने से महीधर के व्याख्यान को अशुद्ध कहा है। इसी प्रकार ऋग्भाष्य १।३४।४; १।३६।२० में पदपाठ से विरोध के कारण सायण की व्याख्या को अशुद्ध बताया है

अर्थ-निर्धारण का प्रतिपादन किया। अब हम स्वरशास्त्र शब्दार्थ की सूक्ष्मता में कितना सहायक है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

शब्द के सूक्ष्म अर्थ तक पहुँचने में स्वरशास्त्र की सहायता

किसी भी धातु के सन्नन्त रूप में तिप् सिप् मिप् प्रत्ययों के परे सन् प्रत्यय के नित् होने से आद्युदात्त स्वर होता है, अर्थात् मूल धातु में उदात्तत्व रहता है। यथा—चिकीर्षति चिचीषति चिखादिषति। इन पदों में तिप् प्रत्यय को दूर करके दो भाग हैं—कृ + सन्, चि + सन्, खाद + सन्। सन् प्रत्यय का अर्थ है इच्छा[1]। अतः इनका क्रमशः अर्थ होगा—करने की इच्छा करता है, चुनने की इच्छा करता है, खाने की इच्छा करता है। देवदत्त आदि के हाथ में चटाई बुनने के साधन घास और सूत अथवा प्रातःकाल के समय बगीचे में हाथ में फूल चुनने की डलिया अथवा भोजन करने की तैयारी करते देख कर वक्ता प्रयोग करता है—**देवदत्तः कटं चिकीर्षति, पुष्पं चिचीषति, अन्नं चिखादिषति**। इन प्रयोगों को उच्चारण करने वाले व्यक्ति का इतना तात्पर्य नहीं होता कि देवदत्त इन क्रियाओं के करने की इच्छा मात्र करके कार्यान्तर में व्यापृत हो जाएगा, अपितु उसका भाव है कि यह देवदत्त शीघ्र ही इन क्रियाओं के करने में प्रवृत्त होगा। इसलिए **चिकीर्षति चिचीषति चिखादिषति** प्रयोगों में इच्छा अर्थ की प्रधानता नहीं है, अपि तु इच्छापूर्वक मूलभूत **कृ, चि, खाद्,** धातुओं के अर्थों की प्रधानता है। इसलिए इन शब्दों (सन्नन्तों) में सन् प्रत्यय का सकार उदात्त न होकर मूल धातु उदात्त होता है।

अब लीजिए वैदिक उदाहरण—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजुः ४०। २॥

इस मन्त्र में 'जिजीविषेत्' पद में सन् प्रत्यय का 'ष' भाग उदात्त है[2]। यह 'जीव' धातु का सन्नन्त रूप है। जहाँ इस रूप में अन्य सन्नन्त रूपों से स्वर में भिन्नता है, वहाँ अर्थ में भी भिन्नता है। स्वरशास्त्र के अनुसार यहाँ सन् = इच्छा अर्थ की प्रधानता होनी चाहिए, जीव धातु की नहीं। 'जिजीविषति' में अर्थ ठीक इसी के अनुरूप है। 'जीव' धातु का अर्थ है—'प्राणधारण क्रिया' प्राणधारण और पूर्वोक्त बनाना, चुनना, खाना क्रियाओं में बहुत भिन्नता है।

---

१. धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'। अष्टा० ३।१।७॥

२. यासुट् का उदात्तत्व अदुपदेश के कारण नष्ट हो जाता है। अष्टा० ६।१।१८६॥

बनाना, चुनना और खाना क्रियायें कर्त्ता के अधीन हैं। वह चाहे तो इन क्रियाओं को करे, चाहे न करे। परन्तु प्राणधारण-क्रिया मनुष्य के अधीन नहीं है। प्राणधारण-क्रिया तो उसके सोते, यहाँ तक कि मूर्छित अवस्था में भी होती रहती है, कई बार मनुष्य मरना चाहता है, परन्तु मृत्यु नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि प्राणधारण-क्रिया पर मनुष्य का उस प्रकार का प्रभुत्व नहीं है, जैसा बनाना, चुनना और खाना आदि क्रियाओं पर है। **चिकीर्षति, चिचीषति, चिखादिषति** क्रियाओं के प्रयोग में कर्ता केवल इन क्रियाओं की इच्छा मात्र करके कृतकार्य नहीं हो जाता, अपितु वह अपने पूर्ण प्रयत्न से इन क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। **जिजीविषति** क्रिया का कर्ता केवल प्राणधारण की इच्छा-मात्र कर सकता है, वह स्वयं प्राणधारण-क्रिया नहीं कर सकता; क्योंकि प्राणधारण-क्रिया पर उसका प्रभुत्व नहीं है। यही कारण है कि **जिजीविषेत्** में सन् प्रत्यय में उदात्तत्व है, धातु में नहीं।

इस वैदिक उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वर शब्द के सूक्ष्म अर्थ के परिज्ञान में कितना सहायक है। स्वर की किञ्चिन्मात्र उपेक्षा से अर्थ में कितना परिवर्तन हो जाता है और स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है, यह भी उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है।

शब्द के स्वरूप-निर्णय में स्वर-शास्त्र का साहाय्य

शब्द अथवा पद के स्वरूप-निर्णय करने में स्वरशास्त्र असाधारण साहाय्य प्रदान करताहै।[1] इस विषय के **नतस्य, वायः** दो उदाहरण हम पूर्व (पृष्ठ ९९-१००) लिख चुके हैं इनमें **नतस्य** एक पद नहीं है, **न तस्य** दो पृथक् पृथक् पद हैं। इसी प्रकार **वायः** दो पद नहीं (जैसा कि शाकल्य ने माना है), अपितु **वायः** एक पद है।

इसी प्रकार का हम एक विशिष्ट उदाहरण उपस्थित करते हैं। वह है **बृहस्पति** पद का।

मैकडानल और उसके अनुयायी गुणे प्रभृति—मैकडानल (वैदिक ग्रामर, पृष्ठ १६८, १६९ सन्दर्भ २८०) तथा गुणे ने (पृष्ठ ६४, ६५) लिखा है—

---

१. नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते। माधव ऋग्वेदानुक्रमणी, परिशिष्ट, पृष्ठ CV.।

ऋतस्पतिं, रथस्पतिं में 'स्' के श्रवण का कारण बृहस्पति पद का सादृश्य है।[1] पर बृहस्पति में 'स्' युक्त है, क्योंकि 'बृहस्' (बृहः) हकारान्त 'बृह्' शब्द का षष्ठी का एकवचन का रूप है। परन्तु ऋत और रथ शब्द अकारान्त हैं। उनमें पति शब्द से समास होने पर 'ऋतपति' 'रथपति' ही हो सकता है, 'ऋतस्पति' 'रथस्पति' नहीं।

स्वर-शास्त्र के अज्ञान से भ्रान्ति—मैकडानल प्रभृति ने 'बृहस्' की तुलना वाचस्पति के 'वाचस्' से करके 'बृहस्' को षष्ठी के एकवचन का रूप माना है। इन्होंने शब्द की बाह्य शरीर-रचना में तो सादृश्य देख लिया, परन्तु शब्द की आत्मा—स्वर का उन्होंने अवलोकन ही नहीं किया। यदि वे स्वर पर ध्यान देते तो ऐसी भयङ्कर भूल से बच जाते।

तीन भूलें—उपर्युक्त लेख में मैकडानल तथा उसके अनुयायी गुणे प्रभृति ने तीन भूलें की हैं। यथा—

प्रथम—वाचस्पतिं में **'वाचस्'** अन्तोदात्त है और **बृहस्पतिं** में **'बृहस्'** आद्युदात्त। यदि 'बृहस्' भी 'वाचस्' के सदृश हकारन्त 'बृह्' शब्द का षष्ठी का एक वचन होता तो **सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः** (अष्टा० ६।१।१६५) इस निरपवाद नियम के अनुसार अन्तोदात्त होता। यतः बृहस्पति में 'बृहस' आद्युदात्त है, अतः स्पष्ट है कि यह हकारान्त 'बृह्' शब्द का षष्ठी का एकवचन नहीं है। यह तो कसुन् प्रत्ययान्त स्वतन्त्र शब्द है और प्रत्यय के नित् होने से आद्युदात्त (अष्टा० ६।१।१९७) है।

• **द्वितीय**—वेद में जहाँ कहीं भी वाचस्पति आदि पदों में एकाच् शब्द के षष्ठी के एकवचन से परे पति शब्द का निर्देश उपलब्ध होता है, वहाँ सर्वत्र दोनों स्वतन्त्र पृथक् पृथक् पद हैं, समस्त नहीं। पदकारों ने भी ऐसे स्थानों पर पृथक् पृथक् पद ही दर्शाए हैं; बृहस्पति पद समस्त है, पदकार भी इसे एक पद ही मानते हैं। अतः इसमें 'बृहस्' को 'वाचस्' के सदृश षष्ठी का एकवचन मानना भूल है।

तृतीय—मैकडानल प्रभृति ने रथस्पति, ऋतस्पति आदि में बृहस्पति पद की सदृशता से सकार का भ्रान्त आगम माना है। परम सावधानतापूर्वक

---

१. सादृश्य के उपयोग और दुरुपयोग के लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भाषा का इतिहास' (द्वि० सं०) का सादृश्य-संज्ञक व्याख्यान (पृष्ठ ६४–७३) विशेष रूप से देखना चाहिए॥

रक्षित ऋग्वेद जिसमें आज तक एक भी पाठान्तर नहीं हुआ, उसमें प्रयुक्त ऋतस्पति आदि पदों में सादृश्य के कारण सकारागम की कल्पना नितान्त अयुक्त है। इतना ही नहीं, यदि मैकडानल स्वरशास्त्र के प्रकाश में बृहस्पति पद पर विचार करता तो उसे यह भ्रान्ति कदापि न होती।

वस्तुतः जिस प्रकार 'बृहस्' आद्युदात्त होने से कसुन् प्रत्ययान्त स्वतन्त्र शब्द है, उसी प्रकार ऋतस्पति और रथस्पति के पूर्वपद ऋतस् और रथस् भी आद्युदात्त होने से कसुन् प्रत्ययान्त स्वतन्त्र शब्द हैं। इनका अकारान्त ऋत और रथ से कोई सम्बन्ध नहीं। इतना ही नहीं, अकारान्त ऋत शब्द सर्वत्र अन्तोदात्त है। उसका पति शब्द के साथ समास मानने पर उभयपद-प्रकृति-स्वर होकर ऋतस्पति में पूर्वपद अन्तोदात्त ही होना चाहिए। मैकडानल प्रभृति ने सकार आगम तो सादृश्य से मान लिया, परन्तु अन्तोदात्त ऋत[1] को समास में आद्युदात्त कैसे हो गया इसकी कुछ चिन्ता ही नहीं की। वस्तुतः यह स्वरशास्त्र की उपेक्षा का ही फल है।

यह ध्यान रहे कि संस्कृत वाङ्मय में अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त अनेक ऐसे शब्द हैं जो सान्त भी देखे जाते हैं। यथा—

ओक—ओकस्, छन्द-छन्दस्, पक्ष-पक्षस्, शव-शवस्, तप-तपस् आदि।

अर्चि-अर्चिस्, छर्दि-छर्दिस् इत्यादि।

जटायु-जटायुस्, तनु-तनुस्, धनु-धनुस्, आयु-आयुस् इत्यादि।

इसी प्रकार **बृहस्, ऋतस्, रथस्** भी सान्त स्वतंत्र शब्द हैं। ऋतस् और रथस् पदों की समानता ऋग्वेद के पदपाठ ८।२६।२१ में **ऋतःऽपते** और ५।५०।५; १०।६४।१०; १०।९३।७ में **रथःऽपतिः** के विसर्गान्त सावग्रह पाठ से भी होती है।

भारतीय वैयाकरण—भारतीय वैयाकरण **ऋतस्पति, वनस्पति** आदि में सकार का आगम और **बृहस्पति** में बृहत् के त् को सकारादेश मानते हैं।[2] इस प्रक्रिया में भी दो दोष हैं।

---

१. ऋग्वेद ५।६३।१ में आद्युदात्त 'ऋतस्य' पद दिखाई देता है, परन्तु वह वस्तुतः आद्युदात्त नहीं है। यहाँ 'ऋतस्य गोपौ' में पराङ्गवद्भाव से आमन्त्रित स्वर होने से आद्युदात्तत्व है।

२. पत्यौ च सकारेण, ऋतावरौ च पतिपरयोः। वाज० प्राति० ३।५०,५१॥

प्रथम—अन्तोदात्त **ऋत** और **बृहत्** शब्द समास होने पर आद्युदात्त कैसे हो जाते हैं इस प्रश्न का उत्तर वैयाकरण नहीं देते।

द्वितीय—कात्यायन ने वाजसनेय प्रातिशाख्य में

वनसदोऽवेटो रेफेण ॥ ३।४९ ॥

पत्यौ च सकारेण ॥३।५० ॥

ऋतावरौ च पतिपरयोः ॥ ३।५१ ॥

सूत्रों द्वारा समास में रेफ और सकार के व्यवधान का विधान किया है। इस दृष्टि से **वनस्पति, ऋतस्पति, अवरस्पर** तीनों शब्दों की समान स्थिति है। परन्तु शुक्ल याजुष पदकार ऋतस्पति और अवरस्पर शब्दों के पदपाठ में सकार लोप करता है,[1] परन्तु वनस्पति में सकार लोप नहीं करता।[2] इतना ही नहीं कात्यायन ने प्रातिशाख्य ५।३७ में **वनस्पति में** अवग्रह न करने का साक्षात् विधान किया है। अवग्रह कहाँ नहीं होता, इसका निर्देशक जो नियम टीकाकार उव्वट ने उद्धृत किया है वह इस प्रकार है—

आदिमध्यान्तलुप्तानि समासन्यायभाञ्जि च।

नावगृह्णन्ति कवयः पदान्यागमवन्ति च॥ वाज० प्राति० टीका ५।४७॥

इसमें आगम युक्त पदों में अवग्रह न करने का विधान किया है। इस नियम से तो **वनस्पति** के समान **ऋतस्पति, अवरस्पर** और **वनर्षद** में भी अवग्रह नहीं होना चाहिए, क्योंकि यहाँ भी वनस्पति के समान ही सकार और रेफ के आगम का विधान है।

तद्बृहतौ करपत्योस्तलोपश्च। वाज० प्राति० ३।५२॥
तद्बृहतौ करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च। अष्टा० ६।१।१५७
पारस्करादि गणसूत्र।

१. ऋतस्पते। ऋतपतइत्यृपते। माध्य० पदपाठ २९। ३३ (संहिता पाठ २९।३४)।

अवरस्पराय। अवरपरायेत्यवर पराय। माध्य० पदपाठ ३०।१७ (संहितापाठ ३०।१९)।

इसी प्रकार 'वनर्षदः' में—वनर्षदः। वनसद् इति वन सदः। माध्य० पदपाठ ३३।१॥

२. यथा माध्य० पद० ४।११; ९।१२ इत्यादि बहुत्र।

स्वर की उपेक्षा से पद अथवा शब्द के स्वरूप-ज्ञान में कैसी भयंकर भूलें होती हैं, इसके दो (वायः—बृहस्पतिः) उदाहरण देकर हम स्पष्टीकरण कर चुके। अब हम स्वर की उपेक्षा से वेद का अर्थ कितना अशुद्ध हो जाता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

स्वर-शास्त्र की उपेक्षा के दुष्परिणाम के उदाहरण

१—हम पूर्व लिख चुके हैं कि यास्क ने **वनेनवायः** (ऋ०१०।२९।१) मन्त्र के व्याख्यान (नि० ६।२८) में पदकार शाकल्य के **वा यः** पदच्छेद में स्वरदोष का उद्भावन दर्शाकर उसे चिन्त्य कहा है। परन्तु यास्कने स्वयं निरुक्त ८।१२ में।

प्रदिशौ दिशन्ता (ऋ० १०।११०।७)

मन्त्र की **दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ** व्याख्या करते हुए एक पद **प्रदिशा** के **प्र** भाग को, जो समास होने से अनुदात्त है **दिशन्तौ** स्वतन्त्र पद के साथ युक्त कर दिया है। यह संबन्ध स्वरानुरोध से चिन्त्य है।

हमारा विचार है कि पूर्व निर्दिष्ट **यदिन्द्रचित्र** मन्त्र का व्याख्यान भूत निरुक्त का **यदिन्द्र चित्रं चायनीयं** पाठ जिस प्रकार लेखक प्रमाद से भ्रष्ट हुआ है, उसका शुद्ध पाठ **यदिन्द्र चित्र चायनीय** ही है उसी प्रकार यहाँ भी कदाचित् लेखक प्रमाद से पाठभ्रंश हुआ हो और शुद्ध पाठ **प्रदिशि यष्टव्यमिति दिशन्तौ** ही हो।

२—वृषल शब्द द्विविध व्युत्पत्ति के कारण दो प्रकार का है। एक आद्युदात्त और दूसरा अन्तोदात्त। आद्युदात्त वृषल शब्द धर्मात्मा का वाचक है और अन्तोदात्त नीच का।

यास्क ने निरुक्त ३। १६ में वृषल शब्द के दोनों अर्थ इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा।

मनु ने **वृषो हि भगवान् धर्मः** (म० ८।१६) में वृष का अर्थ धर्म बताया है। अतः वृषशील=धर्मात्मा, वृष अशील=अधर्मात्मा अर्थ होता है।

अन्तोदात्त वृषल शब्द ऋग्वेद के अक्ष सूक्त (१०।३४।११) में प्रयुक्त होता है, वहाँ उसका प्रकरणानुसार अर्थ जुआरी है।

आद्युदात्त **वृषल** शब्द शतपथ १४।९।४।१२ में मिलता है—

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत् त्र्यहं कंस न पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्.........।

यहाँ ऋतुमती स्त्री के समीप जाने अथवा स्पर्श करने का निषेध किया है। यहाँ प्रसंग श्रोत्रिय ब्राह्मण का है। इसलिए उसकी ऋतुमती जाया के साथ नीच पुरुष अथवा स्त्री के स्पर्श की तो प्राप्ति ही नहीं। इसलिए यहाँ वृषल शब्द नीच का वाचक न होकर धर्मात्मा उच्चवर्णस्थ का वाचक है। यदि कथंचित् यहाँ वृषल का अर्थ नीच मान लें तो क्या ऋतुमती पत्नी का स्पर्श ब्राह्मण या ब्राह्मणी करे तो कोई दोष नहीं ऐसा स्वीकार करना होगा जो कि उच्चवर्ण की दृष्टि से अत्यन्त जुगुप्सित है।

आचार्य शंकर की भूल—आचार्य शंकर ने बृहदारण्यकभाष्य में इसी प्रकरण की व्याख्या करते हुए आद्युदात्त वृषल शब्द का अर्थ नीच किया है वह पूर्व हेतुओं से चिन्त्य है।[1]

३—ऋग्वेद ६।१।२ में पठित '**इळस्पदे**' का व्याख्यान करते हुए स्कन्द-स्वामी ने लिखा है—

इळश्छान्दसत्वादाकारलोपः।[2]

अर्थात्—'इळस्पदे' में 'इळा' के आकार का छान्दस लोप हो गया है।

स्कन्द का यह व्याख्यान स्वर-शास्त्र के विपरीत होने से चिन्त्य है। इळः पद अन्तोदात्त पढ़ा है। षष्ठी विभक्ति तभी उदात्त हो सकती है, जब वह इळ् हलन्त से परे हो। पाणिनि ने एक नियम दर्शाया है—

---

१. एक अन्य भ्रान्ति—मुद्राराक्षस में आचार्य चाणक्य चन्द्रगुप्त के लिए प्रायः वृषल शब्द का प्रयोग करता है। वृषल शब्द का एक अर्थ धर्मात्मा भी है, इसको न जानकर सभी व्याख्याकार वृषल शब्द को नीच का वाचक मानते हैं और सम्भवतः इसी के आधार पर मौर्य क्षत्रिय वंश के चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध मुरा नाम की दासी से जोड़ दिया है। भला आचार्य चाणक्य जैसा राजनीति विशारद भरी राजसभा में सम्राट् चन्द्रगुप्त को नीच वाचक 'वृषल' शब्द से कैसे संबोधन कर सकता है। अतः चन्द्रगुप्त के लिए प्रयुक्त वृषल शब्द भी धर्मात्मा का वाचक है, नीच का नहीं।

२. स्कन्दस्वामी का यह पाठ देवराज यज्वा ने निघण्टु १।१।१५ की व्याख्या में उद्धृत किया है॥

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः । अ० ६।१।१६८॥

अर्थात्—सप्तमी विभक्ति के बहुवचन 'सु' के परे जो शब्द एकाच् देखा जाता है, उससे परे तृतीयादि विभक्ति उदात्त होती है।

इतना ही नहीं, अकारान्त **इळा** पद सर्वत्र आद्युदात्त है।[२] अतः उसके अनुदात्त आकार का लोप होने पर अनुदात्त विभक्ति को उदात्तत्व कैसे हो सकता है।

अतः स्कन्दस्वामी की उपर्युक्त व्याख्या स्वरशास्त्रानुसार दूषित होने से अप्रामाणिक है।

४—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का ७ वाँ मन्त्र है—

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् । नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥

इसमें **'दोषावस्तः'** पद आद्युदात्त है। पाद के आदि में आद्युदात्त होने से 'दोषावस्तः' पद संबोधन है, यह स्पष्ट है।

आचार्य सायण इस मन्त्र की व्याख्या में लिखता है—

दिवेदिवे प्रतिदिनं दोषावस्तः रात्रावहनि च······दोषाशब्दो रात्रिवाची। वस्तर् इत्यहर्वाची। द्वन्द्वसमासे कार्तकौजपादित्वात् (द्र० अष्टा० ६।२।३७) आद्युदात्तः·········।

अर्थात्—'दोषावस्तः' का अर्थ है दिन रात में। 'दोषा' शब्द रात्रि का वाचक है, 'वस्तर्' रेफान्त दिनवाची। द्वन्द्व समास में 'कार्तकौजपादयश्च' इस सूत्र से आद्युदात्त हुआ है।

सायण के अर्थ में ६ भूलें—सायण ने सामान्य संबोधन स्वर पर ध्यान न देकर निम्न भूलें की हैं—

क—'वस्तर्' किसी ग्रन्थ में दिनवाची नहीं है, उसे दिनवाची लिखा। निघण्टु १।९ में 'वस्तोः' का पाठ है। वह 'वस्तु' शब्द का षष्ठी का रूप है।

---

२. ऋग्वेद १।१२८।७; ३।२४।२; ३।२७।१० में श्रूयमाण अन्तोदात्त इळा पद हलन्त इळ् का तृतीया का एक वचन है और यहाँ अष्टा० ६।१।१६२ के नियम से विभक्ति को उदात्त हो जाता है।

ख—रेफान्त 'वस्तर्' अव्यय है अथवा नाम, यह व्यक्त नहीं किया। दोषावस्तः का सप्तमी—'रात और दिन में' अर्थ कैसे किया, यह अज्ञात है। क्या सप्तमी का लुक् हुआ है? अथवा अव्ययों का समास है?

ग—यदि 'दोषावस्तः' में वस्तः रेफान्त पद नहीं है तो यह किस पद का किस विभक्ति का रूप है, यह स्पष्ट करना चाहिए।

घ—कार्तकौजपादयश्च (अष्टा० ६।२।३७।) सूत्र आद्युदात्त स्वर का विधान नहीं करता। पूर्वपदप्रकृतिस्वर का विधान करता है। तथा कार्तकौजपादि गण में 'दोषावस्तः' पद पढ़ा भी नहीं है।[1]

ङ—यदि कहा जाए कि पूर्वपदप्रकृतिस्वर होकर **दोषावस्तः** में दोषा पद आद्युदात्त हो गया, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में 'दोषा' शब्द आद्युदात्त नहीं है, अन्तोदात्त है। केवल यास्कीय निघण्टु में दोषा शब्द आद्युदात्त पठित है। सम्भव है वहाँ लेखकप्रमाद हुआ हो।[2] निघण्टु के टीकाकार देवराजयज्वा के मुद्रित ग्रन्थ में दोषा पद की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती।

च—सायण ने 'दोषावस्तः' में द्वन्द्वसमास माना है, परन्तु द्वन्द्वसमास में पदकार अवग्रह नहीं दर्शाते। यह उनका नियम है। यहाँ पदपाठ में '**दोषाऽवस्तः**' अवग्रह दर्शाया है। अतः यहाँ द्वन्द्वसमास नहीं है, यह स्पष्ट है। सायण का द्वन्द्वसमास लिखना चिन्त्य है।

---

१. इधर कुछ दिनों के सायणभाष्य के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सायण को वस्तुतः स्वर-शास्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं था। वह प्रायः प्रतिमन्त्र स्वरविषयक एक दो भयंकर अशुद्धियाँ करता है। हमारा विचार है सायण ने ऋग्भाष्य में जो स्वर-प्रक्रिया लिखी है, वह उसने किसी अन्य के भाष्य से संगृहीत की है, उसका अपना लेख बहुत कम है, और वह प्रायः अशुद्ध है॥

२. तुलना करो—वेङ्कट माधव ऋग्भाष्य (बृहत्) पृष्ठ ५४१ पर अन्तोदात्त 'अद्भुत' को महन्नाम लिखता है, परन्तु निघण्टु ३।३ में महन्नामों में आद्युदात्त पाठ मिलता है। वेङ्कट माधव के मत में आद्युदात्त 'अद्भुत' 'अभूत' अर्थ का वाचक है। यास्क ने भी निरुक्त १।२ में आद्युदात्त अद्भुत शब्द का ही अर्थ 'अभूत' किया। अतः निघण्टु के महन्नाम में आद्युदात्त स्वर प्रामादिक है।

सायण की भूल का कारण—सायण निस्सन्देह अच्छा विद्वान् था, परन्तु स्वर-वैदिक-प्रक्रिया में वह निरा बालक है। ऋग्वेदभाष्य में उसने जो स्वर-प्रक्रिया दर्शाई है, उसमें पदे पदे भूलें हैं। स्वरप्रकिया में वह प्रायः तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर का अनुकरण करता है। **'दोषावस्तः'** का जो अर्थ तथा स्वर सायण ने लिखा है, वह उसने भट्टभास्कर के तैत्तिरीय संहिता-भाष्य से लिया है।

भट्टभास्कर का अर्थ—यह मन्त्र तैत्तिरीय संहिता १।५।६।२ में उपलब्ध होता है। वहाँ भट्टभास्कर लिखता है—

दोषावस्तः रात्रावह्नि च सायं प्रातश्च······। दोषावस्तरिति कार्तकौजपादिषु द्रष्टव्यः।

अर्थात् दोषावस्तः = रात्रि और दिन में, सायं प्रातः······। दोषावस्तः पद को कार्तकौजपादि (अ० ६।२।३७) गण में देखना चाहिए।

श्रीनिवासयज्वा—श्रीनिवासयज्वा ने स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका में ६।२।३७ की व्याख्या में भट्टभास्कर का ही अनुकरण किया है।

अन्य भाष्यकारों का अर्थ—अब हम इस मन्त्र के अन्य भाष्यकारों का मत उद्धृत करते हैं—

वेङ्कटमाधव (लघुभाष्य)—डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित वेङ्कट-माधव के ऋग्भाष्य में इस पद का अर्थ किया है—

···सायं प्रातश्च······।

माधवभाष्य (बृहद्भाष्य[1])—माधव के नाम से ऋग्वेद का जो भाष्य अडियार (मद्रास) से प्रकाशित हुआ है, उसमें इस पद का भाष्य इस प्रकार किया है।

दोषावस्तर्दोषाया आच्छादयितः। दोषा निशा भवति दूषयति दर्शनीयम्······।

यहाँ माधव ने स्पष्ट ही दोषावस्तः को संबोधन माना है और 'वस्तः' को वस अच्छादने का तृजन्त संबोधन रूप।

---

१. यह वस्तुतः वेङ्कटमाधव का ही ऋग्वेद का बृहद्भाष्य है। देखो श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास—'वेदों के भाष्यकार' भाग॥

सायण से भी अधिक आश्चर्य हमें वेङ्कटमाधव पर है। वेङ्कटमाधव ऋग्वेदज्ञों में मूर्धाभिषिक्त है। वेङ्कट स्वरशास्त्र का असाधारण ज्ञाता है, यह उसकी स्वरानुक्रमणी और ऋग्वेद के बृहद्भाष्य से स्पष्ट है। वेङ्कट की स्वर निपात आदि विषयक अनुक्रमणियाँ उस के लघुभाष्य के ही अंश हैं, और लघुभाष्य में ही 'दोषावस्तः' पद का अर्थ अशुद्ध उपलब्ध होता है। इससे हमें सन्देह होता है कि कहीं उस के लघुभाष्य का पाठ भ्रष्ट न हो गया हो।

हमें स्वर के सम्बन्ध में जो सूक्ष्म रहस्य ज्ञात हुए हैं, उस में उस की स्वरानुक्रमणी ही प्रधान है। ऐसे महान् स्वरज्ञ वेङ्कट ने अपने लघुभाष्य में 'दोषावस्तः' में सम्बोधन स्वर की उपेक्षा करके 'सायं प्रातः' अर्थ कैसे किया, यह समझ में नहीं आता। इस आश्चर्य की सीमा तब अधिक वृद्धिंगत हो जाती है, जब हम उसी के बृहद्भाष्य में संबोधन स्वरानुकूल ही शुद्ध अर्थ पाते हैं और वेङ्कट से प्राचीन स्कन्दभाष्य में भी शुद्ध अर्थ ही देखते हैं।

स्कन्दस्वामी—स्कन्दस्वामी ने 'दोषावस्तः' का अर्थ किया है—

दोषेति रात्रिनाम, वस आच्छादने। रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसा-माच्छादयितः·····।

अर्थात्—दोषा रात्रि का नाम है, वस आच्छादने से वस्तृ शब्द बना है। रात्रि में अपने प्रकाश से [अग्नि] अन्धकार को आच्छादित कर देता है।

सायण का स्ववचन-विरोध—'उप त्वाऽग्ने' मन्त्र तैत्तिरीय संहिता १।५।६।२ माध्यन्दिन संहिता के भाष्य में सायण 'दोषावस्त.' का अर्थ **सायंप्रातश्च** ही करता है, परन्तु काण्वसंहिताभाष्य में—

हे दोषावस्तः अग्ने ! दोषा रात्रिः तस्यामपि वसति, अजस्रं धार्यमा-णत्वान्नोपशाम्यति इति दोषावस्ता।

अर्थात्—दोषा रात्रि का नाम है, उसमें बसता है। नित्य धार्यमाण होने से रात में भी शान्त नहीं होता। अतः अग्नि दोषावस्ता है।

सायण ने इस अर्थ में अपने पूर्ववर्ती उवट के यजुर्भाष्य का अनुसरण किया है।

उवट—उवट यजु ३।२२ में लिखता है—

हे दोषावस्तः ! दोषेति रात्रिनाम। वस निवासे। रात्र्यां वसनशीलो दोषावस्ता, तस्य संबोधनं हे दोषावस्तः।

अर्थात्—दोषा रात्रि का नाम है। वस निवासे धातु से वस्तृ शब्द बनता है। रात्रि में वसने वाला दोषावस्ता, उसका संबोधन का रूप 'दोषावस्तः' है।

महीधर—महीधर यजुः भाष्य में उवट का ही अनुकरण करता है।

मैकडानल—मैकडानल को सायण की भूल खटक गई थी। इसलिए उसने वैदिक रीडर में 'दोषावस्तः' पद का ठीक अर्थ किया है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि 'दोषावस्तः' पद में आद्युदात्तत्व संबोधन स्वर के कारण ही है। संबोधन स्वर की उपेक्षा करके सायण और भट्टभास्कर ने भयंकर भूलें की हैं।

दोषावस्तः का 'हे रात्रि में बसने वाले' यही एक मात्र शुद्ध अर्थ है[1], इस विषय में हम अन्य प्रमाण भी उपस्थित करते हैं—

कठ कपिष्ठल संहिता ४।७ में लिखा है—

यदि सायमग्निहोत्रस्य कालोऽतिपद्येत "दोषावस्तोः स्वाहा" इति जुहुयात्। सैव तत्राहुतिः। तेनास्य तदनतिपन्नं भवति। यदि प्रातरग्नि-होत्रस्य कालोऽतिपद्येत "दिवावस्तोः स्वाहा" इति जुहुयात्। सैव तत्रा-हुतिः। तेनास्य तदनतिपन्नं भवति।

अर्थात्—यदि सायं काल के अग्निहोत्र-काल का अतिक्रमण = उल्लंघन हो जावे तो "दोषावस्तोः स्वाहा" इस मन्त्र से हवन करे। यही वहाँ आहुति है। उससे इस [अग्निहोत्र के काल] का अतिक्रमण नहीं होता। यदि प्रातः अग्निहोत्र काल का अतिक्रमण हो जाए तो "दिवावस्तोः स्वाहा" मन्त्र से हवन करे। यही वहाँ आहुति है। उससे इसका अतिक्रमण नहीं होता।

इस पाठ में **"दोषावस्तोः"** और **"दिवावस्तोः"** दोषा और दिवा दोनों के साथ वस्तु शब्द के षष्ठ्यन्त का प्रयोग होने से स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तु' शब्द दिन का वाचक नहीं है। अग्निहोत्र में सायं काल अग्नि की आहुति होती है, इसलिए उसके लिए **'दोषावस्तोः'** 'रात्रि में बसनेवाले के लिए' (यहाँ चतुर्थ्यर्थ में षष्ठी है) निर्देश किया और प्रातः सूर्य के लिए आहुति दी जाती है, अतः उसे **'दिवावस्तोः'** (दिन में बसनेवाले के लिए) कहा।

---

१. 'दोषावस्तः' का एक अर्थ दोषा = रात्रि = अन्धकार को दूर करने वाला भी हो सकता है परन्तु अगले उद्धरणों में 'दोषावस्तोः' के साथ 'दिवावस्तोः' का पाठ होने से यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता।

इसी अभिप्राय के पाठ काठक और मैत्रायणी संहिता में भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

काठक संहिता ६।८ में सर्वथा कठ कपिष्ठलवत् ही पाठ है।

मैत्रायणी संहिता १।८।७ में मन्त्रपाठ इस प्रकार है—

दोषावस्तोर्नमः स्वाहा।
प्रातर्वस्तोर्नमः स्वाहा।

इन तुलनाओं से स्पष्ट है कि निघण्टु १।९ में 'वस्तोः' का पाठ अहर्नामों में होने पर भी जहाँ अग्नि के प्रसंग में 'दोषा' पद के साथ 'वस्तु' का निर्देश होता है, वहाँ 'वस्तु' पद दिन का वाचक नहीं होता, अपितु वह 'वस निवासे' धात्वर्थानुसार 'दोषा' रात्रि में निवास करने वाला अर्थ का ही वाचक होता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वेद के वास्तविक अर्थ के ज्ञान के लिए स्वरशास्त्र का जानना आवश्यक है। उसके साहाय्य से व्याख्याता शब्दार्थ में भूल से बच जाता है। अन्यथा स्वर की उपेक्षा से वह पदे पदे भूलें करता है।

इस प्रकार इस अध्याय में 'वेदार्थ में स्वरशास्त्र की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम' पर संक्षेप से लिखकर अगले अध्याय में 'वेद में स्वर-व्यत्यय नहीं' इस विषय पर लिखा जायेगा॥



नवम अध्याय

वेद में स्वर आदि का व्यत्यय नहीं

पूर्व विवेचना से स्पष्ट है कि वेद में एकमात्र स्वर ही ऐसा साधन है, जिसके द्वारा व्याख्याता पद के वास्तविक और सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुँच सकता है। इसलिए वेद में यथावस्थित स्वर के अनुसार ही पद-विवरण का प्रयत्न करना चाहिए, यह यास्क आदि सभी प्राचीन आचार्यों का मत है।

अर्वाचीन वैयाकरण और वेद-व्याख्याता—अर्वाचीन वैयाकरण इस प्राचीन मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वेद में स्वर का व्यवस्थित नियम नहीं है। उसमें अनेक स्थानों पर स्वर-नियमों का व्यत्यय – उल्लंघन देखा जाता है। इसलिए व्याख्याता को चाहिए कि जहाँ स्वर अर्थ के अनुकूल प्रतीत न हो, वहाँ स्वर की उपेक्षा कर देनी चाहिये। वैयाकरणों के इस मत का आश्रयण करके अर्वाचीन वेदभाष्यकार वेदार्थ के व्याज से स्वच्छन्द विहार करते हैं और मनमाना अभिप्राय वेद से निकालने का प्रयत्न करते हैं।

हमारा विचार इसके सर्वथा विपरीत है। हम समझते हैं कि वेद में स्वरव्यत्यय की कल्पना करते ही वेद का वास्तविक तथा सूक्ष्म अर्थ लुप्त हो जाता है।

अर्वाचीन वैयाकरणों के मत में दोष—यदि अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार **वने न वायो न्यधायि चाकन्** (ऋ० १०।२९।१) के **अधायि** पद में स्वर-व्यत्यय की कल्पना की जाए तो यास्क का पूर्व-निर्दिष्ट सारा लेख[1] अशुद्ध ठहरेगा। **नतस्यप्रतिमाअस्ति** (यजु० ३२।३) में **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (अष्टा० ६।१।१६१) नियम का उल्लंघन मानकर **नतस्य** में दो उदात्त एक पद में मान लिए जाएँ तो 'झुके हुए प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति' स्वीकार करनी होगी। इसी प्रकार **भ्रातृव्यस्य वधाय** (यजुः १।१८) में स्वर-नियम की उपेक्षा करके 'भतीजे का मारना' वेदविहित मानना होगा। स्वर-व्यत्यय स्वीकार करने पर इन ऊटपटांग अर्थों का प्रतिरोधक क्या होगा, यह एक विचारणीय समस्या बन जायगी।

१, देखो, पूर्व पृष्ठ १०० ॥

इतना ही नहीं, **चिकीर्षति** और **जिजीविषति** क्रियाओं के अर्थ में जो मौलिक भेद (प्रथम में क्रियार्थ की प्रधानता, दूसरे में प्रत्ययार्थ-इच्छा की प्रधानता) है, उसकी प्रतीति कैसे होगी ? यदि हमने **जिजीविषति** के षकार में दृष्ट उदात्तत्व को स्वर-व्यत्यय मानकर टाल दिया होता, तो हमें यह सूक्ष्म भेद कभी प्रकट ही नहीं होता।

वेङ्कट माधव और अर्वाचीन वैयाकरण—ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कट माधव अर्वाचीन वैयाकरणों के मत का निदर्शन कराता हुआ लिखता है—

मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणं स्वरम्।
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते॥
माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः ॥१।१।२४,२५॥

अर्थात्—अन्य पण्डित मानते हैं कि व्याकरण के अनुसार स्वर की व्यवस्था होती है (स्वर के अनुसार अर्थ की नहीं)। वैयाकरणों के इस कथन में कोई हेतु नहीं है। माधव का तो यही पक्ष है कि स्वर से ही अर्थ की व्यवस्था होती है।

वेङ्कट माधव की भी एक भूल—सम्पूर्ण वेदभाष्यकारों में दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने स्वरानुरोध से शब्दार्थ विवेचन पर ध्यान दिया है। इनमें भी वेङ्कटमाधव का स्थान मूर्धन्य है। इस महाविद्वान् ने स्वरशास्त्र के जिन रहस्यों को उद्घाटित किया है वे अभूतपूर्व हैं। उसके लघुभाष्य के प्रथम अष्टक के प्रति अध्याय के आरम्भ में स्वरशास्त्र के विषय में की गई विवेचना अतिशय गम्भीर है। स्वरशास्त्र के इतने महान् विद्वान् ने भी जो प्रतिपद स्वरशास्त्र के अनुकूल अर्थ करने का विधान करता है, एक स्थान पर स्वरशास्त्र की उपेक्षा करने का उपदेश दिया है। वह लिखता है—

बहुव्रीहेः स्वरं पश्यन्नर्थं तत्पुरुषस्य च।
अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्याद् वरुणं वो रिशादसम्॥

स्वरानुक्रमणी ॥१।५।७॥

अर्थात्—बहुव्रीहि के स्वर को (पूर्वपद प्रकृति स्वर को) देखते हुए और अर्थ तत्पुरुष का देखते हुए अर्थ स्पष्ट होने पर स्वर का परित्याग कर दे, स्वरानुसार अर्थ न करे। यथा **वरुणं वो रिशादसम्** (५।६४।१) मन्त्र के **रिशादसम्** पद में। प्रतीत होता है वेङ्कट माधव ने **रिशादसम्** पद का विच्छेद **रिश + दसम्** (छान्दस दीर्घत्व) समझा होगा। इसीलिए **रिशान् दस्यतीति रिशादः तं**

रिशादसम् ऐसी व्युत्पत्ति मानकर **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अष्टा० ६।२।१३९) स्वर के स्थान में पूर्व पद में उदात्तत्व देखकर उक्त पंक्ति लिखी होगी। परन्तु वेङ्कट माधव की यह महती भूल है। इस में न मन्त्र पाठ का दोष है न पद-पाठ का और न स्वरशास्त्र का। ये तीनों अपने-अपने स्थान में पूर्णतया ठीक हैं। भूल है तो केवल वेङ्कट माधव की है। सम्भव है उसे यह भूल पूर्व भाष्यकारों से दायभाग में मिली हो।

वस्तुस्थिति—यहाँ वस्तुस्थिति यह है कि मन्त्रगत **रिशादसम्** पद का विच्छेद **रिश + अदसम्** करना चाहिए। इसका अर्थ होगा—**रिशान् अत्तीति रिशादाः, तं रिशादसम्**। यहाँ **रिश** उपपद होने पर **अद भक्षणे** धातु से औणादिक **असुन्** प्रत्यय हुआ है। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (६।२।१३९) से उत्तर पदप्रकृति स्वर होकर **रि॒श॒ + अ॑द॑सम्** स्वर होगा और **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अष्टा० ८।२।५) से एकादेश उदात्त होकर **रि॒शाद॑सम्** स्वर अञ्जसा उपपन्न हो जाएगा। इसलिए इसमें बहु-व्रीहि स्वर (पूर्वपद प्रकृतिस्वर) की कल्पना करना और उसको छोड़ने का उपदेश देना वेङ्कट माधव की ही भूल है। स्वरशास्त्र के नियमों की उपेक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं। पदकार ने **रिश + दसम्, रिश + अदसम्** उभयथा कल्पना की सम्भावना समझकर **सन्दिग्धे नावगृह्णन्ति** नियम के अनुसार इस पद का अवग्रह नहीं किया।

बृहद्भाष्य में—वेङ्कट माधव ने बृहद् ऋग्भाष्य १।२।७ में **रिशादसम्** की दोनों व्युत्पत्तियाँ दर्शाई हैं।

अर्वाचीन वैयाकरणों के मत में 'व्यत्यय' का अर्थ—भगवान् पाणिनि ने **व्यत्ययो बहुलम्** (अष्टा० ३।१।८५) में व्यत्यय शब्द का व्यवहार किया है। काशिका-वृत्तिकार जयादित्य ने व्यत्यय शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिकरः,[1] **विषयान्तरे विधानम्।**

हरदत्त ने इस वचन की व्याख्या करते हुए लिखा है—

अन्योऽन्यविषयावगाहनमित्यर्थः। पदमञ्जरी।

इन वचनों का भाव यह है कि व्यत्यय नाम व्यतिगमन, विषयान्तर में विधान अथवा अन्य के विषय में अन्य कार्य का होना अर्थात् विहित नियमों

१. यह न्यासानुसारी पाठ है। काशिका का मुद्रितपाठ 'व्यतिहारः' है।

का उल्लंघन। यदि वैयाकरणों का उक्त मत स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो व्यत्यय का अर्थ है—साधु अथवा उचित शब्द स्वरूप के स्थान में असाधु अथवा अनुचित शब्द का प्रयोग।

यह व्यत्यय वचन, विभक्ति, लिङ्ग, कारक, पुरुष, काल, स्वर और वर्ण आदि विषयक अनेकविध होता है।[1] अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार व्यत्यय शब्द का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए हम एक वैदिक उदाहरण देते हैं—

चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। ऋ० १।१६२।६॥

इस मन्त्र में कर्तृपद ये बहुवचनान्त है, पर कर्तृवाच्य क्रियापद **तक्षति** एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। बहुवचनान्त 'ये' पद का एकवचनान्त 'तक्षति' से अन्वय सम्भव नहीं। अतः वैयाकरणों का कथन है कि यहाँ 'तक्षन्ति' बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग कर दिया है। यदि कोई लौकिक पुरुष **ये पुरुषाः नगरं गच्छति तेभ्य इदं देहि** ऐसा प्रयोग करे तो वैयाकरण झट कह उठेंगे कि यह वाक्य अशुद्ध है। यहाँ 'गच्छन्ति' होना चाहिए। परन्तु ये वैयाकरणमन्य श्रद्धातिरेक के कारण अथवा हमें कोई नास्तिक न कहे, इसलिए वैदिक प्रयोग को साक्षात् अशुद्ध कहने का साहस नहीं करते, परन्तु व्यत्यय की आड़ में उसे अशुद्ध कहने की धृष्टता अवश्य करते हैं।[2]

इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि 'व्यत्यय' शब्द का प्रयोग तो स्वयं भगवान् पाणिनि ने किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी ऐसा ही व्याख्यान किया है, तब भला अर्वाचीन वैयाकरणों का इसमें क्या दोष?

---

१. महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इनका परिगणन इस प्रकार किया है—'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन'। ३।१।८५॥ इन सब प्रकार के व्यत्ययों की मीमांसा के लिए हमारा 'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्' निबन्ध देखना चाहिए। यह 'वेदवाणी' पत्रिका के १४ वर्ष के प्रथम अंक (नवम्बर १९६१) से आरम्भ होकर कई अंकों में पूर्ण हुआ है।

२. अर्वाचीन वैयाकरण रामायण-महाभारत तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त शिष्ट-प्रयोगों को भी इसी प्रकार अपशब्द कहने की धृष्टता करते हैं। देखिए, 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २३॥

हमारा कहना है कि निश्चय ही पाणिनि का 'व्यत्यय' शब्द का वह अभिप्राय नहीं है, जो अर्वाचीन वैयाकरण समझते हैं।

व्यत्यय शब्द का शुद्ध अर्थ

व्यत्यय शब्द का मूल अर्थ है 'विहित नियमों का उल्लंघन'। अब सबसे प्रथम प्रश्न उत्पन्न होता है कि पाणिनि द्वारा प्रतिपादित नियम मुख्यतया लौकिक भाषा के हैं अथवा वैदिक लौकिक दोनों के। हमारा कहना है कि पाणिनि के साधारण नियम मुख्यतया लौकिक भाषा को प्रमुखता देकर लिखे गए हैं, और जहाँ वेद में उन नियमों से कुछ भिन्नता प्रतीत हुई, वहाँ उन्होंने बहुल शब्द का अथवा व्यत्यय शब्द का प्रयोग करके छान्दस प्रयोगों के ज्ञान कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जिस प्रकार लौकिक भाषा के प्रयोगों के लिए व्यवस्थित रूप से नियम सूत्रबद्ध किए, उसी प्रकार वैदिक शब्दों के लिए व्यवस्थित नियम नहीं रचे। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के नियम मुख्यतया लौकिक भाषा के हैं, वैदिक के नहीं।[1] इस तत्त्व पर ध्यान देते ही पाणिनि के 'बहुलं' अथवा 'व्यत्यय' पद का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पाणिनि वेद में लौकिक भाषा के नियमों का व्यतिगमन अथवा उल्लंघन मानते हैं, वैदिक प्रयोगों को वे अशुद्ध नहीं कहते। तदनुसार **चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति** में लौकिक भाषा के रूप **तक्षन्ति** के स्थान में **तक्षति** रूप प्रयुक्त है, इतना ही पाणिनि का अभिप्राय है। पाणिनि ने कहीं साक्षात् नहीं कहा कि इस मन्त्र में प्रयुक्त **तक्षति** एक वचन का रूप है।[2]

इतना ही नहीं, पाणिनि ने लौकिक भाषा के नियमों को मुख्यता देते हुए उसके समस्त नियमों का भी प्रतिपादन नहीं किया। यदि लौकिक भाषा के उन शिष्ट प्रयोगों को, जिनके लिए पाणिनि ने कोई साक्षात् नियम नहीं लिखे, समझाने की चेष्टा की जाए, तो उन लौकिक प्रयोगों में भी वैदिक शब्दों के समान ही व्यत्यय मानना पड़ेगा। यथा—

१—**दास्या संयच्छते**—इस प्रयोग में पाणिनि के किसी साक्षात् नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु लोक में इस वाक्य में तृतीया का प्रयोग होता है। इस अवस्था में जैसे वेद में **चतुर्थ्यर्थे बहुलं**

---

१. अष्टाध्यायी के वैदिक-प्रयोग-निदर्शक सूत्रों में स्थान-स्थान पर 'बहुलं' ग्रहण इसका ज्ञापक है॥

२. इस पर विशेष विचार अनुपद ही आगे किया जायगा॥

छन्दसि (अष्टा० २।३।६२) सूत्र-विहित चतुर्थ्यर्थ में षष्ठी अथवा **षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या** (भाष्य २।३।६२) वार्तिक-विहित षष्ठ्यर्थ में चतुर्थी को व्यत्यय कहा जाता है, उसी प्रकार **दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे** (अष्टा० १।३।५५) सूत्र द्वारा ज्ञापित चतुर्थ्यर्थक तृतीया को भी व्यत्यय ही कहना होगा। क्योंकि 'दास्या सम्प्रयच्छते' में भी चतुर्थी के स्थान में तृतीया का प्रयोग है। इस प्रकार व्यत्यय का क्षेत्र वेद तक सीमित न रह कर लोक तक विस्तृत हो जाता है।

२—**जनिकर्तुः प्रकृतिः** (अष्टा० १।४।३०), **तत्प्रयोजको हेतुश्च** (अष्टा० ४।१।५५) इत्यादि पाणिनीय प्रयोगों में **तृजकाभ्यां कर्तरि** (अष्टा० २।२।१५) अथवा **कर्तरि च** (अष्टा० २।२।१६) सूत्र से षष्ठी-समास का प्रतिषेध प्रवृत्त होता है। तदनुसार पाणिनि के **जनिकर्तुः** और **तत्प्रयोजकः** प्रयोगों में उसके अपने नियम का ही उल्लंघन स्पष्ट है। अतः इन प्रयोगों में भी व्यत्यय से ही षष्ठी-समास मानना होगा।

३—पाणिनि ने पर शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति का विधान किया है (अष्टा० २।३।२९)। परन्तु उसके प्रत्यय विधायक पचासों सूत्रों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—**ऋहलोर्ण्यत्** (अष्टा० ३।१। १२४) सभी व्याख्याकार यहाँ **पञ्चम्यर्थे षष्ठी** लिखते हैं।

इन तीन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यत्यय का क्षेत्र तो न केवल वेद अथवा आर्ष प्रयोगों तक सीमित है, अपितु पाणिनि का अपना ग्रन्थ भी व्यत्यय की चपेट के अन्तर्गत आ जाता है।

पाणिनि के अपने सूत्र-पाठ में लगभग १०० प्रयोग ऐसे हैं जो उसके अपने लक्षणों के ही विपरीत हैं अथवा उनमें उस के नियमों का उल्लङ्घन (व्यत्यय) उपलब्ध होता है। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि क्या ये पाणिनीय प्रयोग भी अशुद्ध हैं ? यदि इन्हें अशुद्ध कहने की धृष्टता की जाए तो यही कहना होगा – **घोटकारूढस्य घोटको विस्मृतः**, अर्थात् घोड़े पर सवार व्यक्ति को अपना घोड़ा ही विस्मृत हो गया। दूसरे शब्दों में कहना होगा—चले थे पाणिनि दूसरों को व्याकरण पढ़ाने और करने लगे स्वयं ही व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि व्यत्यय की कल्पना चाहे वेद में की जाए, चाहे शिष्ट प्रयोगों में, चाहे पाणिनि के स्वप्रयोगों में, सब का मूल कारण पाणि-

नीय तन्त्र का संक्षिप्त प्रवचन है।[1] व्याकरण शास्त्र के उत्तरोत्तर संक्षिप्त होने से जो जो प्राचीन नियम उत्तरोत्तर छूटते गए, उन उन नियमों से प्रसिद्ध शब्दों के साथ उत्तरोत्तर व्यत्यय की कल्पना संबद्ध होती गई। इसके हम यहाँ दो उदाहरण देते हैं—

१—काशकृत्स्न-प्रोक्त धातुपाठ में मृ धातु भ्वादिगण में पठित है तदनुसार उसके **मरति मरतः मरन्ति** प्रयोग लोक में साधु होंगे। और वेद में प्रयुक्त 'मरति' आदि प्रयोगों में व्यत्यय की कल्पना का अवकाश ही नहीं रहेगा। काशकृत्स्न के उत्तरवर्ती पाणिनि ने भ्वादि में **मृ** धातु नहीं पढ़ा। अतः पाणिनि के मतानुसार वेद में प्रयुक्त 'मरति' आदि प्रयोगों का साधुत्व व्यत्यय द्वारा ही दर्शाया जाएगा।

२—क्षीरस्वामी, दैव-पुरुषकार, दशपादी-उणादिवृत्तिकार आदि पाणिनीय वैयाकरण तथा पाल्यकीर्ति, हेमचन्द्र प्रभृति आचार्य भ्वादि में **कृञ्** धातु का पाठ मानते हैं। इसलिए इन वैयाकरणों के मतानुसार वेद के **करति करतः करन्ति** प्रयोगों में कोई व्यत्यय-कार्य नहीं है। परन्तु जब सायण ने पाणिनीय धातुपाठ से कृञ् को भ्वादिगण से निकाल दिया[2] तो उसके द्वारा परिष्कृत पाठ को ही पाणिनीय पाठ मानने वाले उत्तरवर्ती वैयाकरणों को वेद में प्रयुक्त **करति करतः करन्ति** प्रयोगों में व्यत्यय की कल्पना करनी पड़ी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यत्यय का अर्थ **"पाणिनी आदि आचार्यों द्वारा साक्षात् उपदिष्ट नियमों से असिद्ध, किन्तु किन्हीं प्राचीन अथवा नवीन नियमान्तरों से निष्पन्न"** इतना ही समझना चाहिए। इसलिए जहाँ-जहाँ पाणिनि आदि आचार्यों ने साक्षात् नियम का प्रवचन न करके व्यत्यय अथवा बहुल पद द्वारा किन्हीं पदों का साधुत्व दर्शाया वहाँ-वहाँ उनका अभिप्राय उन प्रयोगों के साक्षात् साधुत्व-निदर्शक नियमान्तर-प्रकल्पना से है।

---

१. यदि पाणिनीय सूत्रों की ही वैज्ञानिक विस्तृत व्याख्या कर दी जाए तो एक भी छान्दस और आर्ष प्रयोग ऐसा नहीं रहता जिसके लिए 'व्यत्यय' शब्द का प्रयोग किया जा सके। इस प्रकार की सूत्र व्याख्या के कुछ उदाहरण हमने 'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्' लेख में दिए हैं। द्रष्टव्य 'वेदवाणी' पत्रिका वर्ष १४ अंक ४, ५, ६।

२. देखिये क्षीरस्वामी विरचित क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ १३० की तीसरी टिप्पणी, तथा उसी के आदि में सन्नद्ध 'पाणिनीयो धातुपाठः तद्वृत्तयश्च' लेख पृष्ठ १४-१८।

नियमान्तर-कल्पना का एक उदाहरण

हमने ऊपर '**चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति**' मन्त्रांश उद्धृत किया है और दर्शाया है कि यहाँ अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार बहुवचन 'तक्षन्ति' के स्थान में एकवचन 'तक्षति' का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः यह बात नहीं है कि बहुवचन 'तक्षन्ति' के स्थान में एकवचन 'तक्षति' प्रयुक्त हुआ है, अपितु 'तक्षन्ति' का जो बहुत्व अर्थ है, उसीमें 'तक्षति' का प्रयोग है। यह बहुवचनार्थक 'तक्षति' प्रयोग भ्वादिगणस्थ तक्ष धातु का नहीं है, उसका 'तक्षति' प्रयोग एकवचन में बनता है। यहाँ बहुत्व अर्थ विस्पष्ट है। इसलिए पतञ्जलि के **तिङां व्यत्ययः चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते** वचन का भी इतना ही अभिप्राय है कि वेद में तिङन्त शब्दों में लौकिक नियमों का अतिक्रमण देखा जाता है। यथा—'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' में बहुत्व अर्थ में लौकिक 'तक्षन्ति' के स्थान में वेद में लोक-विलक्षण 'तक्षति' पद प्रयुक्त हुआ है। इसलिए बहुत्ववाचक 'तक्षति' पद जैसे उपपन्न हो जाए, वैसे नियमों की कल्पना कर लेनी चाहिए। तदनुसार यदि **तक्ष** धातु को अदादि गण में भी मान लिया जाए (जैसे 'मृ' को काशकृत्स्न ने, 'क्नूञ्' को पाणिनीय और हैम आदि वैयाकरणों ने भ्वादिगण में माना है) तो वेद का 'तक्षति' शब्द बहुवचन में ठीक उसी प्रकार निष्पन्न हो जाएगा जैसे लोक में **जक्षति** पद निष्पन्न होता है। स्वर भी, **जक्ष** के समान **तक्ष** की भी अभ्यस्त संज्ञा मानकर, **अभ्यस्तानामादिः** (अष्टा० ६।१।१८९) से उपपन्न हो जाएगा। तक्ष का अदादि में पाठ मानने पर किसी प्रकार की कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार सभी प्रकार के व्यत्ययों की व्याख्या हो जाती है।

यह है 'व्यत्यय' का वास्तविक अभिप्राय। इस अभिप्राय को न समझकर पाणिनि के **व्यत्ययो बहुलम्** (अष्टा० ३।१।८५) सूत्र के आधार पर मनमाना अर्थ करना नितान्त अनुचित है। इसी प्रकार वेद में उचित अथवा साधु शब्द के स्थान पर अनुचित अथवा असाधु पद का प्रयोग मानना या बताना भी अत्यन्त गर्हित है। चाहे इस प्रकार की व्याख्या किसी ने भी क्यों न की हो। पाणिनि आदि महर्षियों का ऐसा अभिप्राय कदापि न था, जैसा उनके व्याख्याता उपस्थित करते हैं। यह हमारे ऊपर के लेख से स्पष्ट है। अतः आधुनिक वैयाकरणों और उनका अन्धानुकरण करने वाले वेदभाष्यकारों की व्यत्यय-विषयक कल्पना नितान्त अशुद्ध है।

व्यत्यय की इस सामान्य विवेचना से स्वर-व्यत्यय की व्याख्या भी जान लेनी चाहिए। अतः हम अन्त में यही कहना चाहते हैं कि वेद में वास्तव में कहीं स्वर-व्यत्यय नहीं है। इसलिए स्वर पर पूरा भरोसा करके उसके अनुसार अर्थ करना चाहिए। पद अथवा वाक्य के जिस अंश में उदात्तत्व विद्यमान हो, उसके अर्थ को प्रमुखता देनी चाहिए। चाहे वह स्वर व्याकरण के वर्तमान नियमों से उपपन्न होता हो अथवा न होता हो। यदि कोई यथा-वस्थित स्वर के अनुसार अर्थ करने में असमर्थ है तो उसे स्वर-विरुद्ध अर्थान्तर-कल्पना का प्रयास नहीं करना चाहिए। ऐसे स्थानों पर शास्त्रकारों का निम्न वचन सदा ध्यान में रखना चाहिए—

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। निरुक्त १।१६॥

अर्थात्—यह स्थाणु (सूखे ठूँठ) का अपराध नहीं है, जो उसे अन्धा नहीं देखता। वह [उस अन्धे] पुरुष का अपराध है। जैसे जनपद-सम्बन्धी कृषि आदि कार्यों में विद्या से पुरुष की विशेषता होती है, उसी प्रकार पारोवर्यवित् विद्वानों में बहुश्रुत प्रशस्य होता है।

इस प्रकार वैदिक स्वरों के विषय में संक्षेप से लिखकर अगले अध्याय में संहिता के स्वरों का अङ्कन-प्रकार लिखा जाएगा॥

दशम अध्याय

वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार

पिछले अध्यायों में वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होने वाले उदात्त आदि स्वरों का संक्षिप्त परिचय, उन का अर्थ के साथ संबन्ध, वेदार्थ में उनकी उपयोगिता और उनकी उपेक्षा से होने वाले दुष्परिणामों का निदर्शन हम भले प्रकार करा चुके।

स्वराङ्कन-प्रचार की विविधता—वैदिक वाङ्मय के जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उन में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का अङ्कन (=संकेत=चिह्न) एक प्रकार का नहीं है। उन में परस्पर अत्यधिक वैलक्षण्य है। एक ग्रन्थ में जो स्वरित का चिह्न देखा जाता है, वही दूसरे ग्रन्थ में उदात्त का चिह्न माना जाता है।[1] इसी प्रकार किसी ग्रन्थ में जो अनुदात्त का चिह्न है, वह अन्य ग्रन्थ में उदात्त का चिह्न होता है।[2] साम संहिता का स्वराङ्कन-प्रकार सबसे विलक्षण है। उसके पदपाठ का स्वराङ्कन संहिता के स्वराङ्कन से भी पूर्णतया मेल नहीं रखता। इसलिए वेद के विद्यार्थी को पदे पदे सन्देह और कठिनाई उपस्थित होती है। हम उनकी इस कठिनाई को दूर करने के लिए उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकारों का वर्णन करते हैं।

पूर्व स्वराङ्कन परिचायक—वैदिक स्वराङ्कन का परिचय देने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। उन में श्री पं० पद्मनारायण आचार्य,[3] श्री पं०

---

१. यथा ऋग्वेद, अथर्ववेद में प्रयुक्त स्वरित चिह्न शीर्षस्थ | रेखा मैत्रायणी संहिता में उदात्तस्वर के लिए प्रयुक्त होती है॥

२. ऋग्वेद आदि में अनुदात्त के लिए प्रयुक्त नीचे की सरल—रेखा शतपथ ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न है॥

३. देखिए "वैदिक स्वर का एक परिचय" लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १४, पृष्ठ २८३–३२२॥

धारेश्वर शास्त्री,[१] श्री पं० सातवलेकर जी[२] और श्री० पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री[३] प्रमुख हैं।

अशास्त्रीय और योरोपीय पद्धति का अनुसरण=इन महानुभावों ने स्वराङ्कन-परिचय की जो पद्धति अपनाई है, वह भारतीय शास्त्रानुकूल नहीं है। कतिपय अंशों में शास्त्र-विरुद्ध है। श्री पं० पद्मनारायण आचार्य और श्री पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री का परिचय-प्रकार योरोपीय पद्धति पर आश्रित है।

शास्त्रीय पद्धति के परित्याग से हानि—शास्त्रीय पद्धति के परित्याग से अथवा योरोपीय पद्धति के आश्रयण करने से साधारण से साधारण विषय न केवल क्लिष्ट तथा सन्देहयुक्त हो जाता है, अपितु उसके आधार पर वेद का सूक्ष्मार्थ भी नष्ट हो जाता है। यथा—

१—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने स्वरित के दो भेद किए हैं—अनुदात्तभूमि और उदात्तभूमि। उदात्त से परे जो अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उसे अनुदात्तभूमि कहा गया है। इससे भिन्न स्वरितों के लिए उदात्तभूमि शब्द का प्रयोग किया है। शास्त्रीय प्रक्रियानुसार जो जात्य, क्षैप्र और प्रश्लेष स्वरित हैं, उन्हें 'उदात्त-भूमि' संज्ञा दी है। उदात्त के उत्तरवर्ती अनुदात्त के स्वरित हो जाने पर उसे 'अनुदात्तभूमि' कहना युक्त कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी भूमि वस्तुतः अनुदात्त है। परन्तु उन्होंने जिन जात्य, क्षैप्र और प्रश्लेष स्वरितों को उदात्त-भूमि कहा है, उनमें से कोई भी स्वरित ऐसा नहीं है जो मूलतः उदात्त हो और कारणवश उसे स्वरित हो जाता हो। क्षैप्रस्वरित में उदात्त वर्ण के स्थान पर यणादेश होता है और उससे आगे जो अनुदात्त होता है, उसे स्वरित हो जाता है। यथा—**तन्वो॑ अप्स्व१॒न्तः**। यतः क्षैप्रस्वरित भी अनुदात्त के स्थान पर ही होता है, अतः वह अनुदात्तभूमि तो कहा जा सकता है, परन्तु उसे उदात्तभूमि नहीं कह सकते। यदि कहा जाए कि उदात्त-स्थानीय यण् स्वरितत्व में कारण है अतः उसे उदात्तभूमि संज्ञा दी है, तो अनुदात्तभूमि स्वरित में भी

---

१. श्री पं० धारेश्वर शास्त्री ने साम संबन्धी स्वराङ्कन का निर्देश ८ सूत्रों से दर्शाया है। हमने उनके सूत्र छात्रावस्था में किसी ग्रन्थ से प्रतिलिपि किए थे। ग्रन्थ का नाम इस समय स्मरण नहीं है॥

२. श्री पण्डित जी ने स्वप्रकाशित सामवेद मैत्रायणी संहिता आदि की भूमिका में कतिपय ग्रन्थों का स्वराङ्कन दर्शाया है॥

३. 'वैदिकपदानुक्रमकोष', संहिता भाग के प्रथम खण्ड की भूमिका में॥

तो पूर्ववर्ती उदात्त ही कारण होता है, अतः उसे भी उदात्तभूमि कहना चाहिए। प्रश्लेष स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों के सम्मिश्रण से स्वरित होता है, अतः इसे भी उदात्तभूमि नहीं कह सकते। क्व, शरव्या, कन्या आदि में श्रुत जात्य स्वरित को भी उदात्तभूमि संज्ञा देना चिन्त्य है। क्योंकि यहाँ शास्त्रीय पद्धति के अनुसार न क्षैप्रसन्धि है और न प्रश्लेष। यहाँ तो अत् और यत् प्रत्यय के तित् होने से स्वभावतः स्वरितत्व है।[१] सम्भवतः श्री पं० विश्वबन्धु जी ने यहाँ क्रमशः कु अ, शरवी आ, कनी आ इस प्रकार सन्धि की कल्पना की होगी।

२—श्री पद्मनारायण आचार्य ने जात्य, क्षैप्र और प्रश्लेष स्वरित के लिए "स्वतन्त्र स्वरित" शब्द का व्यवहार किया है। जात्य को स्वतन्त्र स्वरित कहना तो युक्त है, परन्तु क्षैप्र और प्रश्लेष सन्धियों के निमित्त से होने वाले स्वरितों (जिनमें उदात्त वर्ण ही कारण बनता है) को स्वतन्त्र स्वरित का नाम देना यथार्थता से आँखें मूँदना है।

इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति का परित्याग करके श्री पं० विश्वबन्धुजी द्वारा कल्पित 'अनुदात्तभूमि, और 'उदात्तभूमि' तथा श्री पद्मनारायण आचार्य द्वारा कल्पित 'परतन्त्र स्वरित' और 'स्वतन्त्र स्वरित' नामों की यथार्थ व्याख्या न केवल क्लिष्ट ही है, अपितु यथार्थता से बहुत दूर है।

वस्तुतः शास्त्रपरिष्कृत मार्ग का परित्याग करने से मनुष्य पदे पदे भूल करता है।

३—श्री धारेश्वर शास्त्री ने सामस्वर का निर्देश करते हुए लिखा है—

उदात्तः स्वरितो विरामे ॥

अर्थात्—विराम (अवसान) में उदात्त को स्वरित हो जाता है।[२]

उदात्त और स्वरित दो पृथक् स्वर हैं। स्वरों में उदात्त स्वर मुख्य होता है। अर्थ की दृष्टि से उदात्त स्वर का ही महत्त्व है। वह पद के प्रकृति अथवा प्रत्ययरूपी जिस अंश में वर्तमान रहता है, उसी अंश के अर्थ की प्रधानता होती है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ६३—६४) सप्रमाण विस्तारपूर्वक दर्शा चुके हैं।

---

१. 'तित् स्वरितम्'। अष्टा० ६।१।१८५॥

२. भाषिक-सूत्र-नामक परिशिष्ट में भी ऐसी ही अशास्त्रीय पद्धति का आश्रयण किया है। वहाँ अनुदात्त और स्वरित को उदात्त तथा उदात्त को अनुदात्त कहा है॥

इसी दृष्टि से उदात्त स्वर को स्वरित बना देने का अभिप्राय है प्रधान अर्थ को गौण बनाना। यदि वेद में उदात्त स्वर से प्रतीयमान मुख्य अर्थ को गौण बना दिया जाय तो वेद का सूक्ष्म अर्थ नष्ट हो जाता है। इसलिए उदात्त को स्वरित कहना शास्त्रविरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है।

अब हम शास्त्रीय पद्धति के अनुसार वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कनों का वर्णन करते हैं—

अथात आम्नाय-स्वराङ्कन-प्रकारः ॥ १ ॥

अब हम आम्नाय = वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त उदात्त आदि स्वरों के विविध अङ्कन प्रकारों का वर्णन करेंगे।

सिद्धवत् पाणिनीयः ॥ २ ॥

इस स्वराङ्कन-प्रकार के विधान में भगवान् पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट पद और संहिता-स्वर सिद्धवत् माना जायगा। अर्थात् आचार्य पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में जिस पद का जो स्वर दर्शाया है तथा संहिता में जो स्वरित, एकश्रुति और अनुदात्ततर आदि विकार कहे हैं, उनको उसी प्रकार स्वीकार करके स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश किया जाएगा।

आम्नायो द्विविधः, संहिताब्राह्मणभेदात् ॥ ३ ॥

वह आम्नाय संहिता और ब्राह्मण के भेद से दो प्रकार का है।

संहिता नाम से विख्यात ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं, एक वे जिनमें केवल मन्त्रमात्र हैं, यथा—ऋक्संहिता, माध्यन्दिन संहिता[1] आदि। दूसरे वे हैं जिनमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का सम्मिश्रण है, यथा—तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता।

आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के ही परिशिष्ट भाग हैं। ईश को छोड़कर शेष प्राचीन उपनिषदें उन आरण्यकों के ही अन्तर्गत हैं। अतः आरण्यक और उपनिषदों की पृथक् गणना नहीं की।

---

१. यजुःसर्वानुक्रम में माध्यन्दिन संहिता के 'ब्राह्मण' नाम से दर्शाए भाग भी प्राचीन आचार्यों के मत से मन्त्रात्मक ही हैं। इसकी विशद मीमांसा के लिए हमारा 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः' निबन्ध देखना चाहिए। यह हिन्दी में छप गया है॥

संहिता द्विविधा, निर्भुजप्रतृणभेदात् ॥ ४ ॥

निर्भुज और प्रतृण भेद से संहिता दो प्रकार की होती है।

निर्भुज शब्द मन्त्रसंहिता का वाचक है और प्रतृण पद-संहिता का। ऐतरेय आरण्यक में कहा है—

यद्धि सन्धिं विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम्, अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत् प्रतृणस्य ॥ ३।१।३॥

इसकी व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है—जो उच्चारण सन्धि अर्थात् पूर्व उत्तर के दोनों पदों के अत्यन्त सन्निकर्ष को विशेषरूप से सम्पादित करता है वह निर्भुज का रूप है। निर्दिष्ट किये गये हैं भुजा के समान पूर्व-पर-वर्ती शब्द जिस संहितारूप उच्चारण में, वह उच्चारण निर्भुज कहाता है। 'अथ' शब्द पूर्व से विलक्षणता बताने के लिए है जो उच्चारण पूर्व तथा परवर्ती दोनों अक्षरों को शुद्ध = विकाररहित = स्पष्ट रखता है, वह 'प्रतृण' कहाता है।.........प्रतृण शब्द से विच्छिन्न (स्वतन्त्र) शब्द का निर्देश किया जाता है।[1]

क्रम-जटा-घनादयः पदमूलाः ॥ ५ ॥

वैदिक विद्वानों द्वारा पठ्यमान मन्त्रों के क्रम, जटा, घन आदि पाठ पद-मूलक हैं। अर्थात् पदपाठ को आश्रय मानकर ही क्रम आदि पाठ उपपन्न होते हैं।

यद्यपि क्रमपाठ पदमूलक है, पुनरपि उसमें दो दो पदों का सहपाठ होने से पद और संहिता दोनों के सम्मिलित स्वरों का प्रयोग होता है।

वेद के जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ, और घन पाठ यद्यपि

---

१. यद् उच्चारणं सन्धिं पदयोरुभयोरत्यन्तसन्निकर्षं विवर्तयति विशेषेण सम्पादयति तदुच्चारणं निर्भुजशब्दार्थस्य स्वरूपम्। निर्दिष्टौ भुजसदृशौ पूर्वोत्तर-शब्दौ यस्मिन् संहितारूपे तदुच्चारणं निर्भुजम्। अथ शब्दः पूर्ववैलक्षण्यार्थः। शुद्धे विकाररहिते पूर्वोत्तरे उभे अक्षरे अभिव्याहरति स्पष्टमुच्चारयतीति यदस्ति तत् प्रतृणशब्दाभिधेयस्य पदच्छेदस्य स्वरूपम्।...प्रतृणशब्देन विच्छिन्नं पदमभिधीयते। ऐ० आ० सायणभाष्य ३।१।३॥

क्रम-मूलक माने गये हैं[१], पुनरपि क्रमपाठ के पदमूलक होने से ये भी परम्परा से पदमूलक ही हैं। जटा आदि को अष्ट-विकृति भी कहा जाता है।

इन आठ विकृतियों में जटा और दण्ड प्रधान हैं। जटा के अनुसार शिखा-पाठ होता है और दण्ड के अनुसार माला, लेखा, ध्वज और रथ। घन पाठ जटा और दण्ड उभयानुसारी है।[२]

क्रमपाठ भी क्रमसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है। उव्वट ऋक्प्रातिशाख्य २।२ की व्याख्या में लिखता है—

सा च द्विविधा संहिता। आर्षी क्रम-संहिता च। आर्षी—अयं देवाय जन्मने (ऋ० १।२०।१)। क्रमसंहिता—पर्जन्याय प्र, प्रगायत, गायत दिवः (ऋ० क्रम ७।१०।२।१)।

चरणव्यूह के व्याख्याकार महिदास ने इन आर्षी और क्रमसंहिता का नाम क्रमशः **रूढा** और **योगा** लिखा है।[३]

पञ्चपटलिका ५।१९ में **आचार्य-संहिता** का निर्देश मिलता है।[४] कौशिक सूत्र ८।२१ पर टीका करते हुए दारिलने **आर्षी संहिता** और **आचार्य संहिता** दो भेद दर्शाए हैं।[५]

हम यहाँ केवल मन्त्र-संहिता और पद-संहिता के स्वरों का ही वर्णन करेंगे।

निर्भुजसंहितायास्तावत् ॥ ६ ॥

निर्भुज (मन्त्र-संहिता) और प्रतृण (पद-पाठ) संहिताओं में पहले निर्भुज संहिता के स्वरों का निर्देश करेंगे।

---

१. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः। व्याडिविरचित विकृतिवल्ली। चरणव्यूह की महिदासकृतटीका १।५ में उद्धृत ॥

२. आसां मध्ये जटादण्डयोः प्राधान्यम्। तत्कथम्? जटानुसारिणी शिखा। दण्डानुसारिणी माला लेखा ध्वजो रथश्च। घनस्तूभयानुसारित्वात्। महिदासकृत चरणव्यूह टीका १।५॥

३. सा द्विविधा, रूढा योगा च। रूढा यथा—अग्निमीळे पुरोहितम् इति। योगा यथा—अग्निमीळे, ईळे पुरोहितम्, इति ॥

४. आचार्यसंहितायां तु पर्यायाणामतः परम्।...... ॥

५. पुनरुक्तप्रयोगः पञ्चपटलिकायां कथितः। आर्षीसंहितायाः कर्मयोगात्, आचार्यसंहिताऽभ्यासार्था ॥

तत्राप्यृग्वेदस्य ।। ७ ।।

निर्भुज संहिताओं में भी पहले ऋग्वेद के स्वराङ्कन-प्रकार का वर्णन किया जाता है।

अधोरेखयाऽनुदात्तः ।। ८ ।।

अक्षर[१] के नीचे पड़ी रेखा से अनुदात्त[२] स्वर का निर्देश किया जाता है। यथा—

अग्निमीळे पुरोहितम् ऋ० ।१।१।१।।

यहाँ 'अ' और 'पु' के नीचे पड़ी रेखा का निर्देश होने से ये दोनों अनुदात्त हैं। ऐसा ही सर्वत्र समझें।

विशेष ध्यातव्य—यद्यपि स्वर-शास्त्र के अनुसार उदात्त आदि स्वरधर्म अचों (स्वरों) के ही हैं, तथापि यहाँ स्वरनिर्देश प्रकरण में चिह्नों के ठीक ज्ञान के लिए व्यञ्जन-विशिष्ट अचों (स्वरों) का उल्लेख किया है। उनके निर्देश में अभिप्राय तत्तत् अचों से ही है, व्यञ्जनों से नहीं।

ऊर्ध्वरेखया स्वरितः ।। ९ ।।

अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा से स्वरित का निर्देश किया जाता है। यथा—

अग्निमीळे पुरोहितम् । ऋ० १।१।१।।

यहाँ 'मी' और 'हि' के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न होने से ये दोनों स्वरित हैं।

स्वरितात् परोऽनङ्कित एकश्रुतिः ।। १० ।।

स्वरित से परे जिस या जिन अक्षरों पर कोई चिह्न न हो, उन्हें एकश्रुति[३] स्वर वाला समझना चाहिए। यथा—

---

१. स्वरशास्त्र में अक्षर शब्द शुद्ध स्वर=अच् अथवा व्यञ्जनसहित स्वर का वाचक होता है। देखो-स्वरोऽक्षरम्, व्यञ्जनसहितं च। तु० वाज० प्राति० १।९९–१०१ ॥

२. उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति स्वरों के विषय में दूसरे अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं ॥

३. प्रचय भी एकश्रुति का ही नामान्तर है, यह हम पूर्व द्वितीय अध्याय में लिख चुके हैं।

होतारं रत्नधातमम् । ऋ० १।१।१॥

यहाँ स्वरित 'ता' से परे 'रं' और 'र' दो अक्षरों पर ऊपर नीचे कोई चिह्न नहीं है। इसी प्रकार स्वरित 'त' से परे 'म' पर कोई चिह्न नहीं है। अतः इस उदाहरण में 'रं-र-म' ये तीन अक्षर एकश्रुति स्वर वाले हैं, ऐसा समझना चाहिए।

एकश्रुति स्वर के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ २४ में) लिख चुके हैं कि एक-श्रुति में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों उच्चारण-धर्मों का तिरोभाव होता है।[1] कई आचार्य एकश्रुति को उदात्त सम और दूसरे अनुदात्तसम मानते हैं।[2] हमारे विचार में एकश्रुति का उच्चारण अनुदात्त के समान होना चाहिए, क्योंकि एक-श्रुति सदा स्वरित के अनन्तर ही होती है और स्वरित के उत्तर भाग में अनुदात्त धर्म रहता है। अतः स्वरित से परे विहित एकश्रुति का उच्चारण अनुदात्तवत् होना अधिक युक्त है।

अपूर्वोऽनुदात्तपूर्वो वाऽनङ्कित उदात्तः ॥११॥

जिससे पूर्व कोई स्वर न हो अथवा अनुदात्तपूर्व में हो, ऐसा चिह्नरहित अक्षर उदात्त होता है। यथा—

अपूर्व—अग्ने यं यज्ञमध्वरम् । ऋ० १।१।४॥

यहां सर्वादि में वर्तमान विना स्वरचिह्न वाला 'अ' अक्षर उदात्त है।

अनुदात्तपूर्व—पूर्व उदाहरण में ही अनुदात्त 'ग्ने' से अगला विना चिह्न का 'यं' उदात्त है। इसी प्रकार 'ज्ञ' और 'र' भी।

सकम्पजात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहितेभ्यश्च ॥१२॥

इस सूत्र में 'अनङ्कित उदात्तः' पदों की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति है। कम्पयुक्त जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित[3] से परे भी जो अनङ्कित अक्षर होता है उसे उदात्त समझना चाहिए। 'सकम्प' का ग्रहण इसलिए किया है कि जहाँ कम्प न हो वहाँ पूर्वसूत्र (संख्या १०) से एकश्रुति स्वर होगा।

---

१. स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदस्तिरोधानमेकश्रुतिः। काशिका १।२।३३॥

२. महाभाष्य १।२।३३—उदात्ता......अनुदात्ता च......॥

३. इन स्वरितों की विशद व्याख्या तृतीय अध्याय में कर चुके हैं॥

(द्र० ऋ० १।८५।७॥१०।९१।१५ आदि)। कम्प का विधान अगले सूत्रों में किया जाएगा। इसलिए इस सूत्र के उदाहरण भी वे ही होंगे जो सूत्र संख्या १४, १५ में लिखे जाएँगे।

उदात्तस्वरितपरा जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिताः कम्पन्ते ॥१३॥

उदात्त और स्वरित परे रहने पर जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित का उच्चारण कम्प से होता है।

'स्वरित' ग्रहण स्पष्टार्थ है क्योंकि स्वरित में भी आदि की आधी मात्रा उदात्त होती है। अतः **उदात्तपराः** इतने से कार्य चल सकता है। यहाँ केवल जात्य स्वरित परे ही कम्प होता है, अन्य स्वरितों की तादृश स्थिति न होने से।

स्वरित के आदि की आधी मात्रा उदात्त होती है।[1] और उससे परे शेष मात्रा अनुदात्त। उस अनुदात्त से परे जब उदात्त का उच्चारण करना होता है, तब दो उदात्तों के मध्य में अनुदात्त उच्चारण में असुविधा होना स्वाभाविक है। इसलिए उदात्त परे रहने पर जात्य आदि स्वरितों के अन्त्य अनुदात्त भाग के उच्चारण में स्वभावतः कांस्य पात्र[2] के समान कम्पन होता है।

स्वरित के आरम्भ की आधी मात्रा उदात्त होने से उससे पूर्ववर्ती स्वरित की अनुदात्त मात्रा भी दो उदात्त मात्राओं के मध्य में प्रयुक्त होने से उदात्त पर के समान ही कम्प को प्राप्त होता है।

इसी सूत्र के अभिप्राय को ऋक्प्रातिशाख्य में इस प्रकार दर्शाया है—

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ॥३।३४॥

यतः अन्य स्वरितों से परे उदात्त और स्वरित स्वर देखा नहीं जाता, अतः जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट और अभिनिहित इन चारों कम्प का विधान किया है।

---

१. 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'। अष्टा० १।२।३२॥ मात्रचो लोपोऽत्र द्रष्टव्यः, अर्धह्रस्वमात्रम्। महा० १।२।३२॥

२. जैसे कांसे के पात्र को एक बार बजाने से कुछ काल तक ध्वनि निकलती रहती है, उसे ही कम्प कहते हैं॥

इस कम्प की मात्रा कितनी होती है और उसका निर्देश कैसे किया जाता है, इसका विधान अगले सूत्रों से दर्शाते हैं—

तत्र ह्रस्व ऊर्ध्वाधोरेखाविशिष्टेनैकाङ्केन ॥१४॥

कम्प से उच्चरित ह्रस्व स्वरित वर्ण से परे एक संख्या का निर्देश होता है और उसके ऊपर स्वरित और नीचे अनुदात्त का चिह्न किया जाता है। यथा—

जात्य—उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा । ऋ० १।८३।८॥
क्षैप्र—सुभ्य१ङ्नाम भद्रम् । ऋ० १।१०८।३॥

प्रश्लिष्ट, अभिनिहित—प्रश्लिष्ट और अभिनिहित स्वरित कभी एक मात्रिक (ह्रस्व) नहीं होते, इसलिए उनका उदाहरण यहाँ नहीं दिया।

यहाँ 'क्थ्य' जात्य स्वरित और 'भ्य' क्षैप्र स्वरित है। उससे परे क्रमशः विना चिह्न के 'व' और 'ना' अक्षर उदात्त हैं।

विशेष—हम पूर्व लिख चुके हैं कि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतसंज्ञक सभी स्वरितों में आदि की आधी मात्रा उदात्त होती है, शेष क्रमशः आधी, डेढ़ और ढाई मात्रा अनुदात्त। ह्रस्व स्वरित में आधी मात्रा उदात्त और आधी अनुदात्त अर्थात् दो सम भागों में एक उदात्त और एक अनुदात्त होता है। इस कारण जहाँ ह्रस्व के अनुदात्त भाग में कम्प दर्शाना होता है वहाँ एक संख्या के ऊपर स्वरित और नीचे अनुदात्त का चिह्न १ दर्शाया जाता है। इसका भाव यह है कि यहाँ स्वरित का एक भाग अनुदात्त है। दीर्घ स्वरित में तीन संख्या के ऊपर स्वरित और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है (देखो अगला सूत्र)। इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ दो मात्रा में आधी मात्रा अर्थात् १ भाग उदात्त है और डेढ़ मात्रा अर्थात् ३ भाग अनुदात्त है।

श्री पं० विश्वबन्धुजी की भूल—श्री पं० विश्वबन्धुजी ने संहितापदानुक्रम-कोश के आरंभ में (पृष्ठ cxix, संख्या १) लिखा है कि ह्रस्व स्वरित से परे १ और दीर्घ स्वरित से परे ३ का अंकन उत्तरवर्ती उदात्त और एकश्रुति के भेद के स्पष्टीकरण के लिए है। अर्थात् जहाँ स्वरित के आगे १ अथवा ३ से परे विना चिह्न का स्वर हो तो वह उदात्त होगा और विना १ अथवा ३ से अङ्कित स्वरित से परे विना चिह्न का स्वर होगा तो वह एकश्रुति होगा।

वस्तुतः १ और ३ का यही प्रयोजन होता तो दो प्रकार के भेद की आवश्यकता नहीं थी। विदित होता है कि उन्हें १ और ३ संकेत सकम्प स्वरित के कम्पित भागांश के बोधक हैं इसका ज्ञान ही नहीं था। इतना ही नहीं यदि १ और ३ संकेत स्वरित से परे उदात्त और एक श्रुति के भेद के बोधक होते तो स्वरित परे रहने पर १ और ३ का संकेत न होता। परन्तु स्वरित परे रहने पर भी जात्यादि स्वरितों के आगे १ और ३ संकेत उपलब्ध होते हैं। यथा—

शतचक्रं यो ३ ह्यो वर्तनिः। ऋ० १०।१४४।४

कम्प युक्त प्लुत स्वरित का प्रयोग कहीं नहीं होता, अतः उसका यहाँ विचार नहीं किया गया।

दीर्घोऽधोरेखया त्र्यङ्केनोर्ध्वाधोरेखाविशिष्टेन च ॥१५॥

कम्प से उच्चरित दीर्घ स्वरित वर्ण के नीचे अनुदात्त का चिह्न और उसके आगे ३ तीन संख्या के ऊपर स्वरित और नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। यथा—

उदात्त परक—

जात्य—रथ्यो ३ वयस्वतः। ऋ० २।२४।१५॥

क्षैप्र—विक्ष्वा ३ योः (विक्षु + आयोः)। ऋ० २।४।२॥

प्रश्लिष्ट—अभी ३ दम्। ऋ० १०।४८।७॥

अभिनिहित—प्रथमं वां वृणानो ३ऽयं सोमः (वृणानः + अयं)। ऋ० १।१०८।६॥

यहाँ स्वरित वर्ण 'थ्यो' 'क्ष्वा' 'भी' 'नो' के नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है और इनके आगे ३ पर स्वरित और अनुदात्त दोनों का। इन चारों स्वरित अक्षरों से परे क्रमशः 'व' 'योः' 'द' 'यं' अक्षर उदात्त हैं।

स्वरित परक—

शतचक्रं यो ३ ह्यो वर्तनिः। ऋ० १०।१४४।४

यह अभिनिहित स्वरित का (यः + अह्यः) स्वरित परे रहने पर उदाहरण है। इसी प्रकार जात्यादि स्वरितों के स्वरित परक उदाहरण भी मृग्य हैं।

विशेष—स्वर-शास्त्र के न जानने वाले अनेक व्यक्ति जात्यादि स्वरितों से आगे प्रयुज्यमान ३ अंक को प्लुत का चिह्न मान कर ऐसे स्थानों पर प्लुत उच्चारण करते हैं, वह शास्त्र-विपरीत है। जहाँ प्लुत उच्चारण अभीष्ट होता है, वहाँ ३ संख्या शुद्ध लिखी जाती है, उस पर अन्य कोई चिह्न नहीं होता। यथा—

ओ३ङ्क्रतो[1] स्मर (माध्य० सं० ४०।१५) ॥

दीर्घ जात्यादि के आगे संकेत्यमान ३ संख्या का अभिप्राय पूर्वसूत्र की व्याख्या के अन्त में दर्शा चुके हैं।

अथ कश्मीरार्चिकस्वरः ॥ १६ ॥

अब काश्मीर देश में व्यवहृत ऋग्वेद-सम्बन्धी स्वराङ्कन का प्रकार लिखते हैं।

उदात्त ऊर्ध्वरेखया ॥ १७ ॥

काश्मीर देश के ऋग्वेद-संबंधी हस्तलेखों में उदात्त स्वर का निर्देश ऊपर खड़ी रेखा से किया जाता है। यथा—

अहं यशस्विनां यशो विश्वा रूपाण्या ददे।
ऋ० खिल[2] १।१।१॥

इनमें ऊर्ध्वरेखाङ्कित 'हं-य-स्वि-य-वि-पा-ण्या' अक्षर उदात्त हैं।

विशेष—पूना मुद्रित पाठ में **'यशस्विनां'** पद में य और स्वि दोनों पर उदात्त चिह्न है वह चिन्त्य है। **यशस्विन्** शब्द में विन् प्रत्यय स्वर से उदात्त

---

१. मुद्रित पाठ 'ओ३म् क्रतो' है। परन्तु संहिता पाठ में मकार को अनुस्वार होकर परसवर्ण होगा। अतः शुद्ध पाठ वही उच्चरित होगा जो हमने ऊपर छापा है। माध्यन्दिन संहिता के साम्प्रदायिक पाठ में पदान्त अपदान्त सर्वत्र नित्य पर सवर्ण होता है। अपदान्त में परसवर्ण और द्विर्वचन रहित पाठ की कल्पना योरोपीय संपादक बैवर की देन है। कतिपय भारतीय प्रकाशकों ने भी उसीका अन्धानुकरण किया।

२. कश्मीर देश का ऋग्वेद संहिता का कोई पुस्तक साक्षात् देखने में नहीं आया। ऋग्वेद खिल का जो सस्वर पाठ सायणभाष्य पूना संस्करण के अन्त में छपा है, वह कश्मीर पाठानुसार है, ऐसा सम्पादकों का कथन है॥

होने से य अनुदात्त होता है। द्र० अथर्व—यशस्विनम् (६।३९।१) यशस्विनः (१९।५६।६)।

जात्यक्षैप्रप्रश्लिष्टाभिनिहिता ऊर्ध्वं वक्ररेखया ॥ १८ ॥

कश्मीर पाठ में जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट और अभिनिहित स्वरित वर्ण के ऊपर वक्र रेखा का निर्देश किया जाता है।[1] यथा—

जात्य—हवन्तं मेषान् वृक्ये । खिल १।१२।७॥
क्षैप्र—समधान्वारुरुहन् स्वः[2] । खिल १।११।४॥

प्रश्लिष्ट और अभिनिहित के उदाहरण मृग्य हैं।

उदात्तपराः कम्पन्ते ॥ १९ ॥

उदात्त अक्षर परे रहने पर जात्य, क्षैप्र और अभिनिहित स्वरित कम्प को प्राप्त होते हैं।

ततः परमधोरेखया ३यङ्कः स्वयं चिह्नरहितः ॥ २० ॥

कम्प को प्राप्त जात्य, क्षैप्र और अभिनिहित स्वरित से परे ३ का अङ्क लिखा जाता है और उसके नीचे पड़ी रेखा लगाई जाती है।[3] परन्तु स्वयं स्वरित पर कोई चिह्न नहीं रहता।

---

१ पूना के वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित 'ऋग्वेद' सायणभाष्य भाग ४ के अन्त में खिलपाठ (कश्मीर-पाठानुसार) छपा है। उसके सम्पादक महोदय ने भूमिका के पृष्ठ ९०९ पर लिखा है कि इस पाठ में केवल जात्य स्वरित पर ही चिह्न उपलब्ध होता है। यह उनका भ्रम है॥

२ स्वः' पद 'सु+अर्' से बना है। अतः यहां क्षैप्र सन्धि होने से यह क्षैप्र स्वरित है। कुछ लोग 'स्वः' को अव्युत्पन्न मानकर जात्य स्वरित कहते हैं। यह अयुक्त है, क्योंकि शाखान्तर में 'स्वः' का 'सुवः' पाठ मिलता है। (देखो तैत्तिरीय संहिता)। 'सु+अर्' में यण् सन्धि होकर 'स्वः' और 'त्रियम्बकं' आदि के समान यण्-व्यवधान सन्धि होकर 'सुवः' प्रयोग बनता है। देखो, हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १ अ० १॥

३ उक्त सायण-भाष्य के साथ प्रकाशित खिल-पाठ के सम्पादक ने पृष्ठ ९०९ पर लिखा है कि 'उदात्त या स्वरित परे होने पर जात्य स्वरित का ३

विशेष—ऋग्वेद के पूर्वनिर्दिष्ट स्वर (सूत्र १४-१५) में कम्प को प्राप्त ह्रस्व स्वरित से परे १ संख्या और दीर्घ से परे ३ संख्या का निर्देश होता है, परन्तु खिलपाठ के कश्मीर-पाठ में ह्रस्व, दीर्घ दोनों से परे ३ संख्या का ही निर्देश उपलब्ध होता है। कारण चिन्त्य है।

जात्य—आपो न वज्रिन्नन्वोक्यं३ सरः। खिल ३।१।३॥

क्षैप्र—सन्ति ह्य३र्य आशिष। खिल ३।६।७॥

यो जाम्या३ः प्रत्यमदद्यः। खिल ५।१२।२॥

अभिनिहित—परे हीऽतो ३ ह्यास्ये। खिल ४।५।३२॥

विशेष—अन्तिम उदाहरण का पूनामुद्रित पाठ '**परेहितो ३ ह्यास्ये**' है। जर्मन संस्करण में '**परेहीतो ३ ह्यास्ये**' पाठ है। ये दोनों पाठ अशुद्ध हैं, क्योंकि इनमें 'तो' अक्षर पर ⊥ उदात्त चिह्न है। उसके आगे कम्पद्योतक **३** का निर्देश नहीं हो सकता। **३** का निर्देश होने से स्पष्ट है कि उससे पूर्व का 'तो' अक्षर स्वरित है। यह मन्त्र पाठभेद से अथर्व १०।१।२० में भी उलब्ध होता है। हमने उसकी सहायता से इस पाठ का शोधन किया है।

एक अशुद्ध पाठ—पूना मुद्रित खिल पाठ में एक मन्त्र का पाठ इस प्रकार छपा है—

मन्थां ३ परिस्रुतम्। खिल ५।१०।३।

यहाँ **मन्थां** में **म** स्पष्ट उदात्त है। अथर्व २०।१२७।९ में भी यही पाठ है (राथ ह्विटनी का पाठ **मन्थं** है) यहाँ भी **म** उदात्त है। **थां** सामान्य स्वरित है। अतः खिल पाठ में उससे परे **३** का पाठ चिन्त्य प्रतीत होता है।

शेषा अनङ्किताः ॥ २१ ॥

शेषस्वर=अनुदात्त, एकश्रुति और सामान्य (उदात्त से परे विहित) स्वरित पर कोई चिह्न नहीं होता।

विशेष—ऋग्वेद के खिलपाठ का कश्मीर-पाठ "वैदिक संशोधन मण्डल पूना" से प्रकाशित सायणभाष्य के चतुर्थ भाग के अन्त में छपा है। उसमें

संख्या से कम्प दर्शाया जाता है' यह लेख भी पूर्णतया ठीक नहीं है। क्षैप्र और अभिनिहित स्वरित का भी ३ से कम्प बताया जाता है॥

उपर्युक्त प्रकार से स्वरों का निर्देश उपलब्ध होता है। यह स्वरनिर्देश-प्रकार कुछ भेद से काठक तथा मैत्रायणी संहिता में भी उपलब्ध होता है। उसका निर्देश यथास्थान किया जाएगा। यह भी ध्यान रहे कि ऋग्वेद के खिलपाठ के उक्त संस्करण में स्वर-चिह्न बहुत अशुद्ध लगे हुए हैं।

अथ यजुषाम् ॥ २२ ॥

अत्र यजुर्वेद-संबन्धी संहिताओं में प्रयुक्त स्वर-चिह्नों का वर्णन करते हैं।

तानि द्विविधानि शुक्लकृष्णभेदात् ॥ २३ ॥

यजुः संहिताओं के दो भेद हैं। शुक्ल और कृष्ण।

तत्र शुक्लेषु माध्यन्दिनकाण्वे एवोपलभ्येते ॥ २४ ॥

पन्द्रह प्रकार के शुक्ल यजुओं में माध्यन्दिन और काण्व ये दो पाठ ही उपलब्ध होते हैं।

कृष्णेषु तैत्तिरीयमैत्रायणीकाठककपिष्ठलकठाः ॥ २५ ॥

छियासी प्रकार के कृष्ण यजुओं में तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कपिष्ठल कठ ये चार ही पाठ मिलते हैं।

इस प्रकार १०१ प्रकार की याजुष संहिताओं में केवल ६ संहिताएँ ही सम्प्रति उपलब्ध हैं।

माध्यन्दिने उदात्तानुदात्तैकश्रुतिसामान्यस्वरिता ऋग्वेदवत्॥२६॥

शुक्ल यजुः के माध्यन्दिन पाठ में उदात्त, अनुदात्त, एकश्रुति और सामान्य स्वरित का निर्देश ऋग्वेद के समान ही किया जाता है।

यथा—इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ ।१।१॥

यहाँ नीचे आड़ी रेखा से अङ्कित 'इ-त्वो-वा' अनुदात्त हैं (सूत्र ८). ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित 'त्वा-व' स्वरित हैं (सूत्र ९)। स्वरित 'व' से परे बिना चिह्न का 'स्थ' एकश्रुति स्वर वाला है (सूत्र १०)। अनुदात्त 'इ-त्वो-वा' से परे क्रमशः चिह्नरहित 'षे-र्जे-य' उदात्त हैं (सूत्र ११)।

अनुदात्तात्परा जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अधोवक्ररेखया ॥२७॥

अनुदात्त से परे जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित का निर्देश नीचे ∟ ऐसी वक्ररेखा से किया जाता है। यथा—

जात्य—वीर्याणि प्र वोचं यः ॥५।१८॥
क्षैप्र—द्यौरसि पृथिव्यसि ॥१।२॥
प्रश्लेष—अभोन्धतामुखे वरूत्रीष्ठा ॥११।६१॥
अभिनिहित—घर्मोऽसि ॥१।२॥ वृधोऽसि ॥१।२८॥

जब क्षैप्र स्वरित अनुदात्त से परे नहीं होता, तब इसे सामान्य स्वरित के समान ऊर्ध्व रेखा से ही अङ्कित करते हैं। यथा—

त्र्यम्बकं यजामहे (३।६०)। अवं देवं त्र्यम्बकम्
(३।५८)। उर्व्या व्यद्यौत् (१२।१)

उदात्तपरा अधस्तात् ‿ चिह्नेन ॥ २८ ॥

यदि जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्त वर्ण हो तो इन के नीचे त्रिशूल सदृश ‿ चिह्न का निर्देश किया जाता है। यथा—

जात्य—वेर्दूत्युमवंतां त्वा ॥ २।९॥
क्षैप्र—उर्वुन्तरिक्षमन्वेमि ॥१।७, ११॥
प्रश्लेष—अभीमं महिमा ॥ २८।१७॥
अभिनिहित—पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च ॥१।२५॥
लोकेऽस्मिन् ॥३।२१॥

स्पष्टीकरण—जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे जहाँ अनुदात्त या एकश्रुति स्वर होता है अथवा जहाँ कोई भी वर्ण आगे नहीं होता, वहाँ इनका निर्देश नीचे ∟ ऐसी वक्र (टेढ़ी) रेखा से किया जाता है। और जहां इन से परे उदात्त स्वर होता है, वहां नीचे ‿ चिह्न लगाया जाता है।

विशेष—यजुर्वेद १८।५० में पाठ है—

स्वर्ण घर्मः स्वाहा[1] स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ॥

---

१. तै. सं० ५।७।५ में 'सुवर्ं घर्मः स्वाहा सुवर्ार्कः स्वाहा' आदि में णत्वाभाव देखा जाता है।

इसमें प्रथम जात्य अथवा क्षैप्र[१] 'स्व' पद में उदात्त 'न' (ण) परे रहने पर नीचे ‿ चिह्न उपलब्ध नहीं होता, अनुदात्त के समान पड़ी रेखा ही उपलब्ध होती है। परन्तु आगे सर्वत्र 'स्वर्ण' में स्व के नीचे यथार्थ ‿ चिह्न उपलब्ध होता है। यह वैषम्य अभी तक हमारी समझ में नहीं आया।

पदपाठ में यहां स्वः स्वरित है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य में मन्त्र पाठ में प्रथम स्वर्ण पद के नीचे भी ‿ चिह्न उपलब्ध होता है। अतः यह समस्या अधिक गूढ़ हो जाती है।

यजुः १७।६८ में एक पाठ है—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते आ।

यहां भी स्वः के नीचे ‿ चिह्न के स्थान में पड़ी रेखा (जो अनुदात्त का चिह्न है) उपलब्ध होती है। पद पाठ में स्वः। यन्तः ऐसा पदच्छेद दर्शाया है। यह भी एक विचारणीय पाठ है। हमारे विचार में स्वर्यन्तः को यदि स्वरानुरोध से एक पद मान लें तो उत्तरपदप्रकृति स्वर होने पर स्वः के स्वरित को अनुदात्त हो सकता है। ऋग्वेद १०।६५।१४ में भी ऐसा ही एक पाठ है—

स्वर्विदः स्व१र्गिरो ब्रह्म।

यहां स्वर्विदः में स्वः अनुदात्त है। पदकार ने इसे समस्त पद माना है। इसी प्रकार स्वर्यन्तः को भी समस्त पद मानना युक्त है।

कम्पाभावो यजुष्षु मैत्रायणीवर्जम् ॥ २९ ॥

मैत्रायणी संहिता को छोड़कर यजुर्वेद की उपलब्ध सभी संहिताओं में ऋग्वेद के समान उदात्त परे रहने पर जात्य आदि कम्पित[२] नहीं होते। मैत्रायणी संहिता में कम्प का विधान ४७ वें सूत्र से किया है।

काण्वे जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अनुदात्तपरा[४] शीर्षस्थोर्ध्व-रेखया ॥ ३० ॥

काण्व-पाठ में जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्त न हो,[४] अर्थात् अनुदात्त एकश्रुति अथवा विराम हो तो इनका निर्देश ऋग्वेद

२. देखो सूत्र १८ के उदाहरणस्थ 'स्व' पद की टिप्पणी ॥

३. वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२० की व्याख्याओं में तथा भाष्यस्वरित के कम्प का विधान उपलब्ध होता है। इस विषय में हम अ० ३ में ताथाभाव्य स्वरित के प्रसङ्ग में लिख चुके हैं।

४. नास्ति उदात्तो यत्र सोऽनुदात्तः।

के समान शीर्षस्थ ऊर्ध्वरेखा से किया जाता है। यथा—

जात्य—वीर्याणि प्र वोचं यः ॥५।५।६॥

क्षैप्र—द्यौरसि पृथिव्यसि ॥ १।२।१॥

प्रश्लेष—अभीन्धतामुखे ॥ १२।६।२॥

अभिनिहित—**घर्मोऽसि ।१।२।१॥ वृधोऽसि ।१।९।६॥**

उदात्तपरा अधस्ताद् रेखया ॥ ३१ ॥

जब जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरितों से परे उदात्त वर्ण हो तो इन का निर्देश नीचे पड़ी रेखा (अनुदात्त चिह्न) से ही किया जाता है। यथा—

जात्य—**वीर्यं मयि धेहि ।२१।१।८॥**

क्षैप्र —**उर्वन्तरिक्षमन्वेमि १।३।३॥**

प्रश्लेष —**अभीमं महिमा ।३८।४।१॥**

अभिनिहित—**योऽस्मान् द्वेष्टि यं च ।१।९।४॥**

यहाँ उदात्त परे रहने पर क्रमशः जात्य 'र्यं', क्षैप्र 'र्व', प्रश्लेष 'भी' और अभिनिहित 'यो' नीचे आड़ी रेखा से अङ्कित किए गए हैं।

विशेष—(क) प्रतीत होता है कि जात्यादि स्वरितों के विषय में भी साधारणतया वही नियम आश्रित किया गया है, जो सामान्य स्वरित में आश्रित किया जाता है। उदात्त से परे अनुदात्त को जो स्वरित कहा गया है (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। अष्टा० ८।४।६६), वह उदात्त और स्वरित परे रहने पर नहीं होता, (नोदात्तस्वरितोदयम्० । अष्टा० ८।४।६७)। इसी प्रकार काण्व में भी यह नियम जान लेना चाहिए कि उदात्त परे रहने पर जात्यादि स्वरित भी स्वरित नहीं होते, अनुदात्त ही रहते हैं।

विशेष—वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१३८ में सूत्र है—

निहितमुदात्तस्वरितपरम्।

इसका अर्थ उव्वट और अनन्त दोनों ने सामान्यतया यही किया है कि जिस स्वरित से परे उदात्त अथवा स्वरित हो वह अनुदात्त हो जाता है। इन सूत्रों की व्याख्या में दोनों ने ऐसे ही उदाहरण दिए हैं जिनमें पूर्वसूत्र ४।१३७ से उदात्त से परे विद्यमान अनुदात्त को स्वरित होता है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि प्रातिशाख्यकार ने पाणिनि के समान (नोदात्त-स्वरितोदयम्) उदात्त उत्तरवर्ती अनुदात्त के प्राप्यमाण स्वरित धर्म का प्रतिषेध नहीं किया, अपितु उसे स्वरित करके पुनः अनुदात्त बनाया है। इस प्रयत्नातिशय का प्रयोजन यह है कि काण्व-संहिता में उदात्त स्वरित परक जात्यादि स्वरितों को भी अनुदात्त हो जाए। इसी बात को ध्यान में रखकर अनन्त ने वाज० प्राति० ४।१४१ की व्याख्या में लिखा है—

स्वर्णः घर्मः प्रसवेऽश्विनोः परमेष्ठ्यभिधीतः [इत्यादिषु स्वरितस्योत्तरोभागः प्रतिहन्यते] तैत्तिरीयाणामयं पक्षः। काण्वानां तु निहितमुदात्तस्वरितपरमिति सूत्रेणानुदात्त एव।

अर्थात् कण्वों के मत में सूत्र ४।१३८ से 'स्वर्णः' आदि में स्वरित को अनुदात्त ही होता है।

अनन्त की भूल—उपरि उद्धृत पाठ में अनन्त ने उदात्तस्वरित परे रहने पर ज्यात्यादि स्वरितों के उत्तर भाग को तैत्तिरीयों के मत में अनुदात्त कहा है वह चिन्त्य है। तैत्तिरीय संहिता में जात्यादि स्वरित के उत्तर भाग को उदात्त-स्वरित परे कहीं भी अनुदात्त नहीं होता स्वरित ही रहता है। यथा—

योऽस्मान् धूर्वति ।१।१।३।।

प्रसवेऽश्विनोर्ब्राहुभ्याम् १।१।३।।

स्वरित के उत्तर भाग को अनुदात्त बनाने का मत तो शाकल्य तथा शौनकादि शाखा का है। अतएव वहाँ कम्प भी होता है।

(ख) सूत्र २८ के विशेष वक्तव्य में हमने माध्यन्दिन संहिता का जो पाठ उद्धृत किया था, उसका काण्व-पाठ इस प्रकार है—

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा।

स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ।।२२।२।१३।।

यहाँ सर्वत्र उदात्त परे रहने पर जात्य अथवा क्षैप्र स्वरित 'स्व' का निर्देश नीचे पड़ी रेखा से किया है।

विशेष—यद्यपि काण्व संहिता में जात्यादि स्वरित को अनुदात्त का विधान वाज० प्राति० ४।१३८ सूत्र से कर दिया, पुनरपि **स्वर्णः घर्मः** आदि मन्त्र में **स्वर्णार्कः** के स्वः के स्वरित को अनुदात्त हो जाने पर भी उससे पूर्ववर्ती **स्वाहा**

के उदात्त **स्वा** से परे अनुदात्त हा अनुदात्त ही रहता है। उदात्त से परे अनुदात्त हा अनुदात्त तभी रह सकता है जब **स्वः** को स्वरित माना जाए। इस व्यवस्था से प्रतीत होता है कि जात्यादि स्वरित को वस्तुतः अनुदात्त नहीं होता वे रहते स्वरित ही हैं परन्तु उनके लिए चिह्न वही व्यवहृत होता है जो अनुदात्त का है। अथवा व्याकरणवत् **विनापि वतिनाऽतिदेशो गम्यते—ङित्–ङिद्वत्, कित्-किद्वत्** नियमानुसार जात्यादि स्वरितों को अनुदात्त कहा अर्थात् वे अनुदात्तवत् होते हैं, उनमें स्वाश्रय स्वरितत्व धर्म विद्यमान रहता है। अनुदात्त होने से अनुदात्तचिह्न से युक्त होते हैं और स्वाश्रय स्वरितत्व रहने से उनके परे रहने पर उदात्त से परे अनुदात्त ही रहता है, स्वरित नहीं होता।

(ग) काण्वसंहिता के किसी किसी हस्तलेख में माध्यन्दिन पाठ के समान भी जात्य आदि स्वरितों का निर्देश उपलब्ध होता है[1]।

(घ) जैसे काण्वसंहिता के किन्हीं पदपाठों में जात्यादि स्वरितों का माध्यन्दिन पाठ के समान स्वरितत्व उपलब्ध होता है, क्या उसी प्रकार माध्यन्दिन संहिता के **स्वर्णः घर्मः स्वाहा** (१८।५०) में स्वरित स्व का उदात्त परे रहने पर जो अनुदात्तत्व देखा जाता है वह काण्व प्रभाव से है ?

इसी प्रकार माध्यन्दिनी संहिता के कई पद पाठों में

स्वुरिति स्वुः (यथा २।२५)।

उदात्त परे रहने पर स्व का अनुदात्त पाठ मिलता है क्या वह काण्व पाठ प्रभाव से है ?

ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर गम्भीरता से विचार करना होगा।

कपिष्ठलकठे सर्वं काण्ववत् ॥३२॥

कपिष्ठलकठ संहिता में सारा स्वराङ्कनप्रकार काण्वसंहिता के समान ही उपलब्ध होता है।

उदात्तपरौ ह्रस्वौ जात्यक्षैप्रौ दीर्घौ ॥३३॥

कपिष्ठलकठ में ह्रस्व जात्य और क्षैप्र स्वरित उदात्त परे रहने पर दीर्घ हो जाते हैं। यथा—

---

१. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ CXIX (११९)॥

उर्वन्तरिक्षम् ।१।२॥ अप्स्वान्तः ॥४८।४॥

विशेष—कपिष्ठलकठ का स्वराङ्कन-प्रकार हमने श्री पं० विश्वबन्धु जी के वैदिक कोष संहिता भाग के प्रथम खण्ड की भूमिका (पृष्ठ ११९) के अनुसार किया है। श्री डा० रघुवीर जी द्वारा प्रकाशित कपिष्ठलकठ में स्वरचिह्न तथा उदात्तपरक ह्रस्व जात्य तथा क्षैप्र दीर्घ उपलब्ध नहीं होते। इसलिए हम पूरा विवेचन नहीं कर सके।

तैत्तिरीये चोदात्तपरान् जात्यादीन् वर्जयित्वा ॥३४॥

तैत्तिरीय[1] पाठ में उदात्त आदि स्वरों का निर्देश काण्व-पाठ के समान ही है, उदात्त परे है जिन से ऐसे जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित को छोड़कर।

उदात्तपरा अपि जात्यादयः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया ॥३५॥

जिन जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्त हो वह स्वरित भी तैत्तिरीय संहिता में ऊपर खड़ी रेखा से[1] अङ्कित किया जाता है।

स्पष्टीकरण—तैत्तिरीय संहिता में स्वरितमात्र ऊर्ध्व खड़ी रेखा से अङ्कित होता है।

काठके उदात्तः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया ॥३६॥

काठक[2] संहिता में उदात्त स्वर शीर्षस्थ ऊर्ध्वरेखा से चिह्नित होता है। यथा—

देवस्य त्वा सवितुः ।१।२॥

जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अधस्तादर्धचन्द्रेणानुदात्तपरे ॥३७॥

---

१. वस्तुतः तैत्तिरीय नाम चरण का है, शाखा का नहीं, यथा शुक्ल यजुर्वेद का वाजसनेय। तैत्तिरीय चरण की आपस्तम्ब, बौधायन, भरद्वाज आदि ८ शाखाएँ थीं। उनमें से केवल एक, आपस्तम्ब शाखा शेष रह गई और सब लुप्त हो गईं। अतः आपस्तम्ब शाखा ही चरण (तैत्तिरीय) नाम से व्यवहृत होने लग गई॥

२. 'काठक' चरण का नाम है शाखा का नहीं। काठक चरण में चारायणीय, कपिष्ठल आदि १२ शाखाएँ थीं। उनमें से एक-मात्र शाखा

जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित नीचे अर्धचन्द्र चिह्न[1] से अङ्कित किए जाते हैं। यदि उदात्त परे न हो तो।

अनुदात्त परे असमर्थ समास है। इससे अनुदात्त एकश्रुति परे रहने पर अथवा अवसान में भी जात्यादि स्वरितों का नीचे अर्धचन्द्र से निर्देश किया जाता है।

अनुदात्त अथवा एक श्रुतिपरे यथा—

जात्य—निष्कर्यं बध्नाति। २४।५।।

वीर्यमभिसंमियात्। २४।५।।

क्षैप्र—व्यृद्धा वा। २४।४।

प्रश्लेष—उर्वन्तरिक्षं वीहि। १।४।।

अभिनिहित—प्राणो व्यानोऽतिष्ठिता। ३८।५।।

अवसान परे यथा—

जात्य—प्र वीर्यम्। श्नथद्...।४।१५।।

मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्...७।१४।।

प्रश्लेष—सुगं मेषाय मेष्यै। अथो...। ९।७।।

उदात्तस्वरितपरा अधस्तात् ‿ चिह्नेन ॥ ३८ ॥

उदात्त अथवा स्वरित वर्ण परे रहने पर जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित नीचे ‿ चिह्न[2] से चिह्नित किए जाते हैं।

(इसका वास्तविक नाम अज्ञात है) के उपलब्ध होने से इसका चरण नाम ही व्यवहार होने लग गया। अभी कुछ वर्ष हुए, इस चरण की कपिष्ठल शाखा का भी एक खण्डित हस्तलेख उपलब्ध हुआ था। उसके आधार पर लाहौर से इसका प्रकाशन हो चुका है॥

१. श्रोडर के संस्करण में ‿ चिह्न के स्थान पर ҫ चिह्न का व्यवहार पाया जाता है।

२. श्रोडर के संस्करण में ‿ चिह्न के स्थान पर ∆ ऐसे चिह्न का व्यवहार मिलता है।

उदात्तपरे यथा—

जात्य—उक्थान्यं यच्च इन्द्र । ४।५ ॥

क्षैप्र—उर्वन्तरिक्षम् । १।२,४ ॥

प्रश्लेष—व्रीहींन्द्रस्य १।२॥ ह्रीमांः।२४।४ ॥

अभिनिहित—प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम् ।१।२ ॥

आस्माकोऽसीति ।२४।५॥

स्वरितपर यथा—

सोऽर्कोऽभवत् । २१।६ ॥

विशेष—संहिता में सूत्र ३७, ३८ के नियमों का क्वचित् व्युत्क्रमण भी देखा जाता है। यथा—

विशो वै वीर्यमपाक्रामत् ॥ ११।६ ॥

देवाः पितरो मनुष्यास्तेऽन्यतः आसन् ।१०।७।

इनमें प्रथम उदाहरण में उदात्त परे रहने पर भी वीर्यं के र्यं को w चिह्न के स्थान में u चिह्न से अङ्कित किया गया है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में ष्या से परे स्वरित होने पर भी w के स्थान में u चिह्न से अङ्कित किया गया है। यदि ऐसे स्थलों पर पाठाशुद्धि नहीं हुई तो इन नियमों के अपवाद नियमों की प्रकल्पना करनी होगी।

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी के निर्देशानुसार उदात्तपरक स्वरित के नीचे हस्तलेखों में आड़ी रेखा होती है। यथा—

प्रसवेऽश्विनोः । २।९॥

उदात्तात् परः स्वरितोऽधस्ताद् बिन्दुना ॥ ३९ ॥

उदात्त से परे जो अनुदात्तस्थानीय स्वरित होता है, उसके नीचे बिन्दु लगाया जाता है[1]। यथा—

---

१. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२१ ॥

इषे त्वोर्जे त्वा । १।१॥

विशेष—(१) श्रोडर द्वारा सम्पादित संस्करण में इस स्वरित के लिए कोई चिह्न उपलब्ध नहीं होता। श्री पं० सातवलेकर जी ने भी काठक के मुद्रण में श्रोडर का ही अनुकरण किया है। अतः उनके संस्करण में भी इसके लिए कोई चिह्न नहीं है।

(२) काठक के उपरि उद्धृत पाठ से ज्ञात होता है कि संहिता में उदात्त परे रहने पर भी अनुदात्त को स्वरित होता है। 'इषे' का 'षे' उदात्त है। उस से परे 'त्वो' अनुदात्त है। 'त्वो' से परे 'र्जे' उदात्त है। यहाँ **नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्** (अष्टा० ८।४।६७) के अनुसार अनुदात्त 'त्वो' को स्वरित नहीं होना चाहिए। परन्तु काठक संहिता में देखा जाता है। अतः पाणिनि के सूत्र में **गार्ग्य, काश्यप और गालव के साथ 'कठ' का भी उपसंख्यान कर देना चाहिए।**

उदात्तपरोऽनुदात्तश्चाधस्तादूर्ध्वदण्डेन ॥ ४० ॥

उदात्त जिस अनुदात्त के परे हो, उस अनुदात्त के नीचे खड़ी रेखा से चिह्न किया जाता है।[1]

यथा—अग्निं ।[2]

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने वै० प० कोष संहिता भाग की भूमिका पृष्ठ १२१ की टिप्पणी में लिखा है—

अनुदात्त भूमि स्वरित (जो उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हुआ हो) के लिए श्रोडर ने कोई संकेत नहीं अपनाया। पं० सातवलेकर ने मूल पाठ की दो स्थितियों को दिखाने के लिये L तथा W चिह्नों का प्रयोग किया है।

पं० विश्वबन्धु जी की भूल—पण्डितजी का उक्त लेख अशुद्ध है। श्रोडर के समान पं० सातवलेकर जी ने भी अनुदात्त भूमि स्वरित के लिए कोई चिह्न नहीं बरता। पण्डितजी ने श्री सातवलेकर जी द्वारा व्यवहृत जिन चिह्नों का वर्णन किया है वे अनुदात्तभूमि स्वरित के लिए नहीं प्रयुक्त हुए अपितु

---

१. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२१ ॥

२. वही, पृष्ठ १२१ ॥

जात्यादि स्वरितों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। श्रोडर ने भी जात्यादि स्वरितों के लिए क्रमशः ॢ तथा ^ चिह्नों का व्यवहार किया है।

काठक संहिता में सर्वत्र स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते। अधिकांश भाग पर स्वरचिह्न नष्ट हो गए। जहाँ स्वरचिह्न उपलब्ध होते हैं, उन्हीं के अनुसार उक्त व्यवस्था दर्शाई है। सूत्र ३९, ४० के निर्देश श्री पं० विश्वबन्धु जी के लेखानुसार किए हैं। शेष व्यवस्था श्री पं० सातवलेकर जी के संस्करण के अनुसार दिखलाई है।

अथ मैत्रायणीयस्वराङ्कनप्रकारः ॥ ४१ ॥

अब मैत्रायणी संहिता के स्वराङ्कन का प्रकार लिखते हैं।

मैत्रायणी संहिता का स्वराङ्कन-प्रकार पूर्वनिर्दिष्ट ग्रन्थों से सर्वथा विलक्षण है। इसलिए नया अधिकार किया है।

विशेष—मैत्रायणी संहिता के हस्तलेखों में व्यवहृत स्वरचिह्न यथार्थरूप में मुद्रण में नहीं आ सकता, जब तक कि उसके लिए सस्वर टाइप विशेष रूप से न ढलवाए जाएं। मैत्रायणी संहिता में कुछ स्वर वर्ण के मध्य में अङ्कित किए जाते हैं। इसके हस्तलिखित ग्रन्थों में कैसे स्वर अङ्कित किए जाते हैं, इसका कुछ परिचय स्वाध्यायमण्डल (औंध, वर्तमान-पारडी) से प्रकाशित मैत्रायणी संहिता के उपोद्घात में दिया है, परन्तु वह पूर्णतया ठीक नहीं है।

हम यहाँ स्वाध्याय मण्डल द्वारा प्रकाशित मैत्रायणी संहिता (इस संस्करण में मुद्रणार्थ स्वरचिह्नों में कुछ परिवर्तन किया है) के अनुसार स्वरचिह्न का व्याख्यान करते हैं।

उदात्तः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया ॥ ४२ ॥

मैत्रायणी संहिता में उदात्त का निर्देश शीर्षस्थ ऊर्ध्व रेखा । से किया जाता है। यथा—

इषे त्वा सुभूताय वायव स्थ। १।१।१ ॥

यहाँ 'षे-ता-य' ये तीन उदात्त हैं। अतः इनके ऊपर खड़ी रेखा है।

अनुदात्तोऽधः सरलरेखया ॥ ४३ ॥

अनुदात्त का निर्देश नीचे सीधी रेखा से किया जाता है। यथा—

इषे त्वा सुभूताय वायव स्थ। १।१।१ ॥

यहाँ 'इ-भू-वा' ये अक्षर अनुदात्त हैं।

उदात्तात् परः स्वरितोऽधोवक्ररेखयाऽन्त्य एकश्रुतिपरश्च ॥४४॥

उदात्त से परे जो स्वरित होता है, उसके नीचे ऐसी ‸ वक्र रेखा का चिह्न किया जाता है, यदि वह स्वरित अन्त में हो (उससे परे कोई वर्ण न हो) अथवा उससे परे एक श्रुति वाला अक्षर हो। यथा—

अन्त्य—यं एवं ँ विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। १।८।६ ॥

दोषा वस्तोर्नमः स्वाहा। १।८।७ ॥

यहाँ उदात्त से परे 'जुहोति' का 'ति' और स्वाहा का 'हा' अन्त्यस्वरित है, इससे आगे और वर्ण नहीं है।

एकश्रुतिपरक—इषे त्वा सुभूताय वायव स्थ। १।१।१ ॥

यं एवं ँ विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। १।८।६ ॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में उदात्त 'षे' से परे 'त्वा' स्वरित है, उसके आगे 'सु' एकश्रुति है। इसी प्रकार 'व' स्वरित से परे 'स्थ' एकश्रुति है। द्वितीय उदाहरण में उदात्त 'द्वा' से परे 'न' स्वरित है और उससे परे 'ग्नि' एकश्रुति है।

विशेष—हस्तलेखों में ऐसे स्वरित को बीच में से काटती हुई आड़ी रेखा से अङ्कित करते हैं।

अनुदात्तपरोऽधस्तात् ω चिह्नेन ॥४५॥

यदि उदात्त से परे ऐसा स्वरित हो जिसके आगे अनुदात्त अक्षर विद्यमान हो तो वह स्वरित नीचे त्रिशूल ω सदृश चिह्न से अङ्कित किया जाता है। यथा—

इषे त्वा सुभूताय वायव स्थ। १।१।१ ॥

ता अतिमन्यमानाः। २।५।६ ॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में उदात्त 'ता' से परे विद्यमान स्वरित 'य' से आगे 'वा' अनुदात्त अक्षर है। अतः यहाँ 'य' के नीचे ω चिह्न है। इसी प्रकार अगले उदाहरण में उदात्त 'ता' से परे स्वरित 'अ' और उससे परे अनुदात्त 'ति' है।

कहीं कहीं उदात्त से परे स्वरित का अनुदात्त परे रहने पर ‿ चिह्न के थान में ‿ चिह्न से भी संकेत मिलता है । यथा—

महः स्थ महो वा...।१।५।२

क्या यहाँ पाठाशुद्धि है अथवा अन्य कारण है यह विचारणीय है।

विशेष—हस्तलेखों में इस प्रकार के स्वरित के ऊपर तीन खड़ी रेखाएँ अङ्कित की जाती हैं । तथा—

|||
इध्मः प्रथमः ।१।४।११॥

|||
सवितः प्रस३वेऽश्विनोः ।१।२।१५॥[1]

अनुदात्तैकश्रुतिपरा जात्यादयोऽधोऽर्धचन्द्रेण ॥४६॥

अनुदात्त और एकश्रुति परे रहने पर जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष स्वरितों के नीचे ‿ ऐसा अर्धचन्द्राकार चिह्न प्रयुक्त होता है।

अनुदात्तपरक यथा—

जात्य—वीर्याणि प्रवोच ५ यः ।१।२।९॥

क्षैप्र—चरुः सिनीवाल्यै चरुः ।२।६।४॥

अभिनिहित—मित्रोऽसि ... ।२।६।९॥

एकश्रुतिपरक यथा—

जात्य—षड्द्याव ५ शिक्यं भवति षड् ।३।२।१॥

('शिक्यं' उदाहरण)

क्षैप्र—स्वरिहि ३स्वमंह्य ५ ।१।२।१५॥

(सु+अर्=स्वः, क्षैप्र सन्धि)

---

१. द्र० वैदिक पदानुक्रम कोश, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२१॥

अभिनिहित[1] — श्वोभूतेऽग्नीषोमीया ···।२।६।१।।

सोऽकामयत ।२।५।११।।

अनुदात्त परक और एकश्रुति परक प्रश्लेष के उदाहरण मृग्य हैं।

विशेष—एकश्रुतिपरक अभिनिहित के विषय में उत्तर सूत्र की व्याख्या में विशेष संख्या २ देखें।

उदात्तपराः कम्पन्ते ।।४७।।

उदात्त परे रहने पर जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित कम्प को प्राप्त होते हैं।

कम्पितोऽधस्तात् सरल रेखया, ततः पूर्वं त्र्यङ्कश्च ।।४८।।

पूर्वनिर्दिष्ट कम्पधर्मयुक्त स्वरित के नीचे सीधी रेखा का चिह्न किया जाता है और उससे पूर्व ३ का अङ्क लिखा जाता है। यथा—

जात्य—नैकमेकं पितृदेव३त्यं तद् ।१।४।१०।।

स्रुक् का३र्यानेन वा ।१।८।१।।

क्षैप्र—मूर्ध्नो हराम्यु३र्वन्तरिक्ष ँ ३वीह्यादित्यास्त्वा ।

१।१।२।।

प्रश्लेष—उ३र्वन्तरिक्ष ँ ३वीहीत्यन्तरिक्ष ······।

३।१०।१।।

अभिनिहित—अ३जोऽस्यैकपाद्दहिरसि ।१।२।१२।।

···सवितुः प्रस३वेऽश्विनोः ।१।२।१५।।

विशेष—(क) श्रोडर ने अपने संस्करण में सकम्प स्वरित से पूर्व केवल ३ का अंक ही दिया है। नीचे सीधी रेखा नहीं दी।

---

१. नमोऽपगुरमाणाय (२।९।८) यहाँ 'नमः' पद आद्युदात्त है, 'मः' अनुदात्त है। उससे परे 'अपगुरमाणाय' का अकार अनुदात्त है। दोनों की अभिनिहित सन्धि अनुदात्त हुई, तत्पश्चात् उदात्त 'न' से परे अनुदात्त 'मो' को स्वरित हुआ। अतः यह अभिनिहित स्वरित नहीं है।।

क्षैप्र के उदाहरण ३ वीह्यदित्यास्त्वा का पाठ पं० सातवळेकरजी के संस्करण में इस प्रकार छपा है—

० रिक्ष १ वीह्य दित्यास्त्वा ।

यहाँ वी को ऊर्ध्व रेखा से उदात्त दर्शाया है और उसके पूर्व में ३ का अंक भी नहीं है। यह अशुद्ध पाठ है। वीहि में 'वि+इहि' सन्धि है। 'वि' उदात्त है। और 'इ' अनुदात्त। श्रोडर ने अपने संस्करण में कहीं कहीं पदपाठ का भी निर्देश किया है। तदनुसार भी 'वि' उदात्त है और 'इहि' का 'इ' अनुदात्त। दोनों की प्रश्लिष्ट सन्धि स्वरित ही होगी। अगले प्रश्लेष के उदाहरण में 'वीहि' का स्वर ठीक मुद्रित हुआ है।

(ख) स्वर्विदुसि······।१।२।१५ में 'स्व' पद नीचे सीधी रेखा से तो अङ्कित है परन्तु उससे पूर्व ३ का अङ्क नहीं है। इसलिये 'स्व' को क्षैप्र स्वरित समझकर यहाँ पाठाशुद्धि की कल्पना ठीक नहीं है। वस्तुतः यहाँ स्वर्विद एक समस्त पद है उत्तरपद प्रकृति स्वर होने से 'स्व' अनुदात्त है।

(ग) पूर्वपदान्त अनुदात्त से परे पदादि उदात्त के साथ प्रश्लेष अथवा अभिनिहित सन्धि होने पर **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) से उदात्त सन्धि होती है[1]। पूर्वपदान्त उदात्त हो और अगला पदादि अनुदात्त हो तब एकादेश नियम से व्यवस्थित विभाषा के रूप में उदात्त अनुदात्त अ+अ अथवा आ+अ की प्रश्लिष्ट संधि उदात्त होती है। यथा—

पृष्ठान्येवाचीक्लृपत् । १।५।६ ॥

आप्त्वावरुन्धे । १।८।६ ॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में एव+अची० और द्वितीय में आप्त्वा+अव की संधि उदात्त है। इ+इ, उ+उ की प्रश्लिष्ट सन्धि स्वरित होती है। जैसे पूर्व उदाहरणों में वि+इहि की सन्धि दर्शा चुके हैं।

उदात्त अनुदात्त की अभिनिहित सन्धि भी स्वरित ही होती है। यथा—

---

१. श्री पं० सातवलेकर जी द्वारा सम्पादित मै. सं. में नमोऽस्यद्भ्यो··········(२।९।४) में 'नमः' के अनुदात्त 'म' और 'अस्यद्भ्यः' के उदात्त 'अ' की सन्धि 'मो' स्वरित है, परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। श्रोडर के संस्करण में 'मो' उदात्त ही है।

गो ३ ष्ठेऽयं .... । १।५।२ ॥

(घ) ऋग् और अथर्व संहिताओं में ह्रस्व कम्पित स्वरित से परे १ संख्या तथा दीर्घ से परे ३ संख्या का निर्देश किया जाता है (देखो तत्तत् प्रकरण के सूत्र)। ऋग्वेद के खिलपाठ के कश्मीर-संस्करण में ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार के कम्पित स्वरितों में ३ संख्या का उल्लेख मिलता है (देखो सूत्र २०)। परन्तु मैत्रायणी संहिता में ३ का अङ्क ह्रस्व और दीर्घ कम्पित स्वरित के उत्तर न लिखा जाकर उस से पूर्व लिखा जाता है। यह अत्यधिक वैलक्षण्य है। कपिष्ठलकठ में ऐसे ह्रस्व स्वरित से परे या पूर्व ३ का अंक तो नहीं लिखा जाता, परन्तु वहाँ ह्रस्व स्वरित को दीर्घ ही उच्चारण किया जाता है (देखो सूत्र ३३)। इस तुलना से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के कश्मीर-पाठ, कपिष्ठलकठ तथा मैत्रायणी संहिता का परस्पर कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद के कश्मीरपाठ, काठक और मैत्रायणी संहिता में उदात्त के लिए शीर्षस्थ खड़ी रेखा का समान चिह्न भी हमारे इस अनुमान का पोषक है।

अथ सामवेदस्य ॥ ४९ ॥

अब सामवेद की संहिता में प्रयुक्त स्वराङ्कन-प्रकार का वर्णन किया जाता है।

सामवेद की कौथुमी और जैमिनीया दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें जैमिनीय-संहिता स्वररहित ही प्रकाशित हुई है। अतः यहाँ कौथुम-संहिता का ही स्वराङ्कन-प्रकार लिखा जाता है।

उदात्त एकाङ्केन ॥ ५० ॥

सामसंहिता में उदात्त '१' संख्या से अङ्कित किया जाता है। यथा—

२ ३ १ २
अग्न आ याहि । पू० १।१।१॥

यहाँ 'आ' उपसर्ग उदात्त है।

यह सामान्य सूत्र है। **अवसाने द्व्यङ्केन** (सूत्र ५२) इत्यादि सूत्रों से इसका अपवाद कहेंगे। 'उदात्त' का अधिकार सूत्र ५५ तक है।

अनेकोदात्तत्वे प्रथम एव यथायथम् ॥ ५१ ॥

जहाँ अनेक उदात्त एक साथ प्रयुक्त होते हैं, वहाँ पहले उदात्त पर ही

संकेत किया जाता है, अगले बिना निर्देश के ही रहते हैं। 'यथायथम्' कहने से जहाँ उदात्त स्वर का '१' एक संख्या से निर्देश होना हो, वहाँ एक संख्या से और जहाँ '२' संख्या से निर्देश (सूत्र ५२–५४) होना हो, वहाँ दो संख्या से होता है। यथा—

३ १र २र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः । पू० १।१।६॥

३ १र २र
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति । पू० २।५।८॥

३ २
चिता गोः । पू० ५।८।२॥

३ २
महाँ हि षः । पू० ४।१०।१॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'हि–वि' दो उदात्त हैं, दूसरे में 'ह्मा–कस्–तं' तीन। तृतीय में 'ता–गोः' दो और चतुर्थ में 'हाँ–हि–षः' तीन उदात्त हैं। तृतीय चतुर्थ उदाहरणों में सूत्र ५२ से उदात्त का '२' संख्या से निर्देश का विधान किया जायगा।

स्वरितपरेषु च सरेफः ॥५२॥

सूत्र ५० से 'प्रथमः' की अनुवृत्ति आती है। जिन उदात्तों से परे स्वरित होता है, उनमें प्रथम उदात्त पर '१' संख्या के साथ 'र' का संकेत भी किया जाता है। यथा—

३ १र २र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः । पू० १।१।६॥

३ १र २र
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति । पू० २।५।८॥

यहाँ क्रमशः 'हि' और 'ह्मा' पर '१ र' का संकेत इसलिए है कि इनसे परे क्रमशः 'श्व' 'स' स्वरित हैं। सूत्र में 'स्वरित परे रहने पर' इसलिए कहा

३ २
है कि **चिता गोः** (पू० ५।८।२) में स्वरित परे न होने से 'र' का निर्देश नहीं होता।

विशेष—किन्हीं किन्हीं मुद्रित ग्रन्थों में स्वरित परे रहने पर प्रथम उदात्त पर '२' का निर्देश नहीं मिलता।

अवसाने द्व्यङ्केन ॥५३॥

अवसान = विराम से पूर्व उदात्त '२' संख्या से निर्दिष्ट होता है। यथा—

१ २ ३ २
विश्वेषां हितः। पू० १।१।२॥

यहाँ 'तः' उदात्त से परे विराम है।

अवसान से पूर्व एक साथ अनेक उदात्त होने पर सूत्र ५१ के नियम से प्रथम उदात्त पर ही '२' संख्या का निर्देश किया जाता है। यथा—

३ २ ३ २
चिता गोः। पू० ५।८।२॥ महाँ हि षः। पू० ४।१०।१॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में अवसान से पूर्व 'ता-गोः' दो उदात्त हैं और द्वितीय में 'हाँ-हि-षः' तीन।

अनुदात्तपरश्च ॥५४॥

अनुदात्त परे है जिससे ऐसा उदात्त '२' संख्या से निर्दिष्ट होता है।

२ ३ १ २
अग्न आ याहि। पू० १।१।१।

यहाँ उदात्त 'अ' से परे अनुदात्त 'ग्न' है। सूत्र में 'अनुदात्तपर' का ग्रहण इसलिए किया है कि

१ २ ३ १र २र
इन्दो समुद्रमा विश। उ० ५ (१) १५।२॥

यहाँ 'न्दो' स्वरित परे रहने के कारण उदात्त 'इ' पर '२' संख्या का संकेत नहीं किया जाता।

अनुदात्तपरेषु प्रथमः सोकारेण ॥५५॥

अनुदात्त परे हैं जिनसे ऐसे उदात्तों में प्रथम उदात्त उकार सहित '२' संख्या से निर्दिष्ट होता है। यथा—

२उ ३ २ ३
आदित् प्रत्नस्य०। पू० १।२।१०॥

३ २३ ३ १
गिरा ममा जाता० । पू० ।१।५।८।।

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'आ-दित्' दो उदात्त हैं, उन से परे 'प्र' अनुदात्त है। द्वितीय उदाहरण में 'रा-म-मा' तीन उदात्त हैं, उन से परे 'जा' अनुदात्त है। सूत्र में अनुदात्तपर इसलिए रखा है कि

३ २·
चिता गोः । पू० १५'८ ॥

में 'ता-गो' उदात्तों से पर अनुदात्त न होने से 'र' के साथ 'उ' का निर्देश नहीं होता।

स्वरितो द्व्यङ्केन ॥ ५६ ॥

साम संहिता में स्वरित का '२' संख्या से निर्देश किया जाता है। यथा—

२ ३ १ २
अग्न आ याहि । पू० १।१।१ ॥

यहाँ 'या' स्वरित के ऊपर '२' का चिह्न किया है।

विशेष—(१) 'द्व्यङ्केन' पद की अनुवृत्ति होने पर भी 'द्व्यङ्केन' का पुनः निर्देश उदात्त अधिकार की समाप्ति-ज्ञान के लिए है। स्वरित का अधिकार सूत्र ६१ तक चलेगा।

(२) अनेकविध स्वरितों में से क्षैप्र आदि विशिष्ट स्वरितों के अङ्कन के विषय में आगे विशेष विधान किया जाएगा। अतः इस सूत्र में सामान्य स्वरित का ही उदाहरण दिया है।

अनेकोदात्तात् परः सरेफेण ।।५७।।

अनेक उदात्तों से परे जो स्वरित है, वह 'र' सहित '२' संख्या से निर्दिष्ट किया जाता है। यथा—

३ १र १र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः । पू० १।१।६।।

३ १र २र
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति । पू० २।५।८ ॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'हि-वि' दो उदात्तों से परे 'श्व' स्वरित है और द्वितीय में 'ह्मा-क-स्तं' तीन उदात्तों से परे 'स' स्वरित है।

अनुदात्तैकश्रुत्यवसानेषु क्षैप्रजात्यप्रश्लेषाभिनिहिताश्च, न चेदुदात्तात् पराः ॥ ५८ ॥

अनुदात्त, एकश्रुति और विराम परे होने पर जो क्षैप्र-जात्य-प्रश्लेष-अभिनिहित स्वरित हैं, वे रेफविशिष्ट २ अंक से निर्दिष्ट होते हैं, यदि क्षैप्र आदि उदात्त से परे न हों।

विशेष—यहां यथासम्भव उदाहरण समझने चाहिएँ। यथा—

क्षैप्र अनुदात्त परे रहने पर—

३क २र ३ २र
तन्वा गिरा । पू० १।५।८ ॥

एकश्रुति परे रहने पर—

२र ३
न्यस्मिन् दध्र० । उ० १ (२)।५।८॥

अवसान (विराम) परे—

३क २र
० दुराध्यम् । पू० २।१।९ ॥

३क २र
दूढ्यम् । पू० २।२।७ ॥

यहां क्रमशः 'न्वा-न्य-ध्य-ढ्य' उदाहरण हैं।

जात्य—एकश्रुति परे रहने पर—

३क २र
० मनुष्येभिः । पू० १।८।७ ॥

१क २ ३क २र
तं गूर्धया स्वर्णरम् । पू० २।२।३ ॥

यहां क्रमशः 'ष्य-स्व' उदाहरण हैं।

प्रश्लेष—एकश्रुति परे रहने पर—

२ ३क २र
अधा हीन्द्र० । पू० ५।२।८ ॥

यहां 'ही' उदाहरण है।

'न चेदुदात्तात् पराः' (यदि उदात्त से परे न हों) इसलिए कहा कि

३ १ २ ३
तृम्पा व्यश्नुही० । पू० २।७।७ ॥

यहां क्षैप्र स्वरित 'व्य' उदात्त 'म्पा' से परे है। इसलिए 'व्य' के निर्देश में 'र' का संकेत नहीं होता।

विशेष—ऊपर क्षैप्र आदि के जितने उदाहरण दिए हैं, उन सब में क्षैप्र आदि स्वरित से पूर्व अनुदात्त का ही निर्देश उपलब्ध होता है। इसलिए सूत्र में 'न चेदुदात्तात् पराः' के स्थान में 'अनुदात्तात् परः' कहने से भी कार्य चल सकता था। 'तृम्पा व्यश्नुही०' में उदात्त से परे होने से 'र' का निर्देश अपने आप ही नहीं होता। उत्तर—'तृम्पा व्यश्नुही' में कार्य चल जाने पर भी

२ र २ र ३
क्केयथ० । पू० ३।८।९॥ न्यस्मिन् दध्र० । उ० १ (२)।५।३॥

में 'क' और 'न्य' से पूर्व अनुदात्त न होने से 'र' का निर्देश प्राप्त नहीं होता। इसलिए सूत्र में 'अनुदात्तात्पराः' न कह कर 'न चेदुदात्तात्पराः' कहा है।

अनुदात्त आदि परे 'र' का निर्देश इसलिए किया है कि

३ २ २
पाह्यू३त । पू० १।४।२ ॥

में उदात्त परे रहने पर 'ह्यू' पर 'र' का निर्देश न हो।

उदात्तपराः प्लवन्ते ॥ ५९ ॥

उदात्त स्वर परे है जिनसे ऐसे क्षैप्र-जात्य-प्रश्लेष-अभिनिहित स्वरित प्लुत होते हैं। यथा—

३ २ २
क्षैप्र—**पाह्यू३त । पू० १।४।२ ॥**

३ २ १ २
जात्य—**दूत्यां३चरन् । पू० १।७।२ ॥**

३ २ १ २
अभिनिहित—**वृधे३ऽस्माँ अवन्तु । पू० ३।५।७ ॥**

यहां प्रथम उदाहरण में 'ह्यू' स्वरित से परे 'त' उदात्त है, द्वितीय में 'त्या' से परे 'च' उदात्त है, तृतीय में 'धे' से परे 'स्मां' उदात्त है।

यहाँ सूत्र ५५ से '२' संख्या का निर्देश प्राप्त ही है, केवल प्लुतत्व का विधान इस सूत्र से किया है।

विशेष—(१) प्लुतसंज्ञक स्वर का निर्देश '३' संख्या से किया जाता है और '३' संख्या से पूर्व प्लुत वर्ण ह्रस्व अथवा दीर्घ दोनों रूप से लिखा जाता है। यथा—**पाह्यु३त, पाह्यू३त; दूत्यां३चरन्, दूत्यं३चरन्।** ह्रस्व अकार जहाँ प्लुत होता है और ह्रस्व से आगे '३' का संकेत होता है, वहाँ मूर्ख लोग प्लुत अकार का उच्चारण भी संवृत् प्रयत्न से करते हैं। शिक्षा-शास्त्र के अनुसार प्लुत अकार का विवृत प्रयत्न से उच्चारण होना चाहिए। इसलिए हमने स्वसम्पादित, सं० २००४ में वैदिक यन्त्रालय अजमेर प्रकाशित षष्ठावृत्ति में प्लुत स्वर का निर्देश सर्वत्र दीर्घस्वर से दर्शाया है।

(२) **'उदात्तपराः प्लवन्ते'** नियम हमने लिखित तथा मुद्रित पुस्तकों के अनुसार लिखा है।[१] हमें सन्देह है कि साम संहिता में जिन क्षैप्र आदि स्वरितों के आगे ३ का अङ्कन है, वह प्लुतत्व के लिए है। साम संहिता में जहाँ-जहाँ क्षैप्रादि से आगे ३ का उल्लेख है उन मन्त्रों के पाठ की ऋक् और अथर्व पाठ से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह ३ का अङ्क प्लुतत्व के लिए नहीं है, अपितु कम्प के लिए है। देखिए सूत्र १४, १५ के उदाहरण। केवल भेद इतना ही है कि ऋग् और अथर्व में ह्रस्व से परे १ तथा दीर्घ से परे ३ का अङ्कन होता है। परन्तु ऋग्वेद के कश्मीर पाठ में ह्रस्व क्षैप्रादि से आगे भी ३ का ही निर्देश मिलता है। देखिए सूत्र २० के उदाहरण। मैत्रायणी संहिता में भी ह्रस्व क्षैप्रादि का ३ से निर्देश किया जाता है, परन्तु उसमें '३' की संख्या क्षैप्र आदि से पूर्व लिखी जाती है। देखिए सूत्र ४८ के उदाहरण। कपिष्ठल कठ में क्षैप्रादि से परे अथवा पूर्व १ या ३ का निर्देश तो नहीं मिलता, परन्तु उसमें ह्रस्व क्षैप्र अथवा जात्य को दीर्घ रूप से लिखा जाता है। देखिए सूत्र ३३ की व्याख्या।

इन सब नियमों को दृष्टि में रखते हुए हमारा विचार है कि उदात्त परे

---

१. श्री पं० विश्वबन्धु जी ने भी इस '३' संख्या को प्लुतत्व के लिए ही माना है। द्र० वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमि का पृष्ठ १२०॥

रहने पर क्षैप्र आदि से परे जो ३ का अंक है, वह प्लुतत्व के ज्ञापन के लिए नहीं है, अपितु कम्प-निदर्शनार्थ है। कम्प होने पर ह्रस्व भी दीर्घवत् प्रतीत होता है, अतः ऋग्वेद के कश्मीर-पाठ में, मैत्रायणी संहिता में और साम संहिता में ह्रस्व से परे भी ३ का ही अंक लिखने की परिपाटी है। सम्भव है इसी कारण कपिष्ठलकठ संहिता में तथा साम संहिता में ह्रस्व क्षैप्र और जात्य को दीर्घ भी लिखा जाता है।

उदात्तपूर्वाश्चेदनङ्किताः ॥ ६० ॥

पूर्व सूत्र से प्लुत किए गए क्षैप्र, जात्य, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरितों से पूर्व उदात्त स्वर हो तो वे बिना अङ्कन के ही रहते हैं, अर्थात् उन पर पूर्व सूत्र ५५ से प्राप्त '२' संख्या का अङ्कन नहीं किया जाता। यथा—

२ ३ ३ २ १ २
त्वं ह्या ३ ङ्गे । पू० ६।९।६ ॥ ऊर्जे व्या ३ व्ययं० ।
उ० ६ (३) । १।४ ॥

३ २ १
विद्धी त्वा ३ स्य । पू० २।४।८ ॥

यहाँ क्रमशः 'ह्या-व्या-त्वा' से पूर्व 'त्वं-र्जे-द्धी' उदात्त हैं और परे भी 'ङ्गे-व्य-स्य' उदात्त हैं।

अनुदात्तस्त्र्यङ्केन ॥ ६१ ॥

साम संहिता में अनुदात्त स्वर का निर्देश '३' संख्या से किया जाता है। यथा—

२ ३ १ २
अग्न आ याहि । पू० १।१।१ ॥

यहाँ 'ग्न' अनुदात्त है। अनुदात्त का अधिकार ६२ तक है।

अनेकानुदात्तत्व आद्य एव ॥ ६२ ॥

एक साथ अनेक अनुदात्त उपस्थित हों तो उनमें प्रथम अनुदात्त पर ही '३' अङ्कन किया जाता है। यथा—

३ १२ ३१२
दूरेदृशं गृहपतिम् ॥ पू० १।७।१० ॥

यहाँ 'दूरेदृशं' में 'दू-रे' दोनों अनुदात्त हैं। अतः इनमें प्रथम 'दू' पर ३ का चिह्न है, 'रे' पर नहीं।

सरेफक्षैप्रजात्यप्रश्लेषेषु सककारेण ॥ ६३ ॥

रेफ सहित २ संख्या से निर्दिष्ट (सूत्र ५७) क्षैप्र, जात्य और प्रश्लेष स्वरितों के परे रहने पर पूर्व का अनुदात्त 'क' सहित ३ अंक से निर्दिष्ट होता है। यथा—

३क २र ३ २उ
क्षैप्र परे रहने पर—तन्वा गिरा० । पू० १।५।८॥

३क २र
जात्य परे रहने पर—मनुष्येभिः । पू० १।८।७॥

२ ३क २ र
प्रश्लेष परे रहने पर—अधा हीन्द्र । पू० ५।२।८॥

सूत्र में 'सरेफ' विशेषण इसलिए दिया है कि—

३ २ २
पाह्यू३त । पू० १।४।२॥

यहाँ रेफविशिष्ट क्षैप्र स्वरित न होने से पूर्व अनुदात्त 'पा' पर 'क' का चिह्न नहीं किया जाता। क्षैप्र आदि का निर्देश इसलिए किया है कि—

३ १र २र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः । पू० १।१।६॥

यहाँ अनुदात्त 'पा' से परे रेफ सहित 'हि' तो है, परन्तु वह उदात्त है, क्षैप्र आदि स्वरित नहीं है।

एकश्रुतिरनङ्किता ॥ ६४ ॥

सामसंहिता में स्वरित से परे एकश्रुति स्वर पर कोई चिह्न नहीं होता। यथा—

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि । पू० १।१।१॥ अग्निं दूतं वृणीमहे । पू० १।१।३॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'हि' एक तथा द्वितीय उदाहरण में 'णी-म-हे' तीन एकश्रुति स्वर वाले हैं।

अथाथर्वणः ॥६५॥

यहां से आगे अथर्वसंहिता के स्वराङ्कन-प्रकारों का निर्देश करेंगे।

अथर्व की ९ संहिताओं में से इस समय शौनकीय और पैप्पलाद दो संहिताएँ ही उपलब्ध होती हैं। उनमें से

शौनकस्य तावत् ॥६६॥

पहले शौनक पाठ के स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश किया जाता है।

उदात्तानुदात्तसाधारणस्वरिता ऋग्वेदवत् ॥६७॥

शौनक संहिता में उदात्त, अनुदात्त और साधारण स्वरित स्वरों का निर्देश ऋग्वेद के समान समझना चाहिए।

जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अग्रे ∫ रेखया ॥६८॥

जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरितों का निर्देश स्वरित वर्ण के आगे ∫ ऐसे चिह्न से किया जाता है। यथा—

जात्य—**दुर्शयं यातुधान्य∫ः** ।४।२०।६॥

वज्रं स्वुर्यं∫ ततक्ष ।२।५।६॥

क्षैप्र—**तुन्वो∫अद्य** ।१।१।१॥

स्वुस्त्ये∫नं जुरसे ।१।३०।२॥

प्रश्लेष—**नी ∫ त[1] एव** ।३।११।२॥

अभिनिहित—**ये ∫ स्या दोहंमुपासंते** ।५।१७।१७॥

दिशो ∫ ऽभिदासंन्त्यस्मान् ।४।४०।१॥

विशेष—राथ ह्विटनी द्वारा संपादित शौनक पाठ तथा लिंडनो द्वारा उसके पुनः परिष्कृत संस्करण में जात्यादि स्वरितों पर भी ऋग्वेद के समान ⊥ ऊर्ध्व

१. शंकर पाण्डुरंग के संस्करण में यहां नीत ऐसा ही पाठ है। विशेष द्रष्टव्य पृष्ठ १६५।

रेखा का चिह्न ही व्यवहृत है। राथ ह्विटनी के संस्करण के आधार पर मुद्रित कतिपय भारतीय संस्करणों[२] में भी यही संकेत उपलब्ध होता है।

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने अथर्ववेदीय स्वरित स्वर के संकेत के विषय में लिखा है—

शौनकीयेऽथर्ववेदे स्वरितादुपरि ⌡ इति संकेतो भवति, तद् वीर्य ⌡ म्, सर्वा्ह्य ⌡ स्मिन् (११,८,१) ज्येष्ठवरो ⌡ ऽभवत् (११,८,१)। उदात्तादुपरितनः स्वरितस्तु बाह्वृचवत् साधारणेनोर्ध्व-दण्डेनैव संकेत्यते, तद् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे (१,११,२)[३]।

अर्थात्—शौनक अथर्ववेद में स्वरित से आगे ⌡ ऐसा संकेत होता है। यथा—

वीर्यं⌡, सर्वाह्य⌡स्मिन् (११,८, ३२)।
ज्येष्ठवरो⌡ ऽभवत् (११,८,१)।

उदात्त से अगला स्वरित ऋग्वेद के समान खड़ी रेखा से ही संकेतित किया जाता है। यथा—

तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे (१,११,२)

दो भूलें—श्री पण्डित जी के लेख में यहां दो भूलें हैं।

प्रथम—उदात्त से परे अनुदात्त को जो स्वरित होता है, उसका निर्देश अथर्ववेद में सर्वत्र ⊥ ऐसी ऊर्ध्वरेखा से ही किया जाता है। उसका निर्देश श्री पण्डित जी ने नहीं किया। ⌡ चिह्न से निर्देश तो क्षैप्र, जात्य, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित का ही किया जाता है, न कि साधारण स्वरित का।

द्वितीय—श्री पण्डित जी ने अथर्व १।११।२ का पाठ उद्धृत करके दर्शाया है कि उदात्त से परे जो स्वरित होता है, उस का संकेत ⌡ चिह्न से न करके

२. हमारे द्वारा संपादित षष्ठ संस्करण (सं० २००१) से पूर्व वैदिक यन्त्रयालय अजमेर से जितने संस्करण छपे थे, उनमें क्षैप्रादि स्वरितों पर भी ऐसा ⊥ चिह्न ही था॥

३. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ ११९॥

ऋग्वेद के ⊥ ऊर्ध्व रेखा से किया जाता है। यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है। अथर्ववेद में अधिकांश रूप में उदात्त से परे क्षैप्र आदि स्वरितों में भी ʃ चिह्न ही उपलब्ध होता है। यथा—

अग्निर्ह्यँ ʃ षां दूतः ।३।१।२।।

०आरण्यैर्व्या ʃ पु०।३।३१।३।।

दिवस्पृष्ठं स्व ʃ र्गत्वा ।४।१४।२।।

लोकं स्व ʃ रारोहन्तो० ।४।१४।६।।

इस प्रकार के अनेक ऐसे पाठ हैं, जिनमें उदात्त से परे भी क्षैप्र आदि का ʃ चिह्न से ही संकेत है। शङ्कर पाण्डुरंग के संस्करण में इन पर कोई पाठान्तर निर्दिष्ट नहीं है।

कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ दोनों प्रकार के पाठ हैं। यथा—

देवाः स्व ʃ रारुहुः। ४।६।६।। पाठान्तर—देवाः स्वरा०।

विद्वा व्यो ʃ षया० ।३।२६।४।। पाठान्तर—विद्वा व्योषया।

इन में द्वितीय उद्धरण का पाठान्तर-निर्दिष्ट स्वर अशुद्ध है। स्वरित का चिह्न 'व्यो' पर होना चाहिए।

अथर्ववेद के कई स्थल ऐसे भी हैं जहाँ शंकर पाण्डुरंग ने उसके सम्पूर्ण हस्तलेखों में उदात्त से परे क्षैप्र आदि स्वरित का ⊥ उर्ध्व रेखा से संकेत होने पर भी मन्त्र पाठ में उसने ʃ का ही संकेत किया है। यथा—

तत्रं सेदिर्न्यु ʃ च्यतु० २।१४।३ ।।

हां, अति स्वल्प स्थान ऐसे हैं जहाँ उदात्त से परे क्षैप्र आदि स्वरित का निर्देश हस्तलेखों में केवल ⊥ ऊर्ध्व दण्ड से ही किया है। शंकरपाण्डुरङ्ग ने

तं यू ण्र्णुवन्तु० ।१।११।२।। सूषा व्यूर्णोतु वि १।११।३ ।।

ऐसे कतिपय स्थानों पर उदात्त से परे विद्यमान क्षैप्र आदि स्वरित का ऊर्ध्वदण्ड से निर्देश किया है।

हमारा संस्करण—अजमेर वैदिक यन्त्रालय से सं० २००१ में अथर्ववेद का छठा संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह हमारे द्वारा परिष्कृत है। हमने हस्तलेखों में उदात्त से उत्तरवर्ती क्षैप्र आदि स्वरितों के विषय में कहीं-कहीं विप्रतिपत्ति देखकर भूमा-न्याय से सर्वत्र समान रूप से ⌠ चिह्न से ही संकेत किया है।

उदात्तपराः कम्पन्ते, ऋग्वेदवच्चाङ्क्यन्ते ॥६९॥

उदात्त परे रहने पर क्षैप्र आदि स्वरित कम्प को प्राप्त होते हैं और ऋग्वेद के समान ही ह्रस्व से परे १ संख्या से तथा दीर्घ ३ संख्या से अङ्कित होते हैं।

क्षैप्र—तुन्वं १ पादौ ।६।९।१ ॥

तुन्वा ३ सं बलेन ।५।३०।१४ ॥

जात्य—यदाद्यं १ यदंनाद्यम् ।८।२।१९ ॥

या रोहिंणीर्देवुत्या ३ गावो वा ।१।२२।३ ॥

अभिनिहित—न ब्राह्मणो हिंसितुव्यो३ऽग्निः ५।१८।६॥

अथ पैप्पलादस्य ॥ ७० ॥

अब अथर्ववेद के पैप्पलाद पाठ के स्वराङ्कन का प्रकार लिखते हैं।

विशेष—पैप्पलाद का स्वराङ्कन-प्रकार श्री पं० विश्वबन्धु जी के निर्देशानुसार लिखा है।

उदात्तः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया ॥ ७१ ॥

पैप्पलाद पाठ में उदात्त का संकेत ऊपर खड़ी रेखा से किया जाता है। यथा—

शिवा शरव्या या ।१४।२।७॥ तन्वा शन्तमया ।१४।२।८॥

इनमें क्रमशः 'या–श' ये उदात्त हैं।

अनुदात्तोऽधस्तादूर्ध्वदण्डेन ॥ ७२ ॥

अनुदात्त का निर्देश वर्ण के नीचे खड़े दण्ड से किया जाता है। इसके लिए देखिए पूर्वनिर्दिष्ट द्वितीय उदाहरण में 'तन्वा' का 'त'।

सामान्यस्वरितोऽधस्ताद् बिन्दुना ॥ ७३ ॥

सामान्य स्वरित (उदात्त से परे जो अनुदात्त को स्वरित होता है) का निर्देश वर्ण के नीचे विन्दु लगाकर किया जाता है । यथा—

कामो दाता ।१।३०।६॥ शन्तमया ।१४।२।८॥

क्षैप्रादयो वक्ररेखया ॥ ७४ ॥

क्षैप्र आदि स्वरित वर्ण के नीचे वक्ररेखा से अङ्कित किए जाते हैं । यथा—

क्षैप्र—तन्वा शन्तमया ।१४।२।८॥

जात्य—जिह्वाया आस्याय च ।१६।१०४।६॥

शिवा शरव्या या ।१४।२।७॥

क्षैप्रादिभ्यः परः प्रथमैकश्रुतिरधो बिन्दुना ॥ ७५ ॥

क्षैप्र आदि स्वरित से परे जितने वर्ण एकश्रुति स्वर वाले हैं, उनमें प्रथम के नीचे विन्दु लगाया जाता है । यथा—

जिह्वाया आस्याय च ।१६।१०४।६॥

विशेष—पैप्पलाद पाठ के स्वराङ्कन-प्रकार काठक संहिता के स्वराङ्कन-प्रकार से उदात्त, अनुदात्त, सामान्य स्वरित और क्षैप्र आदि स्वरितों के विषय में पूर्णतया समानता रखते हैं । दोनों में केवल इतना भेद है—काठक में क्षैप्रादि की ᑌ, ᓀ चिह्नों से व्यवस्थित रूप से अंकन होता है और पैप्पलाद में सर्वत्र चिह्न से । दोनों संहिताओं का पुराकाल में कश्मीर में विशेष पठन-पाठन होता था । सम्भवतः इसी कारण दोनों के स्वराङ्कन-प्रकार में अत्यधिक सादृश्य है ॥

अथ ब्राह्मणानाम् ॥ ७६ ॥

यहाँ से आगे ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश करेंगे ।

माध्यन्दिनशतपथस्य तावत् ॥ ७७ ॥

प्रथम माध्यन्दिन शतपथ के स्वराङ्कन प्रकार का निर्देश करेंगे ।

विशेष—हमने माध्यन्दिन शतपथ के स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश प्रधानतया वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित संस्करण के अनुसार किया है । वेबर और

अच्युत ग्रन्थमाला काशी के संस्करणों में कहीं कहीं स्वल्प भेद है।

उदात्तोऽधःसरलरेखया ॥ ७८ ॥

माध्यन्दिन पाठ में उदात्तस्वर का निर्देश नीचे सीधी रेखा से किया जाता है।[1] यथा—

अथ स ꣳ स्थिते विसृजते।१।१।१।२॥

यहाँ 'अ-सं-वि' उदात्त हैं।

विशेष—अजमेरमुद्रित संस्करण के आरम्भ के कुछ भाग में उदात्त से परे श्रूयमाण ꣳ के नीचे रेखा का प्रयोग नहीं किया है, आगे सर्वत्र है। इस नियम का उल्लेख हमने सूत्र ८० में किया है।

द्वयोर्बहूनां वाऽन्त्य एव ॥ ७९ ॥

जहाँ दो अथवा बहुत उदात्त एक साथ प्रयुक्त होते हैं, वहाँ अन्त्य ही सीधी रेखा से अङ्कित किया जाता है। यथा—

दो में—व्रतमुपायानीति।१।१।१।१॥

त उत्तरस्य।४।६।९।११॥

प्रथम उदाहरण में 'त-मु' दो उदात्त हैं, दूसरे में 'त-उ'। दोनों में पूर्व उदात्त पर कोई चिह्न नहीं है, द्वितीय पर है।

बहुतों में—अग्निर्ह वै धूरथ।१।१।२।९॥

यहाँ 'ग्नि-ह-वै-धू-र' ये पांच उदात्त हैं। इनमें प्रथम चार पर कोई चिह्न नहीं, अन्तिम 'र' पर चिह्न लगाया जाता है।

---

१. शतपथ के स्वर-ज्ञान के लिए एक 'भाषिक सूत्र' नामक शु० यजुः-प्रातिशाख्य का परिशिष्ट मिलता है। यह कात्यायन-प्रोक्त माना जाता है। इस पर अनन्त भट्ट की टीका भी छपी है। यह परिशिष्ट काशी से प्रकाशित शु० य० प्रातिशाख्य के अन्त में ४३२–४७० तक छपा है। इसमें शतपथ में स्वर-चिह्न-रहित लिखे जाने वाले स्वरित और अनुदात्तों का उदात्त बना दिया है (द्र० सूत्र १३, १४) और उदात्त को अनुदात्त (द्र० सूत्र १५)। यह शास्त्रविरुद्ध होने से चिन्त्य है। इस हेतु से हमें इस भाषिक सूत्र की कात्यायन-प्रोक्तता में सन्देह होता है॥

उदात्तात् परस्यानुस्वारस्य ꣳ ꣴ संकेतावपि ॥८०॥

उदात्त से परे जिस अनुस्वार को 'ऊष्म' और 'र' वर्ण परे रहने पर ꣴ वा ꣳ संकेत से लिखा जाता है, वह भी सीधी रेखा से अङ्कित किया जाता है। यथा—

यत्पश्चम् ꣴ स्रुचा ।३।१।४।२॥

यदमेध्य ꣳ रिप्रं० ।३।१।२।११॥

विशेष—(१) शतपथ के किसी संस्करण में ꣴ संकेत उपलब्ध होता है और किसी में ꣳ। संहिता में दोनों ही संकेत ह्रस्वपूर्व और दीर्घपूर्व की व्यवस्था से व्यवस्थित हैं।

(२) श्री पं० विश्वबन्धु जी ने इस नियम का उल्लेख करते हुए लिखा है—

अङ्कितस्य सत उदात्तस्य अनुनासिकतां प्राप्तावनुनासिकचिह्नमप्यधो रेख्यते·········।[१]

अर्थात्—अधोरेखा से अङ्कित उदात्त के अनुनासिक होने पर अनुनासिक का चिह्न (ꣳ) भी अधोरेखा से चिह्नित किया जाता है।

आलोचना—यहाँ श्री पण्डित जी ने ꣳ (वा ꣴ) को अनुनासिक का चिह्न लिखा है। उन्हें यह भ्रान्ति काण्व शतपथ के सम्पादक कैलेण्ड के लेख से हुई है।[२] 'शत ꣳ शत ꣳ ह' अथवा 'मेध्य ꣴ रिप्रम्' आदि में 'शतम्-मेध्यम्' के मकार को **मोऽनुस्वारः** (अ० ८।३।२४) से अनुस्वार होना ही सम्भव है और उसी अनुस्वार का ऊष्म और र परे यजुर्वेद में ꣴ अथवा ꣳ से निर्देश किया जाता है (द्र० याज्ञ० शिक्षा)। यहाँ मकार के लोप और उससे पूर्ववर्ती अकार के अनुनासिकत्व की कल्पना न केवल शास्त्रविरुद्ध है, अपितु प्रयोगविरुद्ध भी है। कोई भी वैदिक ꣳ अथवा ꣴ से पूर्ववर्ती स्वर को अनुनासिक नहीं पढ़ता।

हमारा विचार—इस विषय में हमारा विचार है कि शुक्ल यजु० में सर्वत्र पदान्त में भी अनुस्वार को नियमतः पर सवर्ण ही होता है (द्वित्वादि

१. वैदिक-पदानुक्रम-कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२२॥

२. कैलेण्ड ने काण्व शतपथ की भूमिका में ꣳ चिह्न को अनुनासिक का चिह्न कहा है।

रहित मुद्रित योरोपीय तथा उनके आधार पर छपे भारतीय संस्करणों में जो अनुस्वार पाठ मिला है वह सम्प्रदाय विरुद्ध है)। केवल र श स ह के परे इनके सवर्ण सानुनासिकवर्ण के अभाव के कारण परसवर्ण नहीं होता। इसलिए शुक्लयजुः में प्रयुक्त ँ ॐ चिह्न अनुस्वार के ही हैं। उच्चारण भेद से दो चिह्न कल्पित किए गये हैं।

विरामात् पूर्वोऽव्यवहित एकव्यवहितश्च द्वाभ्यां त्रिभिर्वा बिन्दुभिः, विरामाच्चेदुत्तर उदात्तः स्यात् ॥८१॥

विराम से अव्यवहित पूर्ववर्ती अथवा एक वर्ण से व्यवहित उदात्त दो अथवा तीन[1] बिन्दुओं से निर्दिष्ट किया जाता है, यदि विराम से उत्तरवर्ती वर्ण उदात्त हो। यथा—

अव्यवहित—द्वित एकतः ॥१॥ [वैबर—...त]

त इन्द्रेण...... ॥ ॥२॥ [१।२।३।१, २]

मानुऽषेथैवं देवत्रा[2] ॥७॥ [वैबर—...त्रा]

स युनक्ति... ॥८॥ [५।१।४।७, ८]

यहाँ प्रथम उदाहरण में विराम से पूर्व 'त' उदात्त है, उससे आगे 'त–इ' दो उदात्त हैं। इनमें प्रथम पर सूत्र ७८ के अनुसार चिह्न नहीं किया गया। द्वितीय उदाहरण में विराम से पूर्व 'त्रा' उदात्त है, उससे परे 'स' उदात्त है।

१. वैदिक यन्त्रालय अजमेर के संस्करण में दो बिन्दुओं से निर्देश किया जाता है, और वैबर के संस्करण में तीन बिन्दुओं से।

२. इस पर श्री पं० विश्वबन्धु जी ने टिप्पण लिखा है—Web. तावदेषा स्थितिर्द्वाभ्यामधोबिन्दुत्रिकाभ्यां संकेत्यते।" अर्थात् वैबर ने इसका संकेत वर्ण के नीचे बिन्दुओं के दो त्रिकों ::: से किया है। वै० पदा० कोष, संहिता भाग, खण्ड १ भूमिका, पृष्ठ १२२॥

यह टिप्पण स्थिति के विपरीत है। वैबर के संस्करण में भी 'त्रा' के नीचे केवल तीन बिन्दु ही हैं, दो त्रिक ::: नहीं। अतः या तो लेख प्रमादवश लिखा गया है अथवा अस्थान में यह टिप्पण संकेतित हो गया है। यदि पृष्ठ १२२ के नियम ८ और ९ पर दिया जाय तो युक्त है।

व्यवहित—पृदाकुरिति ॥३॥ अथ···॥४॥ [४।४।५।३, ४]

यदपक्षीयते ॥१५॥ अथ यत्···॥१६॥[२।४।४।१५,१६]

वेबर-···रिति ॥···यते ॥

यहाँ विराम से पूर्व 'ति' अनुदात्त और उससे पूर्व 'रि' उदात्त है। दूसरे विराम से पूर्ववर्ती 'ते' अनुदात्त और 'य' उदात्त है। दोनों में विराम से आगे 'अ' उदात्त है।

विशेष—वैदिक यन्त्रालय के संस्करण में जहाँ दो विन्दुओं का और वैवर के संस्करण में तीन बिन्दुओं का निर्देश मिलता है वहाँ अच्युत ग्रन्थमाला काशी के संस्करण में कोई चिन्ह नहीं है।

सूत्र में **विरामाच्चेदुत्तर उदात्तः** इसलिये ग्रहण किया है कि जहाँ विराम से आगे अनुदात्त वर्ण होता है, वहाँ विराम से पूर्ववर्ती अव्यवहित अथवा व्यवहित उदात्त का निर्देश नीचे सीधी रेखा से ही किया जाता है।

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने शतपथ-स्वर-संकेत-प्रकरण के संख्या ७ के नियम में लिखा है—

कण्डिकाब्राह्मणान्यतरावसानीय उदात्तः कण्डिकाब्राह्मणान्यतराद्य उदात्ते परतस्त्रिभिरधोबिन्दुभिः संकेत्यते।[3]

अर्थात्—कण्डिका तथा ब्राह्मण के अवसान (विराम) में वर्तमान उदात्त, अन्य कण्डिका वा ब्राह्मण के आदि उदात्त के परे रहने पर नीचे तीन ब्रिन्दुओं से अङ्कित होता है।

नियम में न्यूनता—श्री पं० जी के उक्त नियम में दो न्यूनताएँ हैं—

१—केवल अवसान में वर्तमान उदात्त ही नहीं, अपितु अवसान में वर्तमान वर्ण से पूर्व विद्यमान उदात्त भी दो वा तीन बिन्दुओं से अङ्कित किया जाता है। देखिए—सूत्र ८१ के हमारे द्वारा उद्धृत 'व्यवहित' के उदाहरण।

२—श्री पण्डित जी ने केवल कण्डिका अथवा ब्राह्मण के अवसान में वर्तमान उदात्त का ही तीन ब्रिन्दुओं से निर्देश करना लिखा है, परन्तु कण्डिका के मध्य में बर्तमान अवसान (विराम) से पूर्ववर्ती (व्यवहित अथवा

३. वै० पदा० कोष, संहिताभाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२२॥

अव्यवहित) उदात्त का भी दो वा तीन बिन्दुओं से निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

यदग्निः[1] । तस्मात् ।६।२।१।१२ ॥

वा एताः[1] । षडाहुतयः ।४।४।५।१८ ॥

यहाँ द्वितीय उदाहरण में विराम से उत्तर 'ष-डा' दोनों उदात्त हैं (सूत्र ७९)। हमने इसी सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर सूत्र ८१ में केवल **विरामात् पूर्वः** इतना सामान्य वचन ही पढ़ा है। वह विराम चाहे कण्डिका के अन्त में हो अथवा मध्य में, दोनों का ही सामान्य रूप से ग्रहण हो जाता है।

सूत्र में हमने **एकव्यवहितः** में एक पद इसलिए पढ़ा है कि जहां एक से अधिक का व्यवधान हो वहाँ व्यवहित पूर्व उदात्त का संकेत दो अथवा तीन बिन्दुओं से नहीं होता। यथा—

व्रतमुपैष्यन् । अन्तरेणा......।१।१।१।१ ॥

यहाँ **मुपैष्य** तीन वर्णों का व्यवधान होने से उदात्त तु का निर्देश केवल सीधी रेखा से किया है।

इस विवेचना से सिद्ध है कि हमारा सूत्र ८१ का नियम पं० विश्वबन्धु के नियम की अपेक्षा दोष रहित है।

आलोचनीय—(१) शतपथ ९।२।३।२५ के अजमेर संस्करण में पाठ है।

तद्विश्वैर्देवैः सह यजमान ७ं...।

यहाँ 'वै' के नीचे दो बिन्दुओं का निर्देश है। न यहाँ विराम आगे है और न उदात्त। 'सह' अन्तोदात्त होता है। अतः यहाँ अनुदात्त 'स' परे है। अतः यहाँ मुद्रण दोष है। वेङ्कटेश्वर, वैबर तथा अच्युत ग्रन्थमाला के संस्करणों में सर्वत्र वै ऐसा पाठ ही है।

(२) शतपथ (अजमेर सं०) के कतिपय पाठ हैं—

---

१. वैबर के संस्करण में यहाँ तीन बिन्दु हैं। अच्युत ग्रन्थमाला के संस्करण में कोई चिह्न नहीं है।

पुमा ᳪ समुपशेते ॥२०॥ ता नान्तरेण ॥२१॥
[१।१।१।२०,२१]

तस्माद् वृत्रो नाम ॥४॥ तमिन्द्रो ॥५॥
[१।१।३।४,५]

भवितोरिति ॥९॥ तदु वै यजेतैव[1] ॥१०॥
[५।१।१।९,१०]

लोकेषु दिशः ॥१३॥ ब्राह्मेनाग्नि ॥१४॥
[७।३।१।१३,१४]

इत्यादि अनेक स्थानों में उदात्त का निर्देश दो बिन्दुओं से न करके सीधी रेखा से उपलब्ध होता है। अतः हमारा नियम भी अभी सामान्य अवस्था में ही है। इस विषय के सूक्ष्मतर नियम ज्ञातव्य हैं।

जात्यादिपरे च ॥८२॥

विराम से जात्य, अभिनिहित स्वरित परे रहने पर भी विराम से अव्यवहित अथवा व्यवहित पूर्ववर्ती उदात्त भी दो वा तीन बिन्दुओं से अङ्कित किया जाता है। यथा—

जात्य वा क्षैप्र[2]—०मित्येतत् ॥२६॥ स्वर्यन्तो ॥२७॥
[९।२।३।२६,२७]

अभिनिहित—प्रतिप्रस्थाता ॥ १३ ॥ सोऽध्वर्युः ॥१४॥
[४।२।१।१३,१४]

वैबर—० मित्येतत्। प्रतिप्रस्थाताः।

अच्युतग्रन्थ०—० मित्येतत्। प्रतिप्रस्थाता।

---

१. वैबर 'व', अच्युत ग्रन्थमाला 'व' पाठ है।

२. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ १३७ की टि० २।

वैबर जात्यादि पूर्ववर्ती उदात्त के नीचे सर्वत्र दो त्रिक ::: बिन्दुओं का निर्देश करता है।

अनुदात्तोऽपि ॥८३॥

विराम से आगे जात्य अथवा अभिनिहित स्वरित परे रहने पर विराम से पूर्ववर्ती अनुदात्त भी दो या तीन बिन्दुओं से अङ्कित किया जाता है। यथा—

न मामन्य इति ॥ तेऽ विदुः।....॥८॥ [३।४।३।७,८]

वैबर—ति ॥ अच्युत०—ति।

यहाँ विराम से पूर्व 'ति' अनुदात्त है, उससे परे 'ते' अभिनिहित स्वरित है।

आवसानिकस्योदात्तस्योत्तरेणानुदात्तेन संहितायां स्वरितत्वसम्भवे तत्पूर्वम् ॥ ८४ ॥

विराम से पूर्ववर्ती उदात्त के साथ विराम से उत्तरवर्ती अनुदात्त के साथ [विराम हटाकर] संहिता = सन्धि करने पर यदि स्वरित स्वर की सम्भावना हो तो उस विराम से पूर्ववर्ती उदात्त से पूर्व जो अनुदात्त है, उसका भी दो अथवा तीन बिन्दुओं से निर्देश किया जाता है। यथा—

समवमृशन्त्येव। एतद्ध...३।४।२।१३॥

वैबर—न्त्ये। अच्युत०—न्त्ये। (चिह्नरहित)

यहाँ 'एव' का 'व' उदात्त है, उससे परे विराम से उत्तर 'ए' अनुदात्त है। उदात्त 'व' और अनुदात्त 'ए' के मध्य के विराम को हटा देने पर दोनों की सन्धि 'वै' स्वरित होगी [द्र० अष्टा० ८।२।६]। अतः यहाँ 'व' से पूर्ववर्ती अनुदात्त 'न्त्ये' के नीचे बिन्दु रखे हैं।

बिन्दुसंकेतितात् परौ ॐ ॱ संकेतावधोरेखयैव ॥८५॥

बिन्दुओं से संकेतित वर्ण से उत्तर ॐ अथवा ॱ नीचे सीधी रेखा से ही अङ्कित किए जाते हैं। यथा—

पौष्ण ॐ ॥१९॥ सैषा˙˙˙॥२०॥ [३।१।४।१९, २०]

यहाँ उदात्त 'ॐ' विराम से उत्तरवर्ती उदात्त 'सै' के परे सूत्र ८० से दो या तीन बिन्दुओं से निर्दिष्ट होता है। उससे परे ष वा ष के नीचे सीधी रेखा लगाई जाती है।

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने इस नियम का उल्लेख नहीं किया।

जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अनङ्किताः तत्पूर्वेऽनुदात्ता अधोरेखया ॥८६॥

जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरितों पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता, उनसे पूर्ववर्ती अनुदात्त के नीचे सीधी रेखा का चिह्न किया जाता है। यथा—

जात्य— **धान्यमसि ।१।२।१।१८ भूर्भुवः स्वः ।२।४।१।१॥**

क्षैप्र— **उर्वन्तरिक्षम् ।१।१।२।४॥**

प्रश्लेष— **दिवीव चक्षुराततम् ।३।७।१।१८॥**

अभिनिहित— **प्रसवेऽश्विनोः ।१।१।२।१७॥**

वेदोऽसि येन ।१।९।२।२३॥

विशिष्ट निर्देश—वेबर अपने संस्करण में जात्यादि पूर्ववर्त्ती अनुदात्तों का निर्देश नीचे दो = सम रेखा से करता है। यथा—

धान्यमसि । भूर्भुवः स्वः । उर्वन्त० । दिवीव ।

प्रसवेऽश्विनोः । वेदोऽसि ॥

विशेष—इस सूत्र से दो कार्यों का विधान किया है। प्रथम—जात्यादि स्वरित के लिए संकेत के अभाव का। दूसरा—जात्यादि से पूर्ववर्ती अनुदात्त के नीचे सीधी रेखा के निर्देश का। इसलिए जहाँ जात्यादि स्वरित से पूर्व उदात्त होता है, वहाँ केवल जात्यादि स्वरित के अङ्कनाभाव का ही विधान समझना चाहिए।

वैबर की भूल—वैबर जात्यादि स्वरित से पूर्व वर्ण के नीचे प्रयुक्त रेखा को अग्रिम स्वरित का द्योतक चिह्न मानता है। अतः उदात्त और स्वरित पूर्व वर्ण के नीचे प्रयुक्त रेखा के भ्रम की निवृत्ति के लिए वह अपने संस्करण में जात्यादि स्वरित से पूर्व वर्ण के नीचे = दो सीधी रेखा प्रयुक्त करता है। जैसे उसने जात्यादि स्वरित पूर्ववर्त्ती उदात्त का उदात्तपरक उदात्त से भेद दर्शाने के लिए दो त्रिक बिन्दुओं ::: से निर्देश किया है। वस्तुतः जात्यादि स्वरित पूर्ववर्त्ती अधोरेखा अग्रिम स्वरित की द्योतक नहीं है, अपितु अनुदात्त की ही द्योतक है।

प्रश्लिष्ट स्वरित के पर रहने पर पूर्ववर्ती प्रश्लिष्ट स्वरित भी सीधी रेखा से अङ्कित किया जाता है। यथा—

यविष्ठ्येति सैषैतमेव । १।४।१।२६ ॥

यहाँ 'ष्ठ्य-इ' दोनों उदात्तों की सन्धि 'ष्ठ्ये' उदात्त है। अतः उसके नीचे रेखा लगी है। उसके आगे 'ति' अनुदात्त है। उससे आगे उदात्त 'सा' और अनुदात्त 'ए' की प्रश्लिष्ट सन्धि 'सै' स्वरित है, उसके परे रहने पर पूर्वसूत्र ८६ से अनुदात्त 'ति' के नीचे रेखा लगाई जाती है। प्रश्लिष्ट स्वरित 'सै' से आगे उदात्त 'षा' और अनुदात्त 'ए' की प्रश्लिष्ट सन्धि 'षै' स्वरित है, उसके परे रहने पर पूर्व प्रश्लिष्ट स्वरित 'सै' के नीचे इस सूत्र (८६) से रेखा लगाने का निर्देश किया है। उत्तरवर्ती प्रश्लिष्ट स्वरित 'षै' सूत्र ८५ के नियमानुसार चिह्नरहित रहता है।

वैबर ने यहाँ 'ति' और 'सै' के नीचे दो सीधी = रेखाएँ अंकित की हैं।

मन्त्रनिर्देशे पूर्वपादान्तोदात्तो विरामव्यवहितेऽप्युत्तर-पदस्थे स्वरे ॥ ८८ ॥

अनुवृत्ति—पूर्व सूत्र से 'अनङ्कित' पद की अनुवृत्ति आती है। अगले दो सूत्रों में भी उसका संबंध जानना चाहिए।

अर्थात्—शतपथ ब्राह्मण में मन्त्र का निर्देश (= पाठ) हो तो पूर्वपाद के अन्त्य उदात्त को अङ्कित नहीं किया जाता। चाहे विराम से व्यवहित भी उत्तरपद का कोई स्वर परे क्यों न हो।

सूत्र में **'स्वरे'** सामान्य निर्देश है। उदात्त के परे पूर्व उदात्त अङ्कित नहीं होता यह तो पूर्व कह ही चुके, इसलिए यहाँ केवल अनुदात्त और स्वरित उत्तरपादादि के उदाहरण देते हैं। यथा—

० अवयाः । महः० । २।५।२।२८॥

० प्रयुत्यध्वरे । वृणीध्वं० । १।४।१।३९॥

० मतिं कविम् । ऊर्ध्वाय० । ३।३।२।१२॥

० दशस्या । व्यस्कन्ना रोदसी० । ३।५।३।१४॥

इनमें प्रथम दो उदाहरणों में क्रमशः **या: रे** पादान्त उदात्त हैं। **म वृ** उत्तरपादादि अनुदात्त हैं। तृतीय उदाहरण में **वि** पादान्त उदात्त है और **ऊ** पादादि उत्तरपादादि अनुदात्त। चतुर्थ उदाहरण में **स्या** पादान्त उदात्त है और **व्य** उत्तरपादादि स्वरित।

विशेष—(१) वैबर ने ऐसे स्थलों पर भी पूर्व नियमों के अनुसार उदात्तस्वर के विशिष्ट चिह्नों का प्रयोग किया है। यथा अनुदात्त पादादि के परे पूर्व **या रे वि** के नीचे सूत्र ८३ के अनुसार ··· तीन बिन्दुओं से निर्देश किया है और क्षेप्र स्वरित **व्य** परे रहने पर पूर्व पादान्त **स्या** के नीचे ::: दो त्रिक बिन्दुओं का (द्र० सूत्र ८२ की व्याख्या)।

(२) अजमेर का संस्करण संभवतः वैबर संस्करण के आधार पर छपा है। अतः उसमें भी अपनी शैली के अनुसार इस प्रकार के स्थलों में — सीधी रेखा का निर्देश किया है।

ब्राह्मणान्त्यं उदात्तश्च ॥ ८९ ॥

ब्राह्मण के अन्त में वर्तमान उदात्त भी किसी चिह्न से अङ्कित नहीं होता। यथा—

शतपथ—४।५।१।१६ ॥ ४।१।१।२८ ॥ आदि

विशेष—वैबर ने ब्राह्मण के अन्त्य उदात्त पर भी सर्वत्र उदात्त स्वर का संकेत किया है।

इन दोनों (८८, ८९) सूत्रों से निर्दिष्ट विषयों में वैबर ने अपनी पद्धति के अनुसार जो स्वर-चिह्न दिए हैं वे संभवतः उसकी स्वकल्पित प्रणाली के अनुसार ही हैं।

शिष्टाः स्वरितानुदात्तैकश्रुतयश्च ॥ ९० ॥

पूर्वनिर्दिष्ट स्वरों से भिन्न अनुदात्तभूमिक स्वरित, अनुदात्त और एकश्रुति स्वर चिह्नरहित प्रयुक्त होते हैं।

माध्यन्दिनवत् प्रायेण काण्वे ॥ ९१ ॥

माध्यन्दिन शतपथ के स्वराङ्कन के समान ही काण्व शतपथ में भी प्रायः स्वराङ्कन है।

सूत्र में प्रायः पद का निर्देश इसलिए किया है कि कण्डिका के अन्त में वर्तमान उदात्त उत्तरकण्डिका के उदात्त वर्ण के परे रहने पर स्वरचिह्न से अङ्कित नहीं किया जाता। यथा—

एवैन्द्रो वाक् ॥ स जुहोति । काण्व १।५।२।१७, १८॥

स्वाहेति ॥ अथ । काण्व १।५।२।१८, १९॥

माध्यन्दिन शतपथ में वेबर के संस्करण में ⋯तीन बिन्दुओं और वैदिकयन्त्रालय के संस्करण में ‥दो बिन्दुओं का निर्देश मिलता है। अच्युत-ग्रन्थमाला काशी के संस्करण में कोई चिह्न नहीं है।

तैत्तिरीयसंहितावत्तद्ब्राह्मणे ॥ ९२ ॥

तैत्तिरीय संहिता के समान ही उसके ब्राह्मण का स्वराङ्कन प्रकार है।

शतपथवत्ताण्डिभाल्लविबह्वृचां ब्राह्मणस्वर आसीत् ॥ ९३ ॥

पुराकाल में ताण्ड्य, भाल्लवि और बाह्वृच (ऋग्वेद के) ब्राह्मण में शतपथ के समान स्वर था।

इसका संकेत अनेक ग्रन्थों में मिलता है। यथा—

(१) भाषिक सूत्र कण्डिका ३ में लिखा है—

शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः ॥ १५ ॥

(२) नारदीय शिक्षा १।१३ में कहा है—

द्वितीयप्रथमावेतौ ताण्डिभाल्लविनां स्वरौ ।
तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम् ॥

(३) शबरस्वामी मीमांसाभाष्य १२।३७ में भाषिक स्वर का लक्षण दर्शाता हुआ लिखता है—

छान्दोगा बाह्वृचाश्चैव तथा वाजसनेयिनः ।
उच्चनीचस्वरं प्राहुः स वै भाषिक उच्यते ॥

इन उद्धरणों में उल्लिखित ताण्ड्य और बाह्वृच (ऐतरेय अथवा कौषीतकि अथवा शांखायन) ब्राह्मणों पर सम्प्रति स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते। पुराकाल में ये सस्वर थे, यह पूर्व प्रमाणों से स्पष्ट है। भाल्लवि ब्राह्मण चिरकाल से उत्सन्न हो चुका है।

बृहदारण्यकतैत्तिरीयारण्यकयोः स्वब्राह्मणवत् ॥ ९४ ॥

माध्यन्दिन और काण्व बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय आरण्यक का स्वराङ्कन-प्रकार उनके अपने ब्राह्मणों के समान ही है।

मैत्रायणीयारण्यक ऋग्वत् ॥ ९५ ॥

मैत्रायणीय आरण्यक में स्वराङ्कन प्रकार ऋग्वेद के समान है।

सकम्पोऽधोरेखया पुरस्तात् त्र्यङ्केन च ॥ ९६ ॥

कम्पयुक्त स्वरित नीचे सीधी रेखा से निर्दिष्ट किया जाता है और उससे पूर्व ३ का अंक लिखा जाता है। यथा—

भूर्भुवः ३स्वरित्युपासीतानेन ॥६।६॥

ब्रह्मचारिणो ३योऽय ँ विष्णुः ।५।२ ॥

विशेष—मैत्रायणीय आरण्यक का जो सस्वर पाठ श्री पण्डित सातवलेकर जी ने छापा है, वह एक हस्तलेख के आधार पर छापा है। इसलिए इस पाठ में अनेक स्थानों पर स्वरचिह्न व्यस्त हो रहे हैं। यथा—

स्वधर्मोऽभिहि३तो यो वेदेषु ...।४।३॥

यहाँ अभिहितो का ओकार उदात्त होना चाहिये परन्तु यहाँ उसे अभिनिहित स्वरित मानकर अनुदात्त और उससे पूर्व ३ का अंक दिया है। अभिनिहित स्वरित होने पर अभिहितोऽयं पाठ होना चाहिये।

भूर्भुवः स्वरो३मित्यष्टपादँ ...।६।३५॥

यहाँ पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। ओम् उदात्त है। इति आद्युदात्त होता है अतः इसका शुद्ध पाठ इस प्रकार होगा—

भूर्भुवः ३स्वरोमित्यष्टपाद ँ...।

नमोऽग्नये पृथिवी ३क्षिते ।६।३५॥

यहाँ पृथिवी३क्षिते का स्वर और ३ का अङ्कन चिन्त्य है।

काठकब्राह्मणे स्वसंहितावत् ॥ ९७ ॥

काठक ब्राह्मण का जो उपलब्ध अंश डा० सूर्यकान्तजी ने लाहौर में छपवाया था उसमें कहीं-कहीं स्वर चिह्न उपलब्ध होते हैं। वे प्रायः काठक संहिता के समान हैं।

भद्रोऽहिर्बुध्न्यो भुवनस्य रक्षिता ॥६०।७॥[1]

अन्तर्हिता ह्यमुष्मादादित्यात् पितरः ॥ ५९।१ ॥

देवेभ्यश्च मनुष्येभ्यश्च पितरः ॥ ५९।१ ॥

सा वा एषा सावित्र्येषां लोकानां प्रतिपत ॥ ५१।३ ॥

वीर्यं वै कर्म वीर्येण वा अन्नमद्यते ॥ ५०।२ ॥

तेऽब्रुवन् ॥ ५७।१ ॥

एवमिव हि तेऽन्तर्हिता भवन्ति ॥ ५९।३॥

उभये हीज्यन्ते ॥ ५९।२ ॥

प्राणो व्यानोऽपानः ॥ ५२।३ ॥

सोऽब्रवीत् ॥ ५५।१ ॥

हस्ती वै भूत्वा स्वर्भानुरमुमादित्यं छाययाऽभ्य-
ऽ ऽ

भवत् ॥ ५६।१ ॥

तस्मादुभौ यष्टव्यौ ॥ ५६।७ ॥
ऽ

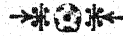
इत्यादि।

---

१. काठक ब्राह्मण के पतों में पहली संख्या पृष्ठ की है और दूसरी पंक्ति की।

शिष्टं वाङ्मयमनङ्कितम् ॥ ९८ ॥

शेष वाङ्मय स्वर-चिह्नों से रहित है ॥



इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञानां वैयाकरणमूर्धन्यानां पण्डित-
शङ्करदेवपादानामन्तेवासिना लब्धस्वरशास्त्रवैदु-
ष्येण युधिष्ठिरमीमांसकेन मीमांसिता
वैदिक-स्वर-मीमांसा
सम्पूर्णा ॥

शुभं भवतु

परिशिष्ट--१

पद-पाठ के नियम

संस्कृत की एम० ए० तथा शास्त्री आदि परीक्षाओं में जहाँ वेद-विषय का सन्निवेश होता है, वहाँ मन्त्र के संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तन करने का एक प्रश्न प्रायः रहता है। कभी-कभी पदपाठ को संहितापाठ में परिवर्तन दिखाने का प्रश्न भी आ जाता है। विद्यार्थी इस प्रश्न से प्रायः घबराते हैं, और इस प्रश्न को छोड़ देते हैं। इसलिए उनके लाभार्थ इस विषय का प्रतिपादन किया जाता है। हम यथासम्भव उन सभी नियमों का संग्रह करेंगे,[1] जिनके अनुशीलन से संहिता-पाठ को पद-पाठ में यथार्थ रूप से परिवर्तन किया जा सके।

मन्त्र के संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तन करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१—उदात्त आदि स्वरों के साधारण नियम।
२—पदपाठ में व्यवहार्य कतिपय विशिष्ट संज्ञाएँ।
३—संहितापाठ से पदपाठ करने के साधारण नियम।
४—पदस्वर-संबन्धी नियम।
५—प्रगृह्य-संबन्धी नियम।
६—रिफित-संबन्धी नियम।
७—अवग्रह-संबन्धी नियम।

१—उदात्त आदि स्वरों के साधारण नियम

१—संहिता अथवा पदपाठ में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति[2]

---

१. इस प्रकरण में ऋग्वेद के पदपाठ-सम्बन्धी नियमों का ही उल्लेख होगा॥

२. ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता और शौनक अथर्व संहिता में उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नहीं होता। वह प्रायः अनुदात्त से परे अथवा स्वरित से पूर्व चिह्नरहित होता है। अनुदात्त के नीचे आड़ी रेखा लगाई जाती है। स्वरित पर खड़ी रेखा लगाई जाती है। स्वरित से परे चिह्नरहित एकश्रुति स्वर वाले होते हैं॥

ये चार स्वर प्रयुक्त होते हैं। इनके विषय में अ० ३ में विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

२—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति स्वर अ इ उ आदि अचों (=स्वरों) के धर्म हैं, व्यञ्जनों के नहीं। इसलिए उदात्त आदि स्वरों के चिह्न शुद्ध अच् (=स्वर) अथवा व्यञ्जनसहित अच् पर ही लगाये जाते हैं, अच्-रहित केवल व्यञ्जन पर नहीं। यथा—

अग्निमीळे पुरोहितम्। ऋ० १।१।१॥

यहाँ अच्‌रहित 'म्' स्वररहित है।

३—पद[1] में एक ही अक्षर उदात्त होता है। इसका कोई चिह्न नहीं लगाया जाता।

४—'तवै' प्रत्ययान्त (केवल), तथा उसके समास में और वनस्पति आदि कतिपय समस्त पदों में एक से अधिक भी उदात्त देखे जाते हैं। यथा—

एतवै। ऋ० ४।५८।९॥ कर्तवै। मै० १।५।१३॥
अन्वेतवै। ऋ० १।२४।८॥ वनस्पतिः। ऋ० १।९०।८।
बृहस्पतिः। ऋ० १।६२।३॥ इन्द्राबृहस्पती। ऋ० ४।४९।५॥

५—उदात्त के अतिरिक्त समस्त अच् अनुदात्त हो जाते हैं।[2] यथा—

अनुकामकृत्। ऋ० ९।११।७॥

अनुयच्छमानाः। ऋ० १।१०९।३॥

६—उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है।[3] यथा—

यज्ञस्य। ऋ० १।१।१॥ अनुयच्छमानाः। ऋ० १।१०९।३॥

७—स्वरित से परे जितने अनुदात्त होते हैं, उन्हें एकश्रुति हो जाती है।[4] यथा—

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्। अष्टा० १।४।१४ विभक्त्यन्तं पदम्। आपिशलि, नाट्यशास्त्र १४।३९, न्यायभाष्य २।१।५७॥

२. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। अष्टा० ६।१।१५८॥

३. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। अष्टा० ८।४।६६॥

४. स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्। अष्टा० १।२।३९॥

अनिर्विशमानाः । ऋ० ७।४९।१॥

अनुयच्छमानाः । ऋ० १।१०९।३॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'अ' उदात्त है, शेष 'नि-वि-श-मा-नाः' पांचों अनुदात्त होते हैं। तत्पश्चात् उदात्त 'अ' से उत्तरवर्ती अनुदात्त 'नि' स्वरित होता है। तदनन्तर स्वरित 'नि' से उत्तरवर्ती 'वि-श-मा-नाः' चारों अनुदात्तों को एकश्रुति स्वर हो जाता है। इसी प्रकार 'अनुयच्छमानाः' में भी समझें।

८—कभी कभी पद में उदात्त के स्थान में स्वरित भी मुख्य स्वर बन जाता है। यथा—

मनुष्यः । ऋ० १।५९।४॥ कुन्या । ऋ० १।१६१।५॥

यह स्वरित उदात्त की अपेक्षा (नियम ६) नहीं करता। अतः इसे जात्य स्वरित कहते हैं।

९—कतिपय पदों में केवल अनुदात्त स्वर ही रहता है, उदात्त अथवा जात्य स्वरित नहीं होता। यथा—

पद से परे संबोधन—पृथिव्या इन्द्र[1] सदनेषु ।

ऋ० १।५६।६॥

पद से परे तिङन्त—इन्द्रमभि प्र गायत[2] । ऋ० १।५।१॥

त्वम्[3] । ऋ० १।११३।६॥ समस्मिन्[3] । ऋ० ८।२१।८॥

१०—संहिता में उदात्त से परे अनुदात्त हो और उस अनुदात्त से परे उदात्त अथवा जात्य स्वरित हो तो उस उदात्त से परे विद्यमान अनुदात्त को स्वरित नहीं होता, अनुदात्त ही बना रहता है। यथा—

---

१. आमन्त्रितस्य च । अष्टा० ८।१।१९॥

२. तिङ्ङतिङः । अष्टा० ८।१।२८॥

३. अस्यास्मैनःत्वसमसिमेत्येतान्यनुच्चानि ॥ फिट् सूत्र ४।१० (जर्मन संस्करण)। इस सूत्र में 'सिम' को अनुदात्त कहा है, अगले सिमस्याथर्वणेऽन्त उदात्तः (४।११) मे अथर्ववेद में अन्तोदात्त माना है। परन्तु ऋग्वेद में भी अन्तोदात्त ही देखा जाता है।

देवम्-ऋत्विजम् = देवमृत्विजम् ।१।१।१॥

यहाँ उदात्त 'व' से उत्तर अनुदात्त 'मृ' को स्वरित नहीं हुआ, क्योंकि उससे उत्तर 'त्वि' उदात्त है।

११—संहिता में स्वरित से परे जिस अनुदात्त के आगे उदात्त अथवा जात्य स्वरित होता है, उस स्वरित से परे विद्यमान अनुदात्त को एकश्रुति स्वर नहीं होता, अनुदात्त ही रहता है। यथा—

यज्ञस्य–देवम् = यज्ञस्य देवम् । ऋ० १।१।१॥

होतारम्–रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम् । ऋ० १।१।१॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'स्य' स्वरित से परे अनुदात्त 'दे' है, उससे परे 'व' उदात्त है। इसलिए 'दे' को एकश्रुति स्वर नहीं हुआ, अनुदात्त ही रहा। इसी प्रकार द्वितीय पाठ में 'ता' स्वरित है, उससे परे 'रं-र-त्न' तीन अनुदात्त हैं, अन्तिम अनुदात्त 'त्न' से परे 'धा' उदात्त है। अतः पहले दो अनुदात्त 'रं–र' को एकश्रुति हो गई, परन्तु 'त्न' को एकश्रुति नहीं हुई।

२-पद-पाठ में व्यवहार्य संज्ञाएँ

पद-पाठ में चार संज्ञाएँ अधिक व्यवहार्य हैं—पद, अवग्रह, प्रगृह्य और रिफित।

१–**पद-संख्या**—पद संख्या पाँच प्रकार की होती है। यथा—

(क) जिस शब्द के अन्त में नाम की **सु-औ-जस्** आदि तथा आख्यात की **तिप्-तस्-झि** अथवा **त-आताम्-झ** आदि विभक्तियाँ होती हैं, उसे पद कहते हैं[1]।

(ख) समास में पूर्वपद की विभक्तियों का लोप हो जाने पर भी समस्त शब्दों में पूर्व शब्द की पदसंज्ञा होती है।[2]

(ग) नाम की **भ्याम्-भिस्-भ्यस्-सुप्** विभक्तियों के परे रहने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है[3]।

---

१. सुप्तिङन्तं पदम् । अष्टा० १।४।१४ ॥

२. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (अष्टा० १।१।६२) के नियम से।

३. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने । अष्टा० १।४।१७॥

(घ) यकारादि तथा अजादि प्रत्ययों को छोड़कर **त्व-ता-तरप्-तमप्-वत् मतुप् (वतुप्)** आदि तद्धित प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है[१]। (मतुप् अथवा मतुप् अर्थ वाले प्रत्यय के परे रहने पर तकारान्त और सकारान्त शब्द की पद संज्ञा नहीं होती[२])।

(ङ) **क्यच्-क्यङ्-क्यष्** प्रत्यय परे रहने पर **नकारान्त** की पदसंज्ञा होती है[३]।

२–अवग्रह-संज्ञा—समास, अथवा भ्याम्, भिस् आदि नाम विभक्तियों, अथवा त्व, ता आदि तद्धित प्रत्ययों अथवा क्यच्, क्यष् आदि प्रत्ययों के परे रहने पर जिस पूर्ववर्ती शब्द की पदसंज्ञा होती है, उस शब्द-भाग को शेष भाग से पृथक् करके दर्शाना अवग्रह कहाता है। वैयाकरणों के मत में इसे अन्तर्वर्त्ती पदसंज्ञा का निर्देश कह सकते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में अवग्रह के लिए 'परिग्रह' संज्ञा का व्यवहार मिलता है।

३–प्रगृह्य-संज्ञा—निम्न पदों की प्रगृह्य संज्ञा होती है—

(क) ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचनान्त पद[४]। यथा—

अग्नी, वायू, कन्ये, पचेते, पचेथे । आदि आदि

(ख) **अमी** पद[५]।

(ग) शे प्रत्ययान्त **युष्मे, अस्मे, त्वे, मे** आदि पद।[६]

(घ) एकस्वररूप निपात।[७] यथा—**अ, इ, उ**[८] आदि।

(ङ) ओकारान्त निपात।[९] यथा—**आहो, उताहो, प्रो, यो,** आदि।

---

१. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने, यचि भम्। अष्टा० १।४।१७,१८॥

२. तसौ मत्वर्थे। अष्टा० १।४।१९॥

३. नः क्ये। अष्टा० १।४।१५॥

४. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्॥ अष्टा० १।१।११॥

५. अदसो मात्॥ अष्टा० १।१।१२॥

६. शे। अष्टा० १।१।१३॥

७. निपात एकाजनाङ्। अष्टा० १।१।१४॥

८. उ के विषय में आगे प्रगृह्य-पद-संबंधी नियमों में विशेष विधान करेंगे॥

९. ओत्। अष्टा० १।१।१५॥

(च) संबुद्धि (संबोधन के एक वचन) में ओकारान्त शब्द इति परे।[1]

(ज) ईकारान्त, ऊकारान्त ऐसे शब्द जिनसे परे सप्तमी का लोप हो गया हो अथवा विभक्ति की उत्पत्ति नहीं हुई हो।[2] यथा—**गौरी, मामकी, तनू।**

४—**रिफित-संज्ञा**—रेफान्त तथा सान्त दोनों प्रकार के पदों के रेफ और स् को खर् (ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स) परे रहने पर अथवा विराम में विसर्ग हो जाते हैं। यथा—**कर्** (लुङ् मध्यमैकवचन अट् का अभाव), **कस्** (किमादेश—प्रथमा के एक वचन में)। **स्वर्** (अव्यय) **स्वस्** (स्व का प्रथमा का एक वचन)। ऐसे स्थानों पर सन्देह होता है कि संहिता में विसर्गान्त पढ़ा हुआ पद रेफान्त है अथवा सान्त ('सु' का)। इस सन्देह को दूर करने के लिए संहिता में जिन विसर्गान्त पदों को इकारादि पदों के परे 'र्' भाव रहता है, उनकी रिफित संज्ञा की है।[3]

३—संहितापाठ से पदपाठ करने के साधारण नियम

मन्त्र के संहिता पाठ को पदपाठ में परिवर्तित करने के लिए पद, पदस्वर, प्रगृह्य, रिफित और अवग्रह संबन्धी नियमों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

पद-सम्बन्धी सामान्य नियम इस प्रकार हैं—

१—प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम '।' का चिह्न लगाना चाहिए। उच्चारण में पूर्वपद और उत्तरपद (दो पदों) के मध्य ह्रस्व वर्ण के काल (एक मात्र काल) के बराबर रुकना चाहिए।[4]

२—संहितापाठ में विद्यमान सम्पूर्ण सन्धियों को तोड़कर विशुद्ध पदरूप में उपस्थित करना चाहिए। यथा—

---

१. संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टा० १।१।१६।।

२. ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। अष्टा० १।१।१९।।

३. विसर्जनीयो रिफितः। कात्या० प्राति० १।१६०।। तथा कात्या-प्राति० ४।१९।। शौनक प्रातिशाख्य में भी विविध शब्दों की 'रेफी' संज्ञा कही है। परन्तु हमने यहाँ उतने अंश का ही उल्लेख किया है जितने का पदपाठ से प्रयोजन है।।

४. किन्हीं के मत में डेढ़, दो मात्रा-काल का व्यवधान माना जाता है। इसकी विवेचना आगे अवग्रहप्रकरण में की जाएगी।।

सूनवेऽग्ने सूपायनो भव = सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः[1] । भव ॥ ऋ० १।१।९॥

३—संहितापाठ में अनुस्वारान्त पद को पदपाठ में 'म्' अन्त से निर्देश करना चाहिए । यथा—

होतारं रत्नधातमम् = होतारम् । रत्नधातमम् । ऋ० १।१।१॥

४—जिस पद में केवल संहिता पाठ में ही दीर्घत्व देखा जाता हो, उसे पदपाठ में ह्रस्व करके दिखलाना चाहिये । यथा—

अथा[2] ते = अथ । ते । ऋ० १।४।३॥

विद्मा[3] हि त्वा = विद्म । हि । त्वा । ऋ० १।१०।१०॥

वरुणो मामहन्ताम्[4] = वरुणः । ममहन्ताम् । ऋ० १।९४।१६॥

०ऋतावृधावृतस्पृशा = ऋतऽवृधौ । ऋतऽस्पृशा ॥ऋ० १।२।८॥

यहाँ क्रमशः 'अथा-विद्मा-मामहन्ताम्-ऋतावृधौ' को 'अथ-विद्म-ममहन्ताम्-ऋतऽवृधौ' कर दिया जाता है ।

४—पदस्वर-संबन्धी नियम

संहितापाठ में वर्तमान स्वरों को पदपाठ में इस प्रकार परिवर्तित करना चाहिए ।

१—संहिता में पूर्वपद के अन्तिम उदात्त के कारण उत्तरपद के आदि के अनुदात्त को स्वरित[6] हुआ हो तो उसे पदपाठ में अनुदात्त ही दर्शाना चाहिए

---

१. एक पद को मध्य से तोड़ने के नियम आगे अवग्रह प्रकरण में लिखे जाएँगे ॥

२. निपातस्य च । अष्टा० ६।३।१३६॥

३. द्व्यचोऽतस्तिङः । अष्टा० ६।३।१३५॥

४. तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । अष्टा० ६।१।७॥

५. अष्टा० सूत्र ६।३।११६ में 'वृधि' के उपसंख्यान से अथवा अष्टा० ६।३।१३७ से ॥

६. पूर्व स्वरनियम ६ से प्राप्त ॥

और उससे अगले एकश्रुति स्वर[1] को भी अनुदात्त ही दिखाना चाहिए। यथा—

अग्निमीळे=अग्निम् । ईळे । ऋ० १।१।१॥

२—संहिता में पूर्वपद के अन्त्य स्वरित के कारण उत्तरपद के आदि में विद्यमान एकश्रुति[2] को अनुदात्त दर्शाना चाहिए। यथा—

अग्ने सूपायनो=अग्ने । सुऽउपायनः । ऋ० १।१।९॥

३—यदि संहितापाठ में उत्तरपद के आदि उदात्त (अथवा जात्य स्वरित) परे रहने के कारण पूर्वपद के अन्त्य अनुदात्त को स्वरित न हुआ[3] हो तो उसे पदपाठ में स्वरित दिखाना चाहिए। यथा—

नमो भरन्तः = नमः । भरन्तः ॥ ऋ० १।१।७॥

४—यदि संहितापाठ में पूर्वपद में स्वरित से उत्तरवर्ती अनुदात्त को उत्तरपद के आदि उदात्त (अथवा जात्य स्वरित) के कारण एकश्रुति न हुई हो,[4] उसे पदपाठ में एकश्रुतिरूप में दर्शाना चाहिए। यथा—

ऋषिभिरीड्यो नूतनैः = ऋषिभिः । ईड्यः । नूतनैः ।
ऋ० १।१।२॥

५—प्रगृह्य-संबन्धी नियम

प्रगृह्य-संज्ञक पदों को पदपाठ में निम्न नियमों के अनुसार दिखाना चाहिए—

१—प्रगृह्य-संज्ञक पद के आगे आद्युदात्त 'इति' शब्द का निर्देश करना चाहिए और उसकी पूर्व के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए। परन्तु स्वर के विषय में संहिता के समान (नियम १०,११ के) कार्य करने चाहिएं। यथा—

अग्नी इति । ऋ० ५।४५।४॥
अजरयू इति । ऋ० ।१।११६।२०॥

---

१. पूर्व स्वरनियम ७ से प्राप्त ॥
२. पूर्व स्वरनियम ७ से प्राप्त ॥
३. पूर्व स्वरनियम १० से प्राप्त ॥
४. पूर्व स्वरनियम ११ से प्राप्त ॥

आसाते इतिं । ऋ० २।४१।५॥

आसाथे[1] इतिं । ऋ० ५।६२।५॥

वायो[1] इतिं । ऋ० १।२।१

२—संहिता में पढ़े गए 'उ' निपात से आगे 'इति' शब्द का प्रयोग करके 'उ' को 'ऊँ' रूप में दर्शाना चाहिए ।[2] यथा—

अन्वेतवा उं=अनुंऽएतवे । ऊँ इतिं[3] ॥ ऋ० १।२४।८॥

इमा उ = इमाः । ऊँ इति । ऋ० १।२६।५॥

३—जिस पद में प्रगृह्य संज्ञा और अवग्रह[4] दोनों कार्य दर्शाने हों; वहाँ पहले प्रगृह्य संज्ञा के पद का निर्देश करके उसके आगे इति का प्रयोग करना चाहिए, तत्पश्चात् उसी पद की पुनः आवृत्ति करके अवग्रह दर्शाना चाहिए । यथा—

चित्रभानो इति चित्रऽभानो । ऋ० १।३।४॥

आयजी इत्याऽयजी । ऋ० १।२८।७॥

प्रगृह्य पद, इति तथा अवगृहीत[5] तीनों पदों के अनुदात्त आदि स्वरों में संहितावत् यथायोग्य परिवर्तन[6] करने चाहिएं । यथा—

चित्रंभानो इति चित्रंऽभानो । ऋ० ५।२६।२॥

६—रिफित-संबन्धी नियम

१—संहितापाठ में रेफान्त पद को जहाँ विसर्ग हो जाता है, वहाँ सन्देह होता है कि वह विसर्गान्त रूप उसी से मिलते जुलते सकारान्त पद का है अथवा

---

१. यहाँ 'थे' और 'यो' को स्वरनियम ७ से एकश्रुति स्वर प्राप्त था, वह इति के साथ संहिता मानने से नियम ११ से अनुदात्त ही रहता है ॥

२. उञः, ऊँ । अष्टा० १।१।१७, १८॥

३. पूना से छपे सायणभाष्य में यहाँ 'ऊम् इति' छपा है, वह अशुद्ध है॥

४. अवग्रह के नियम आगे लिखेंगे ॥

५. अवगृहीत पदों के स्वरों की व्यवस्था आगे लिखी जायेगी ॥

६. पूर्व उक्त स्वर नियम देखें ॥

रेफान्त का। इस सन्देह को मिटाने के लिए पदकार आचार्य जिस विसर्गान्त पद को रेफान्त पद का रूप समझते हैं, उसको पदपाठ में इति शब्द लगाकर निर्देश करते हैं। यथा—

पुक्वमुन्तः पर्यः = पुक्वम्। अुन्तरिति। पर्यः॥ ऋ० १।६२।९॥

दिवो दुहितः प्रत्नुवन्=दिवः। दुहितुरिति प्रत्नुऽवन्। ऋ० ६।६५।६॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में अन्तर् शब्द का और अकारान्त 'अन्त' के प्रथमा के एकवचन में एक जैसा रूप बन सकता है। अतः यहाँ अकारान्त का 'अन्तः' रूप नहीं है, यह दर्शाना अभीष्ट है। द्वितीय उदाहरण में दुहितृ शब्द का संबोधन में 'दुहितर्' होकर 'दुहितः' रूप बना है। दुह् धातु से छान्दस नियम से इट् आगम होकर 'क्त' प्रत्यय का रूप भी 'दुहितः' सम्भव है। अतः मन्त्र में दुहितृ का रूप है, दुहित का नहीं, यह दर्शाया है।

२—रेफान्त 'स्वर्' शब्द के 'स्वः' पद का अकारान्त 'स्व' शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन के 'स्वः' रूप से भेद दर्शाने के लिए पूर्व नियम के अनुसार इति शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु यहाँ इति शब्द के अनन्तर 'स्वः' पद को पुनः पढ़ते हैं। यथा—

स्वः परिभूः = स्व१रिति स्वः। परिऽभूः। ऋ० १।५२।१२॥

यहाँ उदात्त इति के परे '१' संख्या का निर्देश अध्याय दस के सूत्र १४ के अनुसार होता है। संहिता के सामान्य नियम के अनुसार जात्य वा क्षैप्र[1] स्वरित 'स्वः' के परे अनुदात्त 'ति' को स्वरित नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पद संबंधी यह विशेष नियम समझना चाहिए कि स्वरित परे रहने पर भी अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। इसी नियम को बतलाने के लिये ही यहाँ 'इति' से आगे पुनः 'स्वः' की आवृत्ति की है।

३—आख्यात-संज्ञक रेफान्त पद के नामसंज्ञक सान्त पद (विभक्ति के सकार के कारण) के साथ होने वाले सन्देह की निवृत्ति के लिए पूर्व नियम

1. द्र० पृष्ठ १३७, टि० २।

१ से इति पद का प्रयोग करते हैं और उसके आख्यातत्व धर्म को बताने के लिए उसकी पुनरावृत्ति करते हैं।[२] यथा—

एतंशे कः = एतंशे । करिति कः ॥ ऋ० ५।२९।५॥

पातवे वाः = पातवे । वारिति वाः ॥ ऋ० १।११६।२२॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'कः' 'कृ' धातु के लुङ् के मध्यम पुरुष के एकवचन का रूप है, 'अट्' का आगम नहीं होता। इसका 'किम्' के 'कः' रूप से सादृश्य है। दूसरे उदाहरण में 'वाः' 'वार्' रेफान्त का रूप है।

४—कहीं कहीं विसर्गान्त सान्त शब्दों के आख्यात और नाम का भेद दर्शाने के लिए भी आख्यातपद से 'इति' शब्द का निर्देश करके आख्यातपद की पुनरावृत्ति दर्शाते हैं। यथा—

देवं भाः = देवम् । भारिति भाः । ऋ० १।१२८।२॥

यहां 'भाः' 'भा दीप्तौ' के मध्यम पुरुष के एकवचन 'भास्' का रूप है। ऐसा ही 'भाः' पद सान्त 'भास्' शब्द का भी बनता है।

५—एक स्थान पर 'अस्' धातु के आख्यात रूप 'स्तः' का 'स्तृ' के स्तर् = 'स्तः' रूप से भेद दर्शाने के लिए भी इति का प्रयोग और पुनरावृत्ति दर्शाई है। यथा—

स्त इति स्तः । ऋ० ८।३।२॥

७—अवग्रह सम्बन्धी नियम

१—पदच्छेद करते समय जिन पदों में 'भ्याम्-भिस्' अथवा 'त्व-ता-तरप तमप्' आदि प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व भाग की अवग्रह (पद) संज्ञा हो, उसे उत्तर भाग से पृथक् करके दर्शाना चाहिए।

२—अवग्रहसंज्ञक भाग को पृथक् दर्शाने के लिए उसके आगे ऽ चिन्ह

---

२. नामपदों की इति पद से आगे पुनरावृत्ति नहीं होती। देखिए प्रथम नियम ॥

का प्रयोग करना चाहिए। दोनों भागों के उच्चारण में अर्धमात्रा काल[1] का व्यवधान करना चाहिए। यथा—

अप्ऽसु। ऋ० १।२३।१९॥ कण्वऽतमः। ऋ० १।४८।४॥

३—नञ्समास और द्वन्द्वसमास के अतिरिक्त अन्य समासों में पूर्वपद और उत्तरपद के मध्य अवग्रह दर्शाना चाहिए। यथा—

कण्वऽसखा। ऋ० १०।११५।५॥ आऽवर्जते। ऋ० १।३३।१॥

४—अवग्रहसंज्ञक भाग में उत्तरभाग के कारण यदि कोई सन्धि हुई हो तो उस सन्धि को दूर करके शुद्ध रूप में दर्शाना चाहिए। यथा—

अद्भिः = अप्ऽभिः। यजुः ६।१८॥

अब्जाः = अप्ऽजाः। ऋ० ४।४०।५॥

पुरोहितम् = पुरःऽहितम्। ऋ० १।१।१॥

अन्वेतवै = अनुऽएतवै। ऋ० १।२४।८॥

५—अवग्रहसंज्ञक भाग में यदि ऐसा दीर्घत्व हो जो लोक में दिखलाई न पड़ता हो, तो अवग्रह दर्शाते समय उसे ह्रस्व कर दिया जाता है। यथा—

पुरूतमम् = पुरुऽतमम्। ऋ० १।५।२॥

ऋतेन—ऋतावृधौ = ऋतऽवृधौ। ऋ० १।२।८॥

---

१. कात्यायन प्रातिशाख्य में 'अवग्रहो ह्रस्वसमकालः' (५।१) ह्रस्व-समकाल एकमात्राकाल माना है। कैयट ने महाभाष्य १।१।७ की व्याख्या में 'अर्धमात्रा-काल' लिखा है। नागेश ने दोनों मतों के विरोध का समाधान करते हुए लिखा है—दो अव्यवहित वर्णों के उच्चारण में जिस अत्यल्प काल का अन्तर अवश्यंभावी होता है। दो वर्णों के उच्चारण के लिए दो प्रयत्न करने होते हैं, दोनों प्रयत्नों के मध्य में यदि सूक्ष्म काल का व्यवधान न माना जाए तो प्रयत्नों का द्वित्व नहीं बनता। एक प्रयत्न से दो वर्ण बोले नहीं जाते। इसलिए इस अवश्यंभावी काल-व्यवधान का परिमाण अर्धमात्रा-काल माना जाता है। जो इस अवश्यंभावी काल की उपेक्षा करते हैं, वे अवग्रह में 'अर्धमात्रा-काल' का व्यवधान कहते हैं और जो इस अवश्यंभावी काल को अवग्रह के अर्धमात्रा-काल में जोड़ देते हैं, वे एकमात्राकाल का व्यवधान मानते हैं। इस प्रकार दोनों मतों में कोई भेद नहीं॥

६—नकारान्त शब्द से मतुप् (वतुप्), तरप्, तमप् इन प्रत्ययों के परे रहने पर 'न' के आगे अवग्रह का चिह्न लगाना चाहिए। यथा—

अक्षण्वन्तः = अक्षन्ऽवन्तः । ऋ० १०।७१।७॥
अस्थन्वन्तम् = अस्थन्ऽवन्तम् । ऋ० ।१।१६४।४॥
मदिन्तरः = मदिन्ऽतरः । ऋ० ८।२४।१६॥
दस्युहन्तमम् = दस्युहन्ऽतमम् । ऋ० ६।१६।१५॥

विशेष—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार इन प्रयोगों में नान्त शब्द के न का लोप होता है। तदनन्तर अष्टा० ८।२।१६,१७ से प्रत्यय को नुट् का आगम होता है। इसलिए पाणिनीय मतानुसार अवग्रह **'अक्षऽन्वन्तः-दस्युहऽन्तमः'** ऐसा पाता है। पदकार शाकल्य ने अपने व्याकरणानुसार पदपाठ की रचना की है। सम्भव है उनके व्याकरण में 'मतुप्-तरप्-तमप्' प्रत्ययों के परे रहने पर नान्त पद के न का लोप न माना हो।

७—समासयुक्त कृदन्त, हलन्त अथवा ह्रस्वान्त शब्द से परे 'तरप्-तमप्' प्रत्यय हुए हों तो वहाँ कृदन्त भाग के आगे अवग्रह का चिह्न किया जाता है। यथा—

दस्युहन्तमः = दस्युहन्ऽतमः । ऋ० ६।१६।१५॥
देवव्यचस्तमः = देवव्यचःऽतमः । ऋ० ५।२२।२॥
देववाततमः = देववातऽतमः । ऋ० ६।२९।४॥
चित्रश्रवस्तमः = चित्रश्रवःऽतमः । ऋ० ३।५९।६॥

८—समासयुक्त कृदन्त भाग यदि दीर्घान्त हो और उससे परे 'तरप्-तमप्' प्रत्यय हुए हों तो वहाँ समासयुक्त कृदन्त भाग में पूर्वपद के उत्तर अवग्रह का चिह्न किया जाएगा। यथा—

रत्नधातमम् = रत्नऽधातमम् । ऋ० १।१।१॥
अश्वसातमः = अश्वऽसातमः । ऋ० १।१७५।५॥
देववीतमः = देवऽवीतमः । ऋ० १।३६।९॥

९—जहाँ कृदन्त का दो उपसर्गों के साथ समास होता है, वहाँ प्रथम उपसर्ग के आगे अवग्रह का चिह्न किया जाता है। यथा—

दुर्नियन्तुः = दुःऽनियन्तुः । ऋ० १।१९०।६॥

१०—जहाँ पदपाठ में अवग्रह और प्रगृह्य दोनों संज्ञाएँ दिखानी होती हैं, वहाँ पहले अवग्रहरहित पद का निर्देश करके 'इति' का निर्देश किया जाता है और उसके अनन्तर उसी पद की आवृत्ति करके अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

देवशिष्टे इति देवऽशिष्टे । ऋ० १।११३।३॥
सबन्धू इति सऽबन्धू । ऋ० ३।१।१०॥
संरराणे इति समऽरराणे । ऋ० ६।७०।६॥

११—संहितापाठ में जहाँ एक पद की द्विरावृत्ति (द्विर्वचन) होता है, वहाँ पदपाठ में द्विरावृत्ति (दोनों) को एक पद समान मानकर पूर्व के अनन्तर अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

दिवेदिवे = दिवेऽदिवे । ऋ० १।१।३॥
प्रप्र = प्रऽप्र । ऋ० १।४०।७॥
संसं = समऽसम् । ऋ० १०।१९१।१॥

१२—संहिता में जहाँ आख्यात (तिङन्त) उदात्त हो और अव्यवहितपूर्व उपसर्ग अनुदात्त हो, वहाँ उपसर्ग और आख्यात को समस्त पद मानकर उपसर्ग के आगे अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

प्रवोचति = प्रऽवोचति । ऋ० ५।२७।४॥
अभिशासति = अभिऽशासति । ऋ० ६।५४।२॥

१३—संहिता में जहाँ आख्यात अनुदात्त हो, परन्तु उससे अव्यवहित दो उपसर्ग प्रयुक्त हों और उन दोनों में पहला उपसर्ग अनुदात्त हो और दूसरा उदात्त हो तो वहाँ तीनों पदों को समस्त मानकर प्रथम उपसर्ग से अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

अन्वालेभिरे = अनुऽआलेभिरे । ऋ० १०।१३०।७॥
प्रत्यावर्तय = प्रतिऽआवर्तय । ऋ० ६।४७।३१॥

१४—नञ्समास और द्वन्द्वसमास में अवग्रह नहीं दर्शाया जाता[१]।

---

१. साम के पदपाठ में नञ्समास और द्वन्द्वसमास में भी अवग्रह किया जाता है।

यथा—

अजरः। ऋ० १।५८।२॥ अदब्धाः। ऋ० ।१।१७३।१॥
अनपत्यानि। ऋ० ३।५४।१८॥ अनवद्यः।
ऋ० ९।६९।१०॥
द्यावाक्षामा। ऋ० १।९६।५॥ इन्द्रवायू। ऋ० १।२।४॥

१५—जिस पद की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति हो सकती है, उसमें अवग्रह नहीं दर्शाया जाता। यथा—

आशुशुक्षणिः। ऋ० २।१।१॥

यहाँ 'आ-शुशुक्षणि' है, अथवा 'आशु-शुक्षणि' है, अथवा 'आशु-शु-क्षणि' है, यह सन्दिग्ध है।[1]

कात्यायन ने कहा है—पाङ्क्त्रान् उद्रोऽभ्राय संशयात् [नावगृह्यन्ते] (प्राति० ५।३४)। अर्थात्—पाङ्क्त्रान् उद्रः अभ्राय इन पदों में व्युत्पत्ति के संशय के कारण अवग्रह नहीं दर्शाया जाता।[2]

१६—जहाँ 'भ्याम्-भिस-भ्यस्-नाम्-सु' विभक्तियों के परे शब्द के अन्तिम अ इ उ ऋ को दीर्घ या अन्य विकार हो जाता है, वहाँ अवग्रह नहीं दर्शाया जाता। यथा—

हस्त—हस्ताभ्याम्। ऋ० १०।१३७।७॥
आदित्य—आदित्येभिः। ऋ० १।२०।५॥
आदित्येषु। ऋ० ८।२७।३॥
मति—मतीनाम्। ऋ० १।४६।५॥
मधु—मधूनाम्। ऋ० १।११७।६॥
पितृ—पितॄणाम्। ऋ० १।१०९।३॥

---

१. आशु इति च शु इति च क्षिप्रनाम्नी भवतः, क्षणिरुत्तरः.........आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात्, चिकीर्षितज उत्तरः। निरु० ६।१॥

२. इनकी विविध व्युत्पत्तियों के लिए देखो इस सूत्र का उव्वट भाष्य। तुलना करो—कैयट (महा० प्रदीप ३।१।१०९) तदुक्तम्—'हरिद्रुर्नावगृह्यते। हरिद्रुरित्यत्र किं हरिशब्द इकारान्तः, अथ हरिच्छब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्'॥

१७—दीर्घ आकारान्त ईकारान्त ऊकारान्त आदि शब्दों से परे 'भ्याम्-भिस्-भ्यस्-नाम्-सु' आदि विभक्तियों के होने पर भी अवग्रह नहीं किया जाता। यथा—

कन्यासु । ऋ० ९ । ६७ । १० ॥

नदीभिः । ऋ० ५।४१।१९॥

१८—जहाँ पर इ, ई उ ऊ, ऋ, ओ आदि को निमित्त मानकर 'सु' (७। ३) के 'स' का 'ष्' हो जाता है, वहाँ भी अवग्रह नहीं किया जाता। यथा—

अग्निषु । ऋ० १।१०८।४॥ नदीषु । ऋ० ७।५०।३॥

आयुषु । ऋ० १।५८।३॥ चमूषु । ऋ० ३।४८।४॥

मातृषु । ऋ० १।१४१।२॥ गोषु । ऋ० १।२९।१॥

१९—अवग्रह में स्वर-संचार एकपदवत् मानकर किया जाता है।

यथा—

सबन्धू इति सऽबन्धू । ऋ० ।३।१।१०॥

दस्युहन्ऽतमः । ऋ० ६।१६।१५॥

चित्रश्रवःऽतमः । ऋ० ३।५९।६॥

यहाँ प्रथम और द्वितीय उदाहरणों में अवगृहीत उदात्त 'स' से परे 'बन्धू' के अनुदात्त को स्वरित तथा एकश्रुति हो गई। तृतीय में अवगृहीत पद के 'श्र' के स्वरितत्व को मानकर उत्तरभाग के अनुदात्तों को एकश्रुति हो गई।

२०—जिस पद में अवग्रह दर्शाना हो, उसके उत्तरभाग का अन्तिम अक्षर उदात्त हो तो 'इति' शब्द के स्वरित 'ति' से परे किसी अनुदात्त को एकश्रुति नहीं होती। यथा—

संरराणे इति सम्ऽरराणे । ऋ० ७।७०।६॥

'इति' के साथ स्वरसन्धि हो जाने पर भी एकश्रुति नहीं होती। यथा—

आमिमाने इत्याऽमिमाने । ऋ० १।११३।२॥

२१—अवगृह्यमाण पद में यदि पूर्वभाग अन्तोदात्त हो तो 'इति' शब्द के स्वरित 'ति' से परे पूर्वभाग के अनुदात्तों को एकश्रुति नहीं होती, परन्तु

पूर्वभाग के अन्तिम उदात्त से परे उत्तरभाग में स्वरितत्व और एकश्रुति हो जाती है। यथा—

समानबन्धू इति समानऽबन्धू। ऋ० १।११३।२॥

उपसंहार

मन्त्र के संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तित करने के जो नियम ऊपर लिखे हैं, वे ऋग्वेद के पदपाठ के अनुसार हैं।

शुक्ल यजुः के माध्यन्दिन और काण्व, कृष्ण यजुः के तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि, सामवेद और अथर्ववेद के पदपाठों के नियमों में कुछ-कुछ अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। उन सबका वर्णन यहाँ विस्तारभय से नहीं किया।

यह प्रकरण केवल एम. ए. और शास्त्री के विद्यार्थियों के लिए ही लिखा गया है। उनके पाठ्यक्रम में प्रायः ऋग्वेद के ही अंश रहते हैं, इसलिए केवल ऋग्वेद के पदपाठ के नियम दिए हैं।

कहाँ-कहाँ अवग्रह नहीं होता, यह पूर्णतया उस-उस शाखा के प्रातिशाख्यों से ही जाना जा सकता है। उन्हें किन्हीं विशेष नियमों में बाँधना असम्भव है। प्रातिशाख्यकारों ने भी प्रायः पद गिना दिए हैं। इसलिए इस एक अंश को छोड़कर अन्य नियम प्रायः सब लिख दिए हैं। इनका ध्यान रखने से पिच्यानवे प्रतिशत पदपाठ शुद्ध रूप में निरूपित किया जा सकता है।

॥ इति शम् ॥

परिशिष्ट—२

साम-पदपाठ-स्वराङ्कन-प्रकार

अन्य संहिताओं के पदपाठों का स्वराङ्कन-प्रकार प्रायः वही है, जो उनकी संहिताओं का है। परन्तु सामवेद के पदपाठ का स्वराङ्कन-प्रकार सामसंहिता के स्वराङ्कन प्रकार से विभिन्न है। अतः उसका यहाँ निर्देश करते हैं—

अथातः प्रतृणस्य ॥१॥

संहिताओं तथा ब्राह्मणों के निर्भुज के स्वराङ्कन-प्रकार को कह कर अब केवल साम के प्रतृण-पदपाठ का स्वराङ्कन-प्रकार कहा जा रहा है।

उदात्त एकाङ्केन ॥२॥

पदपाठ में भी उदात्त एक अंक से ही निर्दिष्ट होता है। जैसे—

१ २र

अग्ने [पू० १ । १ । १ ।]।

स्वरित अधिकार सूत्र ६ से पहले 'उदात्त' का अधिकार जानना चाहिए।

असहायो द्व्यङ्केन ॥३॥

अकेला जो उदात्त है, वह दो अङ्क से निर्दिष्ट होता है।

२ २

आ नि (पू० १ । १ । १ ।)

असहाय इसलिए पढ़ा है कि—

१२र ३ १ ३

अग्ने, वीतये पू० १ । १ । १ ।

यहाँ अ और त में उदात्त दो अंक से निर्दिष्ट नहीं हुआ।

अनुदात्ते च ॥४॥

और अनुदात्त परे रहते भी उदात्त '२' के अंक से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

२ ३र १ २   २ ३१ १ २

अवारिति [पू० २।१०।८], पुनरिति (पू० ३।६।२)

यहाँ क्रमशः 'अ' और 'पु' उदाहरण हैं।

अनुदात्तात् परश्चावसाने ॥५॥

"अनुदात्तात्" यह जाति में एकवचन है। अतः यथासम्भव अनुदात्त तथा अनुदात्तों से परे जो उदात्त है, वह '२' के अंक से निर्दिष्ट होता है। जैसे–

३ २ ३ २ ३ २

हितः [पू० १।१।२] गृणानः [पू० १।१।१] द्रविणस्युः [पू० १।१।४]

यहाँ क्रमशः तः, नः, स्युः उदाहरण हैं। पिछले और इस सूत्र में 'च' शब्द से 'द्व्यंकेन' की अनुवृत्ति ली जाती है।

स्वरितो द्व्यङ्केन ॥६॥

पदपाठ में स्वरित '२' के अंक से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

३ १ २ ३ १ २

वीतये (पू० १।१।१), ऊतये (पू० १।६।३)

यहाँ 'ये' उदाहरण है। द्व्यंक की अनुवृत्ति आने पर भी पुनः द्व्यंक का पाठ उदात्त की निवृत्ति को बतलाता है। 'स्वरित' का अधिकार अनुदात्तग्रहण (ग्यारहवें सूत्र) से पूर्व तक है।

क्षैप्रजात्यौ चावसानैकश्रुत्योः ॥७॥

द्व्यन्त एकश्रुति पद के पूर्वनिपात-व्यभिचार-लिङ्ग के होने से इस सूत्र में कार्य यथासंख्य नहीं होता। क्षैप्र और जात्य नामक स्वरित अवसान तथा एकश्रुति में '२' अंक से निर्दिष्ट होते हैं। जैसे—

३क २

क्षैप्र अवसान में—तन्वा (पू० १।५।८) ॥

३क २

जात्य अवसान में—दूत्यम् (पू० १।७।२) ॥

३ ३क २

एकश्रुति में—मनुष्येभिः (पू० १।८।७) ॥

यहाँ क्रमशः 'वा' 'व' 'ये'—उदाहरण हैं। यद्यपि यह कार्य सामान्य सूत्र से ही हो सकता है, तथापि बाल-बुद्धियों की सरलता के लिए पृथक् कहा जाता है।

अपूर्वोदात्ताच्च सरेफेण ॥८॥

नहीं है पूर्व में कोई स्वर जिसके, ऐसे उदात्त से परे जो स्वरित हो, वह रेफविशिष्ट २ के अङ्क से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

१ २र १ २र
अग्ने (पू० १।१।१), निहितः (१।८।७) ॥

यहाँ क्रमशः 'ने' और 'हि' उदाहरण हैं।

सूत्र में 'अपूर्वात्' इसलिए पढ़ा है कि—

३ १२ ३ १ २
ऊतये (पू० १।६।१), वाजयन्तः (पू० १।६।७) ॥

यहाँ 'ये' और 'त' में '२र' का चिह्न नहीं लगा, क्योंकि उससे पहले उदात्त से पहले अनुदात्त स्वर वर्तमान है।

उदात्त इसलिए पढ़ा है कि

३क २ ३क २
तन्वा (पू० १।५।८), दूत्यम् (पू० १।७।२) ॥

यहाँ 'वा' और 'य' से पहिले अपूर्व अनुदात्त हैं, उदात्त नहीं, अतः उनमें २र का चिह्न नहीं लगा।

अपूर्वो जात्यो द्वादशाङ्केन ॥९॥

नहीं है पूर्व में कोई दूसरा स्वर जिससे, ऐसा जात्य स्वरित '१२' के अङ्क से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

१२ १२
क [पू० २।५।८, ३८।९] स्वर्वान् पू० १।७।१॥

सूत्र में अपूर्व इसलिए पढ़ा है कि

३क २
दूत्यम् पू० १।७।२॥

यहाँ स्वरित से पूर्व अनुदात्त होने से यह लक्षण प्रवृत्त नहीं होता।

उदात्ते प्लुतश्च ॥१०॥

सूत्र में 'च' से अपूर्व जात्य की अनुवृत्ति ली जाती है। उदात्त परे रहते अपूर्व जात्य स्वरित प्लुत हो जाता है। जैसे—

२र १ २
स्वा३रिति [पू० ५।८।८]

२ के अङ्क का निर्देश "स्वरितो द्वयङ्केन" सूत्र से प्राप्त ही था, इस सूत्र से केवल प्लुत का विधान किया जाता है।

अनुदात्तस्त्र्यङ्केन ॥११॥

पदपाठ में अनुदात्त को ३ के अंक से निर्दिष्ट किया जाता है । जैसे—

३ १ २

वीतये ।

यहाँ 'वी' उदाहरण है । इस सूत्र का अधिकार 'अवग्रह' ग्रहण (सूत्र १६) तक है ।

अनेकप्रसङ्गे प्रथम एव ॥१२॥

जहाँ अनेक अनुदात्त हों, वहाँ पहिले पर ही ३का अंक लगाया जाता है, शेष पर नहीं । जैसे—

३ २ ३ २

गृणाना [पू० १।१।१], द्रविणस्युः (पू० १।१।४) ॥

यहाँ 'गृ' और 'द्र' उदाहरण हैं ।

इतावनार्षेऽस्वरितपूर्वः सरेफेण ॥१३॥

नहीं है स्वरित पूर्व में जिसके, ऐसा अनुदात्त, अवैदिक इति शब्द आगे होने पर, रेफसहित तीन के अंक से निर्दिष्ट होता है । जैसे—

२ ३र १ २ २ ३र १ २

अवरिति (पू० २।१०।८), पुनरिति पू०३।६।२॥

यहाँ क्रमशः 'व' और 'न' उदाहरण हैं ।

सूत्र में 'अस्वरितपूर्व' क्यों कहा ? इसलिये कि

१ २र ३ १ २

रोदसी इति (पू० ।१।७।९) ॥

यहाँ 'सी' में ३ के साथ 'र' नहीं लगा, क्योंकि उससे पहले स्वरित है ।

क्षैप्रजात्ययोः सककारेण ॥१४॥

क्षैप्र और जात्य नामक स्वरित परे हों तो उनसे पहिले के अनुदात्त पर 'क' के साथ ३ का अंक लगाया जाता है । जैसे—

३क २

क्षैप्र में—तन्वा (पू० १।५।८) ॥

३क २

जात्य में—दूत्यम् (पू० १।७।२) ॥

यहाँ क्रमशः 'त' और 'द्' उदाहरण हैं, इनके आगे, 'वा' और 'यम्' क्षैप्र और जात्य स्वरित हैं।

अनेकानुदात्तत्वं चाद्यन्तौ यथापूर्वम् ॥१५॥

'च' से 'क्षैप्रजात्ययोः' की अनुवृत्ति आती है। क्षैप्र, जात्य स्वरित परे होने पर जहाँ अनेक अनुदात्त हों, वहाँ पहला और अन्तिम दोनों यथापूर्व अर्थात् पहला '३' से और अन्तिम '३क' से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

३ ३क २
मनुष्येभिः (पू० १।८।७) ॥

अवग्रहे पृथक्पदवत् ॥१६॥

यहाँ पद-पाठ में पृथक् पद के समान स्वर प्रवृत्त होता है। जैसे—

३ १२ ३ २ ३ १ २र २ ३
हव्यदातये हव्य दातये (पू० १।१।१), विवस्वत् वि वस्वत् ।
(पू० १। १। १) ॥

ऋग्, यजुः तथा अथर्व के पाठ में अवग्रह में भी एक पद के समान स्वर प्रवृत्त होता है। जैसे—

हव्यऽदातये (ऋ० ६।१६।१०); विश्वधा इति विश्वधाः (यजु० १। २); लोहितऽवाससः (अथर्व १।१७।१)

एकश्रुतिरनङ्किताऽनङ्किता ॥१७॥

पदपाठ में एकश्रुति पर कोई अंक नहीं लगता। जैसे—

३ १ २ १ २र
यज्ञियाय (पू० १। २। ५), देदिशति (पू० १। २।३) ॥

'अनङ्किता' शब्द को सूत्र में दो बार पढ़ना प्रकरण की समाप्ति को बताता है ॥



अथ सौवरः

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीसंकलितः

युधिष्ठिरमीमांसकेन संशोधितष्टिप्पणीभिश्चालंकृतः

अथ भूमिका



इस सौवर ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि जिससे सब मनुष्यों को उदात्तादि स्वरों की व्यवस्था का बोध यथार्थ हो जावे। जब तक उदात्तादि स्वरों को ठीक-ठीक नहीं जानते तब तक लौकिक वैदिक वाक्यों वा छन्दों का स्पष्ट, प्रिय उच्चारण, गान और ठीक-ठीक अर्थ भी नहीं जान सकते। और उच्चारण आदि के यथार्थ होने के विना लौकिक वैदिक शब्दों से यथार्थ सुखलाभ भी किसी को नहीं होता। देखो इस विषय में प्रमाणः—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
[महाभाष्य १।१।१]

जो शब्द अकारादि वर्णों के स्थान प्रयत्नपूर्वक उच्चारण नियम और उदात्तादि स्वरों के नियम से विरुद्ध बोला जाता है उस को मिथ्याप्रयुक्त कहते हैं, क्योंकि जिस अर्थ को जताने के लिये उसका प्रयोग किया जाता है उस अर्थ को वह शब्द नहीं कहता, किन्तु उससे विरुद्ध अर्थान्तर को कहता है। इसलिये उच्चारण किया हुआ वह शब्द अभीष्ट अभिप्राय को नष्ट करने से वज्र के तुल्य वाणीरूप होकर यजमान अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध की सङ्गति करने वाले पुरुष ही को दुःख देता है। जैसे "इन्द्रशत्रुः" शब्द स्वर के विरोध से ही विरुद्धार्थ हो जाता है। "इन्द्रशत्रुः" तत्पुरुष समास में तो अन्तोदात्त[1] होता है। इन्द्र अर्थात् सूर्य का शत्रु मेघ बढ़कर विजयी हो। "इन्द्रशत्रुः" यहाँ बहुव्रीहि समास में पूर्वपद प्रकृति स्वर[2] से आद्युदात्त स्वर होता है। और शत्रु शब्द का अर्थ यही है कि शान्त करने वा काटनेवाला। प्रमाण निरुक्त [अ० २] का—**इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा।** सो तत्पुरुष समास में तो इन्द्र नाम सूर्य का शत्रु शान्त करने वाला मेघ है और बहुव्रीहि समास में सूर्य जिसका शत्रु शान्त करने वा काटने वाला है

---

१ समासस्य (सौ० ६२) सूत्र से।

२ बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (सौ० ६४) सूत्र से।

ऐसा अन्य पदार्थ मेघ आया। जो पुरुष "सूर्य का शान्त करने वाला मेघ है" इस अभिप्राय से इन्द्रशत्रु शब्द का उच्चारण किया चाहता है तो उसको अन्तोदात्त उच्चारण करना चाहिये, परन्तु जो वह आद्युदात्त उच्चारण कर देवे [तो] उसका अभिप्राय नष्ट हो जावे, क्योंकि आद्युदात्त उच्चारण से बहुव्रीहि समास में मेघ का शान्त करने वा काटने वाला सूर्य ठहरेगा।

इसलिये जैसा अपना इष्ट अर्थ हो वैसे स्वर और वर्ण का नियमपूर्वक ही उच्चारण करना चाहिये। जब मनुष्य को उदात्तादि स्वरों का ठीक-ठीक बोध हो जाता है तब स्वर लगे हुए लौकिक [वैदिक] शब्दों के नियत अर्थों को शीघ्र जान लेता है। जैसे किसी एक शब्द को आद्युदात्त स्वरयुक्त देखा, तो जान लेगा कि अमुक अर्थ में अमुक ञित् वा नित् प्रत्यय हुआ है, इसलिये इस का यही अर्थ होना चाहिये, इससे विरुद्ध अर्थ नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय स्वरज्ञ पुरुष को हो जाता है। जैसे—स कर्त्ता, स कर्त्ता इन दो वाक्यों में दो प्रकार के स्वर होने से दो ही प्रकार के अर्थ होते हैं। पहिले वाक्य में लुट् लकार की क्रिया[1] है। अर्थ—वह अगले दिन करेगा। और दूसरे में कृदन्त तृच्प्रत्ययान्त[2] शब्द है। अर्थ—वह करनेवाला पुरुष है, इत्यादि।

इसी प्रकार एक प्रकार[3] के शब्दों का अर्थभेद स्वरव्यवस्था के जानने से ही निकलता है। जो स्वरव्यवस्था का बोध न हो तो अर्थों का लौट पौट व्यभिचार हो जाने से बड़ा अन्धेर फैल जावे। इसी प्रकार समासों के पृथक्-पृथक् नियतस्वरों को जान के उन-उन समासों के नियत अर्थों को शीघ्र जान लेता है, अर्थात् उदात्तादि स्वरज्ञान के बिना अर्थ की भ्रान्ति नहीं छूटती। और उदात्तादि स्वरबोध के बिना वेदमन्त्रों का गान और उच्चारण भी यथार्थ नहीं हो सकता, [जो] षड्जादि स्वर गानविद्या में उपयोगी होते हैं, वे उदात्तादि के बिना नहीं हो सकते। जैसेः—

---

१ यहाँ "तिङ्ङतिङः" (सौ० ९०) सूत्र से तिङन्त 'कर्त्ता' शब्द अनुदात्त हो जाता है। फिर उदात्त 'सः' से परे "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (सौ० ९) से स्वरित होता है।

२. यहां कर्तृ शब्द को "चितः" (सौ०४४) से अन्तोदात्त होता है।

३. अर्थात् स्वर के बिना एक जैसे प्रतीयमान शब्दों का।

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥

यह वचन याज्ञवल्क्यशिक्षा का है ॥

षड्जादिकों में निषाद और गान्धार तो उदात्त के लक्षण से, ऋषभ और धैवत अनुदात्त के लक्षण से तथा षड्ज, मध्यम और पञ्चम ये तीनों स्वरितस्वर से गाये जाते हैं। उदात्तादि के बिना वेदमन्त्रों का उच्चारण भी प्रिय नहीं लगता, जब उदात्तादि के सहित उच्चारण किया जाता है तब अतिप्रिय मनोहर उच्चारण होता है।

इस ग्रन्थ में स्वरव्याख्या संक्षेप से की है, परन्तु जो मुख्य-मुख्य स्वरविषय के पाणिनीय अष्टाध्यायीस्थ सूत्र हैं, वे सब इस में लिख दिये हैं, और सब अष्टाध्यायी की वृत्ति में लिखे जायँगे।

इति भूमिका ॥

स्थान महाराणाजी का उदयपुर
संवत् १९३९ आश्विन बदी १२ } (स्वामी) दयानन्दसरस्वती

॥ ओ३म् ॥

अथ सौवरः

१—महाभाष्य-स्वयं राजन्त इति स्वराः, अन्वग्भवति व्यञ्जनम् ॥ १ । २ । २९ ॥

स्वर उन को कहते हैं जो विना किसी की सहायता से उच्चरित और स्वयं प्रकाशमान [हों,] और व्यञ्जन वे कहाते हैं कि जिन का उच्चारण स्वर के आधीन हो।

२—उच्चैरुदात्तः ॥ अ० १ । २ । २९ ॥

मुख के किसी एक स्थान में जिस अच् का ऊँचे स्वर से उच्चारण हो वह उदात्तसंज्ञक होता है ॥ जैसे—'औपगवः।' यहां 'अण्' प्रत्यय का अकार उदात्त हुआ है।

३—महा०—आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य ॥ १ । २ । २९ ॥

उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें—(आयामः) शरीर के सब अवयवों को रोक लेना, अर्थात् ढीले न रखना, (दारुण्यम्) शब्द के निकलते समय तीखा रूखा स्वर निकले और (अणुता खस्य) कण्ठ को संकोच के बोलना चाहिये, फैलाना नहीं। ऐसे प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है वह उदात्त कहाता है, यही उदात्त का लक्षण है।

४—नीचैरनुदात्तः ॥ अ० १ । २ । ३० ॥

जो किसी एक मुखस्थान में नीचे प्रयत्न से उच्चारण किया हुआ स्वर है उस को अनुदात्त कहते हैं ॥ जैसे—'औपगवः।' यहां जिन के नीचे तिर्छी रेखा है वे तीनों वर्ण अनुदात्त हैं।

५—महा०—अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ॥ १ । २ । ३० ॥

अनुदात्त उच्चारण में (अन्ववसर्गः) शरीर के अवयवों को शिथिल कर देना, (मार्दवम्) कोमल स्निग्ध उच्चारण करना, (उरुता खस्य) और कण्ठ को कुछ फैला के बोलना। इस प्रकार के प्रयत्न से उच्चारण किये स्वर को अनुदात्त कहते हैं, यही इसका लक्षण है।

६—समाहारः स्वरितः॥ अ० १। २। ३१॥

उदात्त और अनुदात्त गुण का जिसमें मेल हो वह अच् स्वरितसंज्ञक होता है। जो उदात्त स्वर है उस का कोई चिह्न नहीं होता[१], किन्तु बहुधा स्वरित वा अनुदात्त से पूर्व ही उदात्त रहता है। अनुदात्त वर्ण के नीचे जैसा "क॒" यह तिर्छा चिह्न किया जाता है। और स्वरित के ऊपर "क॑" ऐसा खड़ा चिह्न किया जाता है। दो गुणों को मिला के जो बनता है उसका तीसरा नाम रखते हैं। जैसे श्वेत और काला ये रङ्ग अलग-अलग होते हैं परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न होता है उसको कल्माष खाखी व आसमानी [रंग] कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न होता है उसको स्वरित कहते हैं।

७—तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्॥ अ० १। २। ३२॥

जो पूर्व सूत्र में स्वरित विधान किया है उस के तीन भेद होते हैं—ह्रस्वस्वरित, दीर्घस्वरित और प्लुतस्वरित। सो इन स्वरितों की आदि में आधी मात्रा उदात्त होती [है] और [शेष] सब अनुदात्त रहती हैं। जैसे 'क्व॑'[२],

१. यहाँ दर्शाए हुए उदात्तादि के चिह्न ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और उसके ब्राह्मण तथा आरण्यक में उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद में जात्यादि स्वरित का विशिष्ट चिह्न है। मैत्रायणी और काठक संहिता में उदात्त का चिह्न अक्षर के ऊपर लगाया जाता है। इसी प्रकार मै० सं० में अनुदात्त और स्वरित चिह्नों में भी भेद है। काठक संहिता में केवल उदात्त का चिह्न किया जाता है, अनुदात्त और स्वरित का नहीं। शतपथ ब्राह्मण में उदात्त के लिये अक्षर के नीचे आड़ी रेखा लगाई जाती है। अनुदात्त और स्वरित का कोई चिह्न नहीं होता, जात्यस्वरित का विशिष्ट चिह्न अवश्य है। सामवेद और उसके पदपाठ में स्वर के चिह्न बहुत विचित्र हैं, वे बिना व्याख्या के समझ में नहीं आ सकते। उसके लिये हमारा लिखा हुआ 'सामस्वराङ्कनप्रकार' ग्रन्थ देखना चाहिये।

२. यहाँ "किमोऽत्" (शै० ७४२) से अत् प्रत्यय और "क्वाति"

कुन्या[1] शक्तिके[2]' यहाँ ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनों क्रम से स्वरित हुए हैं।

इस सूत्र में ह्रस्व के कहने से यह सन्देह होता है कि दीर्घस्वरित और प्लुतस्वरित में उदात्त का [उक्त] विभाग [अर्थात् अर्धमात्रा उदात्त, शेष अनुदात्त] न होना चाहिये, क्योंकि ह्रस्वसंज्ञा से दीर्घ प्लुतसंज्ञा भिन्नकालिक है। इसीलिये अर्धह्रस्व शब्द के आगे का प्रमाण अर्थ में 'मात्रच्' प्रत्यय का लोप महाभाष्यकार ने माना है कि ह्रस्व का अर्धभागमात्र अर्थात् आदि की आधी मात्रा ह्रस्व दीर्घ प्लुत किसी में उदात्त हो जाती हैं।

इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज होती है उसमें नहीं जाना जाता कि कौनसा कितना भाग है। जैसे दूध और जल मिला दें तो यह विदित नहीं होता कि कितना दूध है और कितना जल है तथा किधर दूध और किधर जल है, इसी प्रकार यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इस कारण जाना नहीं जाता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त और किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है। इसलिये सब के मित्र होके पाणिनि महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, जिस से ज्ञात हो जावे कि इतना उदात्त, इतना अनुदात्त तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है।

(प्रश्न) जो पाणिनि महाराज सबके ऐसे परम मित्र थे तो इस प्रकार और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं। जैसे स्थान, करण, प्रयत्न, नादानुप्रदान आदि ?

(उत्तर) जब व्याकरण अष्टाध्यायी बनाई गई थी उससे पूर्व ही शिक्षा आदि कई ग्रन्थ बन चुके थे, जिन में स्थान, करण आदि का प्रकार लिखा है, क्योंकि शब्द के उच्चारण में जितने साधन हैं वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें और जो बातें उन ग्रन्थों में लिख चुके थे उनको फिर अष्टाध्यायी में भी लिखते तो पिष्टपेषण दोषवत् पुनरुक्तदोष समझा जाता। इसलिये जो बातें वहाँ नहीं लिखीं वे यहाँ प्रसिद्ध की हैं, तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा[3]

(अष्टा० ७ । २ । १०५) से 'क्व' आदेश होता है। यहाँ अत् प्रत्यय के तित् होने से "तित् स्वरितम्" (सौ० ५७) से स्वरित होता है।

१. तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः (फिट् सूत्र) से अन्त स्वरित होता है।

२. स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासंमतिकोपकुत्सनेषु (सन्धि० ४८) सूत्र से अन्त स्वरितप्लुत होता है।

३. वेदाङ्गों का क्रम इस प्रकार माना जाता है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष।

वेदाङ्ग है। इसलिये पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया है। जो इस सूत्र का प्रयोजन और इस पर प्रश्नोत्तर लिखे हैं सो सब महाभाष्य में स्पष्ट करके इसी सूत्र पर लिखे हैं।*

८—एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ ॥ अ० १।२।३३ ॥

दूर से अच्छे प्रकार बल से बुलाने अर्थ में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरों का एकश्रुति अर्थात् एकतार श्रवण हो, पृथक-पृथक् सुनने में न आवें, ऐसा उच्चारण करना चाहिये। जैसे—**आगच्छ भो माणवक देवदत्त३**। यहाँ उदात्तानुदात्तस्वरित का पृथक्-पृथक् श्रवण नहीं होता। 'दूरात्' ग्रहण इसलिये है कि—**"आगच्छ भो भवदेव"** यहाँ उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों का अलग-अलग उच्चारण होता है।

९—उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ॥ अ० ८।४।६५ ॥

सब स्वरप्रकरण में यह सामान्य नियम समझना चाहिये कि जो उदात्त से परे अनुदात्त हो तो उसको स्वरित हो जाता है। जैसे—कृतेन। यहाँ 'ते' उदात्त है, उससे परे नकार अनुदात्त [है उस] का स्वरित हो जाता है=

* (तस्यादित०) इस सूत्र के व्याख्यान में काशिकाकार जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्वग्रहण शास्त्र-विरुद्ध है[1], सो यह केवल उनकी भूल है, क्योंकि जो ह्रस्वग्रहण का प्रयोजन नहीं होता तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध कर देते, उन्होंने तो जो इसमें सन्देह हो सकता है उसका समाधान किया है कि अर्द्धह्रस्व शब्द के आगे 'मात्रच्' प्रत्यय का लोप जानो, जिससे दीर्घ प्लुत स्वरित में भी उदात्त का विभाग हो जावे। ह्रस्वस्यार्धमर्धह्रस्वम्, एक मात्रा का ह्रस्व है, उसकी आधी मात्रा जो आदि में है वह उदात्त और शेष इससे परे सब अनुदात्त है। यह बात इस "अर्धह्रस्व" के ग्रहण ही से जानी गई॥ [स्वा० द० स०]

१. इस टिप्पणी में अतन्त्र शब्द का 'अशास्त्रीय' अर्थ मानकर खण्डन किया है। जब अतन्त्र का अर्थ अप्रधान=गौण अर्थात् उपलक्षण किया जाय तब कोई दोष नहीं है। ह्रस्वग्रहण तीनों प्रकार के अचों का उपलक्षक है।

ऋ॒तेन॑[1] । तथा गार्ग्यँ॑[2]। यहाँ 'गा' उदात्त है और 'र्ग्य॒' अनुदात्त था उस को 'र्ग्यँ' स्वरित हो जाता है। इसी प्रकार उदात्त से परे जहाँ-जहाँ स्वरित आता

---

१. यहाँ 'ऋ' की "भूवादयो धातवः" (आ० १) से धातु संज्ञा होती है "धातोः" (सौ० ४३) से धातु को अन्तोदात्त होता है। "नपुंसके भावे क्तः" (आ० १२३५) से 'क्त' प्रत्यय, "आद्युदात्तश्च" (सौ० २४) से प्रत्यय आद्युदात्त हुआ। इस प्रकार एक पद में दो उदात्तों की प्राप्ति होने पर "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (सौ० २६) से एक उदात्त या स्वरित को छोड़कर शेष को अनुदात्त होता है। यहाँ दोनों में से किस उदात्त स्वर को छोड़ा जाय और किसको अनुदात्त किया जाय, इस संशय में "सति शिष्टस्वरो बलीयान्" (महा० ६।१।११३) से नये आये हुए उदात्त को छोड़कर पूर्व हुए स्वरों को अनुदात्त किया जाता है। इस नियम से उदात्त स्वर ऋ को अनुदात्त हो गया। तत्पश्चात् तृतीया के एकवचन टा को इनादेश (ना० २४) और "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (सौ० २४) से दोनों स्वरों को अनुदात्त हो गया। त के उदात्त अकार और अनुदात्त इकार का "आद् गुणः" (सन्धि० ११३) से गुण हुआ। दोनों स्थान पर कौन-सा स्वर हो इस सन्देह में "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (सौ० ९५) से दोनों के स्थान पर उदात्त एकारादेश हो गया। उससे परे वर्तमान 'न' के अनुदात्त अकार को "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (सौ० ९) से स्वरित करने में नकार का व्यवधान होने से स्वरित प्राप्त नहीं, क्योंकि "तस्मादित्युत्तरस्य" (सन्धि० १००) नियम से अनुदात्त को उदात्त से अव्यवहित उत्तर होना चाहिये। अतः "हल्स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्" (पारि० ६९) इस नियम से स्वर करने में हल् को अविद्यमानवत् माना जाता है। अतः यहाँ नकार के अकार को स्वरित हो गया।

२. गर्ग प्रातिपदिक "फिषोऽन्तोदात्तः" (फिट्सूत्र—फिष् प्रातिपदिक का नाम है) से अन्तोदात्त होकर "गर्गादिभ्यो यञ्" (सौ० १८२) से यञ् प्रत्यय, "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (सौ० ३१) से ञित् प्रत्ययान्त को आद्युदात्त अर्थात् प्रथम गकार के अकार को उदात्त हो गया। "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (सौ०२६) से द्वितीय गकार जो कि पहले उदात्त था और प्रत्यय का अकार अनुदात्त हो गया "यस्येति च" (सौ० ८७६) से द्वितीय ग के अ का लोप हो गया। "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (सौ० ९) से "य" स्वरित हो गया।

है वहाँ वहाँ सर्वत्र असंख्य शब्दों में इसी सूत्र से अनुदात्त को स्वरित जानना चाहिये। और जहाँ उदात्त से परे अनेक अनुदात्त हों वहाँ एक को स्वरित [तथा] औरों को जो [स्वर] होना चाहिये सो आगे लिखेंगे।

उदात्त से परे जो अनुदात्त, उस से परे उदात्त वा स्वरित होने पर इतना विशेष है कि—

१०—नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ॥ अ० ८। ४। ६६ ॥

उदात्त से परे जिस अनुदात्त को स्वरित विधान किया है यदि उस [अनुदात्त] से परे उदात्त वा स्वरित हो तो उस अनुदात्त को स्वरित न हो। परन्तु गार्ग्य, काश्यप, गालव इन ऋषियों के मत को छोड़ के, अर्थात् इन तीनों के मत में तो जिससे परे उदात्त वा स्वरित हो उस अनुदात्त को स्वरित हो जावे।

परन्तु यह गार्ग्य आदि ऋषियों का मत वेद में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वेद सनातन हैं। वहाँ किसी का मत नहीं चलता। लौकिक प्रयोगों में गार्ग्य आदि का मत चल जाता है।[1] वेद में सर्वत्र उदात्त-स्वरितोदय हो तो भी अनुदात्त ही बना रहता है। जैसे—**कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑** [ऋ० १।२४।१] यहाँ '**दे॒वस्य॒ नाम॑**' [में] नाम शब्द आद्युदात्त[2] के परे होने से 'व' उदात्त से परे '**स्य॒**' अनुदात्त को स्वरित नहीं हुआ। तथा—**नव्यं॑ तदु॒क्थ्य॑म्** [ऋ० १।१०५।१२]। यहाँ तकार उदात्त से परे '**दु॒**' अनुदात्त का आगे '**क्थ्य॑**' स्वरित[3] होने से भी स्वरित नहीं होता। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। लौकिक उदाहरण—**गार्ग्य॒ ऋषि॑ः**। यहाँ 'गार्ग्य' और 'ऋषि' दोनों शब्द आद्युदात्त[4] हैं। ऋकार उदात्त के उदय में

---

१. गार्ग्य आदि के यह मत इन आचार्यों द्वारा प्रोक्त वेद की शाखाओं और पदपाठ आदि में भी प्रयुक्त हो सकता है, क्योंकि ग्रन्थकार के मत में शाखाएँ वेद नहीं हैं और नाही नित्य है। वे उन ऋषियों द्वारा प्रोक्त हैं।

२. नामन् सीमन्० (उ० ४।१५१) से मनिन् प्रत्ययान्त निपातन है। (सौ० ३९) से आद्युदात्त होता है।

३. उक्थे साधु उक्थ्यः "तत्र साधु" (स्त्रै० ५१८) से यत् "तित्स्वरितम्" (सौ० ५७) से स्वरित।

४. ऋषि शब्द में 'ऋष' धातु से "सर्वधातुभ्य इन्" (उ० ४।११८) से

अनुदात्त 'र्ग्य' को स्वरित नहीं होता—गार्ग्य ऋषिः। और गार्ग्य आदि के मत में—'गार्ग्यं ऋषिः' ऐसा भी होता है।

अब एकश्रुतिस्वरविषय में लिखते हैं—

११—यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु ॥ अ० १।२।३४ ॥

यज्ञकर्म अर्थात् यज्ञसम्बन्धी कर्म करने में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं वहाँ उदात्त अनुदात्त और स्वरित को एकश्रुति स्वर हो, [अर्थात्] उदात्तादि का पृथक पृथक् श्रवण न हो परन्तु जप करने में तथा न्यूङ्ख = किसी प्रकार के वेद के स्तोत्रों का[1] नाम है—वहाँ और सामवेद में उदात्तादि के स्थान में एकश्रुति न हो, किन्तु तीनों स्वर पृथक्-पृथक् बोले जावें। जैसे—**समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन** [यजु० ३।१] इत्यादि मन्त्र होम करते समय स्वरभेद के विना ही पढ़े जाते हैं। तीनों स्वर के विभाग से वेद मन्त्रों का पाठ होना चाहिये, इस कारण यज्ञकर्म में भी पृथक्-पृथक् उच्चारण प्राप्त था, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है।

१२—उच्चैस्तरां वा वषट्कारः ॥ अ० १।२।३५ ॥

जो यज्ञकर्म में वषट्कार शब्द है वह विकल्प करके उदात्ततर हो और पक्ष में एकश्रुतिस्वर होता है। जैसे—**वषट्कारैः सरस्वती, वषट्कारैः सरस्वती।** [यजु० २१।५३] यहां उदात्त और एकश्रुति दोनों का चिह्न न होने से एक ही प्रकार का स्वर दीख पड़ता है, परन्तु उच्चारण में भेद जान पड़ता है।[2]

१३—विभाषा छन्दसि ॥ अ० १।२।३६ ॥

वेदमन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को एकश्रुति स्वर विकल्प करके होता है। एकश्रुति पक्ष में उदात्तादि

इन् प्रत्यय होता है। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (सौ० ३१) से आद्युदात्त हो जाता है।

१. न्यूङ्ख नाम के १६ ओकार हैं। इनका विधान आश्वलायन श्रौत ७।११ में किया है। इनमें ३ उदात्त हैं और १३ अनुदात्त हैं।

२. अन्य व्याख्याकार यहाँ वषट् शब्द से "वौषट्" शब्द का ग्रहण करते हैं—सोमस्याग्ने वीहि वौषट्। श्रौत यज्ञों में देवता के लिए हविप्रदान वौषट् शब्द से किया जाता है। याज्ञिक लोग वौषट् शब्द का ही उच्चैस्तर उच्चारण करते हैं। श्रौत सूत्रों में भी ऐसा ही विधान है।

का भिन्न-भिन्न उच्चारण नहीं होता। सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में तीनों स्वर भिन्न-भिन्न उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि (११ वें) सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध कर चुके हैं।[1]

१४—न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ॥अ० १।२।३७॥

जो सुब्रह्मण्या निगद में यज्ञकर्म में पूर्वसूत्र से एकश्रति स्वर प्राप्त है सो न हो, किन्तु उसमें जो स्वरित वर्ण हों उनके स्थान में उदात्त हो जावे। सुब्रह्मण्या एक निगद का नाम है। उसका व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में तृतीयकाण्ड तृतीय प्रपाठक के प्रथम ब्राह्मण में सत्रहवीं कण्डिका से ले के बीसवीं कण्डिका पर्यन्त किया है।[2] उस निगद में जितने शब्द हैं उन सब में स्वर का विशेष नियम समझना चाहिये।

भा०—सुब्रह्मण्यायामोकार उदात्तो भवति ॥ अ० १।२।३७ ॥

सुब्रह्मन् शब्द से साध्वर्थ में 'यत्' प्रत्यय होके [सुब्रह्मण्य शब्द] स्वरितान्त[3] होता है, उसका 'टाप्' [के अनुदात्त आकार के साथ एकादेश होके 'सुब्रह्मण्या' शब्द स्वरितान्त होता है, उसका उदात्त] ओकार के साथ एकादेश होके स्वरित [ही बना रहता है।] उस स्वरित को इस सूत्र से उदात्त आदेश हो जाता है और तीन वर्ण अनुदात्त रहते हैं = सुब्रह्मण्योम्।

---

१. हमारे विचार में सामवेद की ऋचाओं का भी एकश्रुति से पाठ होना चाहिये। "यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु" (सौ० ११) में साम शब्द से सामवेद की ऋचाओं का ग्रहण नहीं है, अपितु सामगीति = गान का ग्रहण है। जैमिनि के "गीतिषु सामाख्या" (२।१।३६) सूत्र में साम का अर्थ सामगान ही किया है। साम का गान विना स्वर के सम्भव ही नहीं, अतः यह प्रतिषेध "अभागिप्रतिषेध" अर्थात् अप्राप्त का प्रतिषेध है। अप्राप्त का भी प्रतिषेध देखा जाता है। यथा—"पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि" (तै० सं० ५।२।७) यहां अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन की प्राप्ति ही नहीं है पुनरपि प्रतिषेध है।

२. यहाँ सूत्र वार्तिकों से सुब्रह्मण्या निगद में जैसा स्वर दर्शाया है वैसा माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में नहीं मिलता।

३. तित्स्वरितम् (सौ० ५८) सूत्र से।

भा०—आकार आख्याते परादिश्च, वाक्यादौ च द्वे द्वे ॥ अ० १ । २ । ३७ ॥

जहां आख्यात क्रिया परे हो वहां उससे पूर्व का आकार और उस क्रिया का आदि वर्ण उदात्त होता है [और वाक्य के आदि में दो दो वर्ण उदात्त होते हैं]। जैसे—**इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ**। यहाँ ऐसा समझो कि 'इन्द्र' और 'हरिवः' शब्द आमन्त्रित होने से आद्युदात्त है[1] । उनके दूसरे वर्ण अनुदात्त हैं। उनको उदात्त से परे स्वरित हो जाता है। उस स्वरित को इस सूत्र से उदात्त करते हैं। इस प्रकार 'इन्द्र' शब्द सब उदात्त और 'हरिवः' शब्द में भी दो उदात्त और वकार अनुदात्त है, उसको पूर्व उदात्त के असिद्ध[2] मानने से स्वरित नहीं होता। 'आगच्छ' में आकार तो प्रथम ही उदात्त है, उससे परे दोनों अक्षर अनुदात्त हैं। आकार उदात्त से परे गकार अनुदात्त को स्वरित होके इस सूत्र से स्वरित को उदात्त हो जाता है। इस प्रकार 'इन्द्र आगच्छ' इस वाक्य में एक छकार अनुदात्त और चार वर्ण उदात्त रहते हैं, तथा 'हरिव आगच्छ' इस वाक्य में वकार छकार दो वर्ण अनुदात्त और चार वर्ण उदात्त रहते हैं।

सुब्रह्मण्योऽ३मिन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार। कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्। 'मेधातिथेर्मेष'।

यहाँ आमन्त्रित 'मेष' शब्द के परे पूर्व सुबन्त को पराङ्गवत् [भाव से] आद्युदात्त[3] होके [शेष] सब अक्षर अनुदात्त हो जाते हैं। फिर 'मे' उदात्त से

---

१. आमन्त्रितस्य च (सौ० ६०) सूत्र से।

२. उदात्तविधायक सूत्र प्रथमाध्याय का है और स्वरितविधायक आठवें अध्याय का, अतः 'न सुब्रह्मण्यायां०'' से जो उदात्त हुआ उससे परे अनुदात्त को स्वरित प्राप्त होता है। परन्तु "देवब्रह्मणोरनुदात्तः" (सौ० २०) के महाभाष्य (१।२।३८) में ज्ञापन किया है कि इस प्रकरण को कार्यकाल में 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (सौ० ९) से परे समझना चाहिये। परे होने पर "न सुब्रह्मण्यायां०" (सौ० १४) से विहित उदात्तत्व "पूर्वत्रासिद्धम्" (सन्धि० ११८) के नियम से अनुदात्त को स्वरित करने में असिद्ध हो जाता है अर्थात् स्वरित ही समझा जाता है।

३. यहां मेधातिथि शब्द को "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" (सामासिक)

परे 'धा' अनुदात्त को स्वरित होकर उस स्वरित को इस सूत्र से उदात्त हो के आदि में दो उदात्त और चार वर्ण अनुदात्त रहते हैं।

इसी प्रकार 'वृषणश्वस्य मेने, गौरावस्कन्दिन्, अहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण, गौतम ब्रुवाण' इन सबमें दो दो आदि में उदात्त और [शेष] सब वर्ण अनुदात्त रहते हैं।

'श्वस्' और 'सुत्या' शब्द अन्तोदात्त हैं[1]। 'श्वस्' उदात्त शब्द से परे [सुत्या के] सु अनुदात्त को स्वरित होके उदात्त हो जाता है। इस प्रकार तीनों उदात्त रहते हैं=श्वः सुत्याम्। 'आगच्छ मघवन्' यहाँ भी उदात्त आकार से परे गकार अनुदात्त को स्वरित होके उदात्त हो जाता है। मघवन् शब्द आमन्त्रित के होने से सब अनुदात्त हो जाता है[2]। यहाँ जितने पदों का व्याख्यान किया है वे सब सुब्रह्मण्या निगद के ही हैं। अब आगे एक अपूर्व बात लिखते हैं कि जो इस सूत्र से भी सिद्ध नहीं है।

१५—वा०—सुत्यापराणामन्तः ॥ अ० १ । २ । ३७ ॥

सुत्या शब्द जिनसे परे हो उनको अन्तोदात्त हो ॥ [जैसे—] द्व्यहे सुत्याम्, त्र्यहे सुत्याम्। यहाँ 'द्व्यह' 'त्र्यह' शब्दों को अन्तोदात्त होके उससे परे 'सु' अनुदात्त को स्वरित और स्वरित को उदात्त हो जाता है।

१६—वा०—असावित्यन्तः ॥ अ० १ ।२ । ३७ ॥

वाक्य में जो प्रथमान्त पद है वह अन्तोदात्त हो ॥ [जैसे—] गार्ग्यो यजते[3]। 'गार्ग्य' शब्द प्रथम आद्युदात्त प्राप्त है। उस का बाधक यह अन्तो-

---

से पराङ्गवत् अर्थात् आमन्त्रित का अवयव मान कर "आमन्त्रितस्य च" (सौ० ६०) से आद्युदात्त होता है।

१. श्वस् स्वरादिगण में उदात्त पढ़ा है। सुत्या शब्द में "सु" धातु से "संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः" (आ० १४५४) से क्यप् प्रत्यय होता है। यद्यपि क्यप् को "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (सौ० २५) से अनुदात्त होना चाहिये, तथापि "मन्त्रे वृषेष०" (आ० १४५१) से उदात्त की अनुवृत्ति होने से उदात्त होता है। इस प्रकार सुत्या शब्द अन्तोदात्त होता है।

२. आमन्त्रितस्य च (सौ० ८२) सूत्र से।

३. तिङ्ङतिङः (सौ० ९०) से तिङन्त अनुदात्त होता है।

दात्त होके उस उदात्त से परे [यजते के] यकार को स्वरित और स्वरित को इससे उदात्त हो जाता है, और 'यजते' क्रिया में अन्त्य के दो वर्ण अनुदात्त रहते हैं।

१७—वा०—अमुष्येत्यन्तः ॥ अ० १ । २ । ३७ ॥

अमुष्य यह षष्ठी के एकवचन का संकेत है, जो षष्ठ्येकवचनान्त पद है वह अन्तोदात्त हो ॥ जैसे—दाक्षेः पिता यजते । यहाँ 'दाक्षेः' शब्द षष्ठी का एक वचन है, उस 'इञ्' प्रत्ययान्त को आद्युदात्तस्वर[1] प्राप्त है, उसको अन्तोदात्त हो जाता है, और पिता शब्द 'तृच्' प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त[2] ही है। अन्तोदात्त 'दाक्षि' शब्द से परे 'पि' अनुदात्त को स्वरित होके उदात्त और अन्तोदात्त 'पितृ' शब्द से परे अनुदात्त यकार को स्वरित होकर उदात्त हो जाता है। इस प्रकार मध्य में चार उदात्त तथा आदि में एक [और] अन्त में दो अनुदात्त रहते हैं = दाक्षेः पिता यजते ।

१८—वा०—स्यान्तस्योपोत्तमं चान्त्यश्च ॥ अ० १।२।३७॥

जहाँ षष्ठी का एकवचन स्यान्त हो वहाँ उपोत्तम अर्थात् [तीन या तीन से अधिक अच् वाले शब्दों में अन्त्य से पूर्व अच्] को उदात्त होता है, और उस शब्द को भी अन्तोदात्त हो जाता है ॥ [जैसे—] गार्ग्यस्य पिता यजते। यहाँ तृतीय वर्ण 'स्य' और द्वितीय 'र्ग्य' को उदात्त और 'पिता यजत' यहाँ पूर्ववत् उदात्त होता है। इसलिये पाँच वर्ण मध्य में उदात्त और आदि में एक [तथा] अन्त में दो अनुदात्त रहते हैं = गार्ग्यस्य पिता यजते, वात्स्यस्य पिता यजते ।

१९—वा०—वा नामधेयस्य ॥ अ० १ । २ । ३७ ॥

जो किसी का नामवाची स्यान्त षष्ठ्येकवचनान्त [शब्द है उसके उपोत्तम तथा अन्त्य को] विकल्प करके उदात्त होता है, पक्ष में जैसा प्राप्त है वैसा बना रहता है। [जैसे—] देवदत्तस्य पिता यजते। यहाँ 'त्तस्य' ये दो उदात्त और 'पिता यजते' यहाँ पूर्ववत् उदात्त होके मध्य में पाँच वर्ण उदात्त और आदि [में तीन] और अन्त में दो अनुदात्त हो जाते हैं—देवदत्तस्य पिता यजते, यज्ञदत्तस्य पिता यजते और पक्ष में 'देवदत्त' शब्द अन्तोदात्त

१. ञ्नित्यादिर्नित्यम् (सौ० ३१) सूत्र से ।

२. चितः (सौ० ४४) सूत्र से ।

है, सो ज्यों का त्यों ही बना रहता है और 'पिता यजते' यहाँ पूर्ववत् स्वरित को उदात्त हो जाता है। जैसे—देवदत्तस्य पिता यजते।

२०—देवब्रह्मणोरनुदात्तः ॥ अ० १।२।३८ ॥

२१—भा०--देवब्रह्मणोरनुदात्तत्वमेके ॥ अ० १।२।३८ ॥

पूर्व सूत्र से सुब्रह्मण्या निगद में देव और ब्रह्मन् शब्द के स्वरित को उदात्त पाता है सो न हो, किन्तु उस स्वरित को अनुदात्त ही हो जावे॥ भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि जो देव और ब्रह्मन् शब्द को अनुदात्त कहते हो सो किन्हीं आचार्यों का मत है, अर्थात् विकल्प करके होना चाहिये। देव और ब्रह्मन् शब्द आमन्त्रित हैं, इससे विशेष वचन आमन्त्रित 'ब्रह्मन्' शब्द के परे पूर्व आमन्त्रित देव शब्द को विकल्प करके अविद्यमानवत् होने से पर आमन्त्रित को जहाँ एक पक्ष में निघात नहीं होता वहाँ दोनों आमन्त्रित को आद्युदात्त होकर उदात्त से परे दूसरा-दूसरा वर्ण स्वरित होके उसको फिर इस सूत्र से अनुदात्त हो जाता हैं। जैसे—देवा ब्रह्माणः और दूसरे पक्ष में जहाँ पूर्व आमन्त्रित को विद्यमान मानते हैं, वहाँ पर आमन्त्रित को निघात होकर पूर्व आमन्त्रित को आद्युदात्त हो जाता है, पीछे 'दे' उदात्त से परे 'वा' अनुदात्त को स्वरित होके जिनके मत में अनुदात्त होता है, वहाँ तो देवा ब्रह्माणः ऐसा प्रयोग और जिनके मत में स्वरित को अनुदात्त नहीं होता, वहाँ पूर्व सूत्र से स्वरित को उदात्त होकर देवा ब्रह्माणः ऐसा प्रयोग होता है और जिन आचार्यों का ऐसा मत है कि देव और ब्रह्मन् शब्द समानाधिकरण सामान्यवचन हैं, वहाँ ये ही दो प्रयोग होते हैं, क्योंकि अविद्यमानवत् निषेध होने से पर आमन्त्रित को नित्य ही निघात हो जाता है।

२२—स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् ॥ अ० १।२।३९ ॥

स्वरित से परे संहिता में एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक्-पृथक् एकश्रुतिस्वर होता है।

भा०—एकशेषनिर्देशोऽयम्। अनुदात्तस्य चानुदात्तयोश्चा- [नुदात्तानां चा] नुदात्तानामिति॥ [अ० १।२।३९]

भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि जो इस सूत्र में बहुवचनान्त अनुदात्त शब्द पढ़ा है, उसमें एकशेष समझना चाहिये, अर्थात् एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक-पृथक् कार्य होता है। जैसे—अग्निमीळे पुरोहितम्

[ऋ० १।१।१]। यहाँ 'मी' स्वरित से परे एक 'ळे' अनुदात्त को एकश्रुतिस्वर हुआ है। एकश्रुति का नियम यही है कि स्वरित से परे उस पर कोई चिह्न नहीं होता। होतारं रत्नधातमम् [ऋ० १।१।१] यहाँ 'ता' स्वरित से परे दो रेफ अनुदात्त वर्णों को एकश्रुतिस्वर हुआ है, तथा इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति [ऋ० १०।७५।५] यहाँ 'मे' स्वरित वर्ण है, उससे परे 'ति' पर्यन्त सब अनुदात्त हैं, उन सबको एकश्रुतिस्वर इस सूत्र से हुआ है। 'संहिता' ग्रहण इसलिये है कि—इमम्, मे, गङ्गे, यमुने, सरस्वति यहाँ पृथक्-पृथक् पदों पर अवसान होने से एकश्रुतिस्वर न हुआ।

२३—उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ॥ अ० १।२।४० ॥

उदात्त और स्वरित जिससे परे हों उस अनुदात्त को एकश्रुतिस्वर न हो किन्तु सन्नतर अर्थात् अनुदात्ततर हो जावे। पूर्व सूत्र से सामान्य विषय में एकश्रुतिस्वर प्राप्त है, उसका इस सूत्र से विशेष विषय में निषेध किया है। जैसे—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः [ऋ० १।१।२] यहाँ 'ऋषि' शब्द आद्युदात्त के परे [रहते] भिस् विभक्ति को एकश्रुति स्वर प्राप्त है, सो न हुआ, किन्तु उसको अनुदात्ततर हो गया। तथा मरुतः क्व सुविता [ऋ० १।३८।३] यहाँ 'क्व' शब्द स्वरित के परे [रहते] 'त' अनुदात्त को स्वरित नहीं होता, किन्तु अनुदात्ततर हो जाता है।

२४—आद्युदात्तश्च ॥ अ० ३।१।३ ॥

धातुओं वा प्रातिपदिकों से जितने प्रत्यय होते हैं, उन सब के लिये यह उत्सर्ग सूत्र है कि—सब प्रत्यय आद्युदात्त हों। जो एकाक्षर के ही प्रत्यय हैं, वे आद्यन्तवद्भाव से उदात्त हो जाते हैं। जैसे—प्रियः। यहाँ एकाक्षर 'क'[1] प्रत्यय किया है। आखनिकवकः यहाँ 'इकवक'[2] प्रत्यय आद्युदात्त हुआ है। इसके अपवाद विषय में अन्य प्रत्ययस्वरविधायक सूत्र बहुत हैं, उनमें से थोड़े यहाँ भी आगे लिखे हैं।

२५—अनुदात्तौ सुप्पितौ ॥ अ० ३। १। ४ ॥

जो सुप् अर्थात् सु आदि इक्कीस और पित् प्रत्यय हैं, वे अनुदात्त हों। जैसे—सोमसुतौ, सोमसुतः। यहाँ सुप् में 'औ' तथा 'जस्' अनुदात्त होके

---

१. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (आ० ९७८) सूत्र से।
२. खनो डडरेकेकवकाः (आ० १५०४) वार्तिक से।

उदात्त से परे स्वरित हो गये हैं। [ऐसे ही] भवति, पचति इत्यादि, यहाँ शप् और तिप् पित् प्रत्यय होने से अनुदात्त हुए हैं।

२६—अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥ अ० ६ । १ । १५३ ॥

स्वरप्रकरण में यह परिभाषा सूत्र सर्वत्र प्रवृत्त होता है। जो दो वा अनेक कितने ही पदों का समास होता है, वह भी एक पद कहाता है। स्वरप्रकरण में जिस एक पद में उदात्त वा स्वरित जिस वर्ण को विधान करें, उससे पृथक् जितने वर्ण हों वे सब अनुदात्त हो जावें। इस बात का स्मरण सब स्वरप्रकरण में रखना चाहिये।

इस सूत्र का प्रयोजन महाभाष्यकार दिखलाते हैं—

का०—आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः ॥ महा० ६।१।१५३॥

आगम, विकार, प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् स्वर न होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। आगम—जो टित् कित् मित् चिह्न के साथ अपूर्व उपजन हो जाता है, उसका स्वर हो जावे। जैसे—चत्वारः, अनड्वाहः। यहाँ चतुर् और अनडुह् शब्द को 'आम्'[1] आगम हुआ है, उसी का स्वर रहता और प्रकृतिस्वर की निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् प्रकृति और आगम के दोनों स्वर एक पद में एक साथ नहीं रह सकते। विकार—जो किसी वर्ण वा शब्द को आदेश हो जाता है। जैसे—अस्थ्ना, दध्ना, अस्थनि, दधनि। यहाँ अस्थि और दधि शब्द प्रथम आद्युदात्त हैं, पश्चात् तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इन को [उदात्त] अनङ्[2] आदेश हो के प्रकृति और आदेश के दो स्वर प्राप्त हैं, सो नहीं होते, किन्तु प्रकृति स्वर को बाध के आदेश का उदात्त स्वर हो जाता है। प्रकृति—धातु वा प्रातिपदिक जिससे प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। जैसे—गोपायति, धूपायति। यहाँ प्रकृतिस्वर 'गोपाय' 'धूपाय' धातु को अन्तोदात्त और प्रत्ययस्वर 'आय' प्रत्यय को आद्युदात्त दो स्वर प्राप्त हैं, सो न हों, किन्तु प्रत्ययस्वर को बाध के प्रकृतिस्वर हो जावे। प्रत्यय—जो धातु

---

१. चतुरनडुहोराम् उदात्तः (ना० १४८) से आम् आगम उदात्त होता है।

२. अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः (ना० ७२) से अनङ् उदात्त होता है।

वा प्रातिपदिक से परे विधान किया जाता है। जैसे—कर्त्तव्यम्, तैत्तिरीयः। यहाँ कृ धातु और तित्तिरि प्रातिपदिक से 'तव्य' और 'छ' प्रत्यय हुआ है, प्रकृति और प्रत्यय दोनों के स्वर प्राप्त हैं, सो न हों, किन्तु प्रकृतिस्वर को बाध के प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर हो जावे।

२७--वा०--सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वञ्च ॥अ०६।१।१५३॥

सत्येकस्मिन् स्वरे शिष्टो द्वितीयः स्वरो बलवान् भवति ॥

सतिशिष्ट वह कहाता है कि एक स्वर के वर्तमान में द्वितीय विशेषविधान किया जावे, वही बलवान् रहता है। प्रथम स्वर निवृत्त हो जाता है, और पश्चात् विहित स्वर प्रधान रहता है।

२८–वा०–तच्चानेकप्रत्ययसमासार्थम् ॥ अ० ६।१।१५३ ॥

सतिशिष्ट का प्रयोजन यह है कि अनेक प्रत्यय और अनेक समासों में उत्तरोत्तर स्वर बलवान् होता जावे। जैसे—अनेक प्रत्यय—औपगवः। यहाँ उपगु शब्द से 'अण्' हुआ है, उसी का स्वर रहता है। औपगव शब्द से त्व—औपगवत्वम्। यहां अण् स्वर का बाधक 'त्व' प्रत्यय का स्वर। औपगवत्वमेव औपगवत्वकम्। यहां 'त्व' प्रत्यय के स्वर का बाधक 'क' प्रत्यय का स्वर रहता है। तथा पुरूणां राजा पौरवः यहां 'अण्' प्रत्यय का स्वर प्रकृतिस्वर का बाधक। पौरवस्यापत्यम् इञ्—पौरविः आद्युदात्त। तस्य युवापत्यं फक्—पौरवायणः अन्तोदात्त। पौरवायणानां समूहः वुञ्—पौरवायणकम् आद्युदात्त। पौरवायणकानां छात्राः पौरवायणकीयाः यहां 'छ' प्रत्यय आद्युदात्त। पौरवायणकीयैः प्रोक्तमधीयते तेऽपि पौरवायणकीयाः। 'अण्' का स्वर अन्त में रहता है। इसी प्रकार बहुत कुछ प्रत्ययमाला बन सकती है। अनेक समास—वीरश्चासौ राजा वीरराजः। टच् अन्तोदात्त[1] वीरराजस्य पुरुषः वीरराजपुरुषः। वीरराजपुरुषस्य पुत्रः वीरराजपुरुषपुत्रः[2]। वीरराजपुरुषपुत्रः प्रधानो येषां ते वीरराजपुरुषपुत्रप्रधानाः। यहां पूर्वपदप्रकृतिस्वर[3] होता है। इसी प्रकार के इनसे बहुत बड़े २ समास हो सकते हैं और उनके स्वर भी तदनुकूल हो जावेंगे।

---

१. चितः (सौ० ४४) सूत्र से।
२. समासस्य (सौ० ६२) से अन्तोदात्त होता है।
३. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (सौ० ६४) सूत्र से।

२९—वा०—विभक्तिस्वरान्नञ्स्वरो बलीयान् ॥ अ० ६ । १ । १५३॥

विभक्तिस्वर से नञ्स्वर बलवान् होता है। जैसे—**न तिस्रः अतिस्रः**। यहां विभक्तिस्वर जस् विभक्ति को उदात्त[1] प्राप्त है, उसका बाधक नञ्स्वर पूर्वपदप्रकृतिभाव[2] हो जाता है।

३०—वा०—विभक्तिनिमित्तस्वराच्च नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम् ॥ अ० ६ । १ । १५३ ॥

विभक्ति जिसका निमित्त है, उसको जो स्वर होता है, उस को बाध के नञ्स्वर होना चाहिये। जैसे—**अचत्वारः, अनड्वाहः**। यहां विभक्ति को मान के जो 'आम्' आगम होता है, उस [के स्वर][3] का बाधक नञ्प्रकृतिस्वर हो जाता है।

३१—ञ्नित्यादिर्नित्यम् ॥ अ० ६ । १ । १९२ ॥

ञित् नित् प्रत्ययों के परे पूर्व प्रकृति को आद्युदात्त स्वर हो। यह सूत्र (२४) सूत्र का अपवाद है, और इसके अपवाद आगे कुछ लिखेंगे। उदाहरण—ञित्—ष्यञ्—**ब्राह्मण्यम्, चातुर्वर्ण्यम्, त्रैलोक्यम्**;[4] यञ्—**गार्ग्यः, शाकल्यः, माधव्यः, बाभ्रव्यः**,[5] इत्यादि; इञ्—**दाक्षिः, सौधातकिः वैयासकिः**;[6] फिञ्—**तैकायनिः, कैतवायनिः**[7] इत्यादि;। नित्—वुन्—

---

१. तिसृभ्यो जसः (अष्टा० ६ । १ । १६१) सूत्र से।

२. तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः (सौ० ६५) सूत्र से।

३. चतुरनडुहोराम् उदात्तः (ना० १५९) सूत्र से आम् आगम उदात्त होता है।

४. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (स्त्रै० ६१७) से ष्यञ्।

५. गर्गादिभ्यो यञ् (स्त्रै० १८२) से यञ्।

६. अत इञ्, सुधातुरकङ् च, व्यासवरुणनिषाद० (स्त्रै० १७२—१७४) सूत्रवार्तिकों से इञ्।

७. तिकादिभ्यः फिञ् (स्त्रै० २३८) सूत्र से फिञ्।

वासुदेवकः, अर्जुनकः,[1] ठन्—वस्नकः,[2] कन्—द्रव्यकः[2] इत्यादि शब्द आद्युदात्त हो जाते हैं।

३२—कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ॥ अ० ६।१।१५४ ॥

घञन्त कर्ष धातु और आकारवान् घञन्त शब्दों के अन्त में उदात्त स्वर हो। कर्ष धातु के कहने से भ्वादिगण वाले का ग्रहण होता है। गुणनिषेध वाले तुदादि का ग्रहण नहीं होता।—जैसे कर्षः, त्यागः, रागः, दायः, धायः, पाकः, पाठः इत्यादि। आकारवान् कहने से कर्ष को प्राप्त नहीं था, इसलिये पृथक ग्रहण किया है। 'आकारवान्' ग्रहण इसलिये है कि—मन्थः, योगः यहां न हो।

३३—उञ्छादीनां च ॥ अ० ६ । १ । १५५ ॥

उञ्छ आदि गणपठित शब्दों को अन्तोदात्त स्वर हो। जैसे—उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्जः, जल्पः। इन चार घञन्त शब्दों में आद्युदात्त[3] प्राप्त था, सो न हुआ। जपः व्यधः ये दो शब्द अप्[4] प्रत्ययान्त हैं, इन को भी आद्युदात्त स्वर[5] प्राप्त था।

३४—गणसूत्र–युगः कालविशेषे रथाद्युपकरणे च ॥ १ ॥ अ० ६ । १ । १५५ ॥

युग शब्द कालविशेष अर्थात् कलि युग, द्वापर युग इत्यादि वा पीढ़ी तथा रथ आदि के उपकरण अर्थात् अवयव जुआ आदि अर्थ में अन्तोदात्त होता है, अन्यत्र नहीं होता ॥ [जैसे—] युगः। घञन्त होने से आद्युदात्त[6] प्राप्त था।

---

१. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (अष्टा० ४ । ३ । ९८) सूत्र से वुन्।

२. वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ (अष्टा० ५ । १ । ५१) से ठन् और कन् प्रत्यय।

३. सौ० (३१) सूत्र से।

४. व्यधजपोरनुपसर्गे (अ० ३।३।६१) सूत्र से।

५. प्रत्यय के (सौ० २५ से) अनुदात्त होने से धातुस्वर प्राप्त था।

६. सौ० ३१ सूत्र से।

३५—ग० सू०—गरो दूष्ये ॥२॥ अ० ६ ।१।१५५ ॥

दूष्य अर्थात् विष अर्थ में गर शब्द अन्तोदात्त हो ॥ जैसे—गरः। अन्यत्र आद्युदात्त[1] रहेगा।

३६—ग० सू०—वेगवेदवेष्टबन्धाः करणे ॥ ३ ॥ अ० ६ । १ । १५५ ॥

करणकारक में प्रत्यय किया हो तो घञन्त वेग आदि चार शब्द अन्तोदात्त हों। विजयते येन स वेगः, वेत्ति येन स वेदः, वेष्टते येन स वेष्टः, बध्नाति येन स बन्धः। और भाव वा अधिकरण में प्रत्यय होगा तो आद्युदात्त[2] ही समझे जावेंगे।

३७—ग० सू०—स्तुयुद्रुवश्च छन्दसि ॥ ४ ॥ अ० ६ । १ । १५५ ॥

क्विबन्त स्तु आदि तीन धातुओं को अन्तोदात्त स्वर हो। जैसे—परिष्टुत्, संयुत्, परिद्रुत्। यहां उपसर्गों को 'प्रकृतिभाव'[3] प्राप्त था।

३८—ग० सू०—वर्तनिः स्तोत्रे ॥५॥ अ० ६।१।१५५ ॥

जो स्तुति अर्थ में वर्तनि शब्द हो तो अन्तोदात्त स्वर हो ॥ जैसे—वर्तनिः। अन्यत्र अनि[4] प्रत्यय आद्युदात्त होने से मध्योदात्त[5] स्वर होगा। [जैसे]—वर्त्तनिः।

---

१. यहां "ऋदोरप्" (आ० १४०३) से अप् होता है, प्रत्यय के (सौ० २५ से) अनुदात्त होने से धातुस्वर होगा।

२. सौ० ३१ सूत्र से।

३. यहां "गतिकारकोपपदात् कृत्" (सौ० ७४) सूत्र से उत्तरपद प्रकृतिस्वर प्राप्त होके अन्तोदात्तत्व सिद्ध है, पुनः गणसूत्र में पढ़ना व्यर्थ होकर इसका ज्ञापक है कि इनको उत्तरपद प्रकृति स्वर नहीं होता, अपितु पूर्वपद का स्वर होता है। उपसर्ग "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्" (फिट् सूत्र) से आद्युदात्त होते हैं।

४. यहाँ "वृतेश्च" (उ० २ । १६) से अनि, प्रत्यय स्वर होता है।

५. सौ० २४ सूत्र से।

३९—ग० सू०—श्वभ्रे दरः ॥ ६ ॥ अ० ६।१।१५५॥

श्वभ्र [=गड्ढा] अभिधेय हो तो दर शब्द अन्तोदात्त हो। जैसे=द॒रः। अन्यत्र आद्युदात्त[1] ही समझा जाता है। जैसे—द॒रः।

४०—ग० सू०—साम्बतापौ भावगर्हायाम् ॥ ७ ॥ अ० ६ । १ । १५५ ॥

भावगर्हा अर्थात् धात्वर्थ की निन्दा में साम्ब और ताप शब्द अन्तोदात्त हों। जैसे—सा॒म्बः, ता॒पः। अन्यत्र आद्युदात्त[2] ही समझे जावेंगे।

४१—ग० सू०—उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र ॥ ८ ॥ अ० ६ । १ । १५५ ॥

उत्तम और शश्वत्तम ये दोनों शब्द सामान्य अर्थों में अन्तोदात्त हों। जैसे—उ॒त्त॒मः, श॒श्व॒त्त॒मः।
तथा भ॒क्षः,[3] म॒न्थः,[3] भो॒गः,[3] दे॒हः[3] इत्यादि।

४२—अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः। अ० ६।१।१५६ ॥

जिस अनुदात्त के परे उदात्त का लोप हो उस अनुदात्त को उदात्त हो॥ जैसे—औ॒प॒ग॒व—ई। यहाँ ई अनुदात्त[4] के परे अन्तोदात्त[5] औपगव शब्द के अन्त्य वर्ण का लोप[6] होकर ईकार उदात्त हो जाता है=औ॒प॒ग॒वी। तथा दा॒क्षा॒य॒णी प्ला॒क्षा॒य॒णी कु॒मा॒री[7] इत्यादि। अस्थन्, दधन् शब्द दोनों

---

१. ऋदोरप् (आ० १४०३) से अप्, (सौ० २५ से) प्रत्यय अनुदात्त होने पर धातुस्वर।

२. साम्ब (चुरादि) और तप धातु से घञ्, सौ० ३१ से आद्युदात्त।

३. इन में भी घञ्, सौ० ३१ से आद्युदात्त प्राप्त होते हैं।

४. टिड्ढाणञ्० (स्त्रै० ३५) से ङीप्, सौ० २५ से अनुदात्त।

५. तस्यापत्यम् (स्त्रै० १६५) अण्, सौ० २४ से प्रत्यय उदात्त होकर शेष सौ० २६ से अनुदात्त होता है।

६. यस्येति च (स्त्रै० ८७६) से अकार लोप।

७. कुमार "फिषोऽन्तोदात्तः" (फिट् सूत्र) से अन्तोदात्त, "वयसि प्रथमे" (स्त्रै० ४३) से ङीप्, सौ० २५ से ङीप् अनुदात्त।

अन्तोदात्त[1] हैं, तृतीयादि अजादि विभक्तियों में उपधा अकार का लोप होकर अस्थ्ना, दध्ना, अस्थ्ने, दध्ने इत्यादि। इसी प्रकार इस सूत्र का बहुत विषय है, जहाँ कहीं अनुदात्त के परे उदात्त का लोप हो, वहाँ सर्वत्र इसी से उदात्त समझा जावेगा। 'यत्र' ग्रहण इसलिये है कि—भार्गवः भार्गवौ, भृगवः। यहाँ जस् विभक्ति के आने से प्रथम ही प्रत्यय का लुक्[2] हो जाता है। 'उदात्त' ग्रहण इसलिये है कि जहाँ अनुदात्त के परे अनुदात्त ही का लोप हो, वहाँ उदात्त न हो।

४३—धातोः ॥ अ० ६ । १ । १६७ ॥

धातु को अन्तोदात्त स्वर हो। [जैसे—] पचति, पठति, ऊर्णोति जागर्त्ति, चिचीषति, तुष्टूषति,[3] पापुच्यते[4] गोपायति[5] इत्यादि। इनमें जितने अंश की धातु संज्ञा है, उसी को अन्तोदात्त हुआ है।

---

१. अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः (ना० ७२) अनङ् के उदात्त विधान से।

२. ऋष्यन्धक० (स्त्रै० १९१) से विहित अण का 'अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठ० (अष्टा० २ । ४ । ६५) से लुक् जस् आने से पूर्व बहुवचन के विषय में ही हो जाता है।

३. धातोः कर्मणः (आ० ५०५) से सन्। प्रत्यय के नित् होने से (सौ० ३१) आद्युदात्त स्वर पाता है, परन्तु "सनाद्यन्ता धातवः" (आ० १६७) से पुनः धातु संज्ञा होने पर इस सूत्र (सौ० ४३) से सन्नन्त को अन्तोदात्त हो जाता है। वस्तुतः सन् का निस्करण व्यर्थ होने से धातु स्वर को बाधकर निस्स्वर ही होता है। केवल 'जिजीविषति' (यजु० ४०।२) में धातुस्वर देखा जाता है।

४. यहाँ धातोरेकाचो हलादेः० (आ० ५२७) से यङ्, पूर्ववत् धातुसंज्ञा और अन्तोदात्तत्व।

५. गुपूधूपविच्छि० (आ० १६६) से आय प्रत्यय। सौ० २४ से प्रत्यय को आद्युदात्त होता है। पुनः पूर्ववत् धातुसंज्ञा होकर "गोपाय" को अन्तोदात्त होता है।

४४—चितः ॥ अ० ६।१।१५८ ॥

चित् अर्थात् चकार इत् होके लोप जिसमें हो, उस समुदाय को अन्तोदात्त स्वर हो। प्रत्यय के आद्युदात्त स्वर का अपवाद यह सूत्र है। [जैसे—] घुरच्[1]—भङ्गुरः, भासुरः, मेदुरः; कौण्डिन्य को कुण्डिनच्[2] आदेश—कुण्डिनाः; अकच्[3]—सर्वकः, उच्चकैः, नीचकैः; बहुच्[4]—बहुकृतम्, बहुभुक्तम्, बहुपटुः इत्यादि।

४५—तद्धितस्य च ॥ अ० ६।१।१५९ ॥

जो तद्धित चित् प्रत्यय है, वह अन्तोदात्त हो। जैसे—च्फञ्[5]—कौञ्जायनः, भौञ्जायनः इत्यादि। पूर्व सूत्र में चित् के कहने से यहाँ भी अन्तोदात्त हो जाता। फिर इस सूत्र का पृथक् आरम्भ इसलिये किया है कि जहाँ दो अनुबन्धों से दो स्वर प्राप्त हों वहाँ भी चित् का स्वर अन्तोदात्त ही हो। जैसे च्फञ् प्रत्ययान्तों[6] को हुआ।

४६—कितः ॥ अ० ६।१।१६० ॥

जो तद्धित कित् प्रत्यय है, वह अन्तोदात्त हो। जैसे—फक्[7]—नाडायनः, चारायणः, दाक्षायणः; ठक्[8]—रैवतिकः, आक्षिकः, कौद्दालिकः, पारिघिकः।

४७—सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ॥ अ० ६।१।१६३ ॥

जो सु अर्थात् सप्तमी के बहुवचन में एकाच् शब्द हो उससे परे जो तृतीयादि विभक्ति वह उदात्त हो। जैसे—वाचा वाग्भ्याम्, वाग्भिः, वाचे, वाचः, त्वचे, त्वचः इत्यादि। 'सु' ग्रहण इसलिये है कि—राज्ञा, राज्ञे

---

१. भञ्जभासमिदो घुरच् (आ० १२९३) सूत्र से।

२. आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् (अष्टा० २।४।७०) सूत्र से।

३. अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः (सौ० ७९४) सूत्र से।

४. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् तु (अष्टा० ५।३।६८) सूत्र से।

५. गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् (सौ० १७५) सूत्र से।

६. ञित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (सौ० ३१) से आद्युदात्त और सौ० ४४ से अन्तोदात्त स्वर प्राप्त होते हैं।

७. नडादिभ्यः फक् (सौ० १७६) सूत्र से।

८. रेवत्यादिभ्यष्ठक् (सौ० २३०) सूत्र से।

यहाँ न हो। 'एकाच्' ग्रहण इसलिये है कि—किरिणा, गिरिणा यहाँ विभक्ति उदात्त न हो। 'तृतीयादि' ग्रहण इसलिये है कि—वाचौ, वाचः यहाँ न हो। 'विभक्ति' ग्रहण इसलिए है कि—वाक्तरा यहाँ न हो। सप्तमी का बहुवचन 'सु' इसलिये लिया है कि—त्वया यहाँ भी विभक्ति उदात्त न हो।

४८—शतुरनुमो नद्यजादी ॥ अ० ६।१।१६८ ॥

नुम् रहित जो शतृप्रत्ययान्त प्रातिपदिक उससे परे जो नदीसंज्ञक प्रत्यय और अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति वह उदात्त हो। [जैसे—] नदीसंज्ञक ङीप्[1]-तुदती, नुदती, लुनती इत्यादि। अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति—लुनते, लुनतः, लुनतोः लुनति। 'अनुम्' ग्रहण इसलिये है कि—तुदन्ती, नुदन्ती इत्यादि में नदी उदात्त न हो। 'नद्यजादि' ग्रहण इसलिए है कि—तुदद्भ्याम्, तुदद्भिः यहाँ विभक्ति उदात्त न हो।

४६—वा०—नद्यजाद्युदात्तत्वे बृहन्महतोरुपसंख्यानम् ॥ अ० ६।१।१६८ ॥

जो बृहत् और महत् शब्द से परे नदी और अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति है, वह उदात्त हो। जैसे—बृहती, महती, बृहता, बृहते, महता, महते इत्यादि। पृषत्[2] आदि शब्दों को शतृ प्रत्ययान्त के सब कार्य होते हैं, फिर इस वार्त्तिक के कहने का प्रयोजन यह है कि पृषत् आदि सब शब्दों से परे नदी और अजादि विभक्ति उदात्त न हो, किन्तु बृहत् और महत् से ही हो ॥ ३९ ॥

५०—उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥ अ० ६।१।१६९ ॥

हल् वर्ण जिसके पूर्व हो ऐसा जो उदात्त के स्थान में यण्, उससे परे जो नदीसंज्ञक प्रत्यय और अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति सो उदात्त हो। जैसे नदी—कर्त्री, हर्त्री, प्रकर्त्री, लवित्री, प्रसवित्री इत्यादि। यहाँ सर्वत्र तृच् अन्तोदात्त के स्थान में यण् हुआ है। अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति—कर्त्रा, कर्त्रे, कर्त्रोः, लवित्रा, लवित्रे लवित्रोः इत्यादि। यहाँ 'उदात्त' ग्रहण

---

१. उगितश्च (स्त्रै० २३) से ङीप्, यू स्त्र्याख्यौ नदी (ना० ८६) से नदी संज्ञा।

२. वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २।८४) सूत्र विहित पृषत्, बृहत्, महत्, जगत्, चार शब्द।

इसलिए है कि—कर्त्री, हर्त्री, कर्त्री, हर्त्री यहाँ तृन्नन्त शब्दों के आद्युदात्त होने से अनुदात्त के स्थान में यण् हुआ है। यहाँ 'हलपूर्व' ग्रहण इसलिये है कि—बहुतितवा बहुतितवे यहाँ उदात्त के स्थान में बहुतितउ शब्द के उकार को यण् तो हुआ है परन्तु उदात्त केवल अच् था, [अर्थात् उससे पूर्व कोई हल् न था] फिर विभक्ति को उदात्त का निषेध होके आष्टमिक [८।२।४] सूत्र[1] से स्वरित होता है।

५१—वा०—नकारग्रहणं च कर्त्तव्यम् ॥ अ० ६।१।१६९ ॥

जो नकारान्त से परे नदीसंज्ञक प्रत्यय हो वह उदात्त हो। [जैसे—] वाक्पत्नी, चित्पत्नी।

५२—ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् ॥ अ० ६।१।१७१ ॥

जो ह्रस्वान्त अन्तोदात्त प्रातिपदिक और नुट् का आगम, इनसे परे जो मतुप् प्रत्यय हो तो वह उदात्त हो। पित् प्रत्यय के अनुदात्त होने का यह अपवाद है। [जैसे—] ह्रस्व—अग्निमान्[2], वायुमान्, भानुमान्, कर्तृमान् इत्यादि। नुट्[3]—अक्षण्वता, शीर्षण्वतः, मूर्धन्वती ॥४२॥

५३—वा०—मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणम् ॥ अ० ६।१।१७१ ॥

रे शब्द से परे जो मतुप् हो तो वह भी उदात्त हो। [जैसे—] आ रेवानेतु नो विशः। यहाँ रेवान् शब्द में ह्रस्व के नहीं होने से प्राप्त नहीं था।

५४—वा०—त्रिप्रतिषेधश्च ॥ अ० ६।१।१७१॥

त्रि शब्द से परे मतुप् उदात्त न हो। [जैसे—] त्रिवतीः। यहाँ उदात्त न हुआ।

५५—नामन्यतरस्याम् ॥ अ० ६ । १ । १७२ ॥

मतुप् प्रत्यय के परे जो ह्रस्व अङ्ग उससे परे षष्ठी का बहुवचन नाम् विभक्ति हो तो वह विकल्प करके उदात्त हो। जैसे—अग्नीनाम्, अग्नीनाम्;

---

१. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (सौ० ९४) सूत्र से।

२. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (सौ० १७२) सूत्र से मतुप् होता है।

३. अनो नुट् (अष्टा० ८।२।१६) सूत्र से।

वायूनाम्, वायूनाम्; तिसृणाम्, तिसृणाम्; चतसृणाम् चतसृणाम्। यहाँ 'ह्रस्व' ग्रहण इसलिये है कि—कुमारीणाम्, किशोरीणाम् इत्यादि में विभक्ति उदात्त न हो।

५६—ङ्याश्छन्दसि बहुलम् ॥ अ० ६।१।१७३॥

जो ङ्यन्त से परे नाम् हो तो [वेद में] वह बहुल कर के उदात्त हो, अर्थात् कहीं हो और कहीं न हो [जैसे—] देवसेनानामभिभञ्जतीनाम्। यहाँ [नाम् विभक्ति उदात्त] हो गई, तथा नदीनां पारे जयन्तीनां मरुतः यहाँ [नाम्] विभक्ति उदात्त नहीं होती।

५७—तित्स्वरितम् ॥ अ० ६ । १ । १८० ॥

जो तित् प्रत्यय है वह स्वरित हो। यह आद्युदात्त प्रत्ययस्वर का अपवाद है। [जैसे—] यत्—[१] चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यम्, चिचीष्यम्, तुष्टूष्यम्। ण्यत्[२]—कार्यम्, हार्यम् इत्यादि।

५८—तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्त-महन्विङोः ॥ अ० ६ । १ । १८२ ॥

तासि प्रत्यय, अनुदात्तेत् धातु, ङित् धातु और अदुपदेश इनसे परे लकार के स्थान में जो सार्वधातुक संज्ञक तिप् आदि प्रत्यय वे अनुदात्त हों, परन्तु यह कार्य ह्नुङ् और इङ् धातु को छोड़ के होवे, क्योंकि ये दोनों ङित् हैं। जैसे—तासि प्रत्यय—कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः। अनुदात्तेत्—आस्ते, आसाते आसते। ङित्—शेते, सूते, दीधीते, वेवीते। अदुपदेश—पठतः, पठन्ति, पचतः, पचन्ति। 'तासि आदि से परे' ग्रहण इसलिये है कि "सुनुतः, सुन्वन्ति" यहाँ न हो। 'लसार्वधातुक' ग्रहण इसलिये है कि "सुषुवे, सुषुवाते" यहाँ न हो। और ह्नुङ् तथा इङ् का निषेध इसलिये है कि "ह्नुते, अधीते" यहाँ अनुदात्त न हो।

५९—लिति ॥ अ० ६ । १ । १८८ ॥

लकार जिस का इत् संज्ञक हो उस प्रत्यय से पूर्व उदात्त हो। जैसे—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः। यहाँ चिकीर्ष जिहीर्ष धातु से ण्वुल् हुआ है।

---

१. अचो यत् (आ० ९२१) सूत्र से।
२. ऋहलोर्ण्यत् (आ० ९५६) सूत्र से।

भौरिकिविधम् यहाँ तद्धित का विधल्[1] प्रत्यय है, और ऐषुकारिभक्तः यहाँ तद्धित का भक्तल्[1] प्रत्यय हुआ है, इत्यादि ॥ ४९ ॥

६०—आमन्त्रितस्य च ॥ अ० ६ । १ । १९३ ॥

जो आमन्त्रित अर्थात् सम्बोधन में प्रथमा विभक्त्यन्त शब्द हों उनको आद्युदात्त स्वर हो जाता है। जैसे—अग्ने, वायो, इन्द्र, देवदत्त, देवदत्ताः, धनञ्जय इत्यादि।

६१—यतोऽनावः ॥ अ० ६ । १ । २०८ ॥

दो अच् वाले यत्प्रत्ययान्त शब्दों को आद्युदात्त स्वर हो, परन्तु नौ शब्द को छोड़ के। जैसे—देयम्, धेयम्, चेयम्, जेयम्; शरीरावयवाद्यत्[2]—कण्ठ्यम्, ओष्ठ्यम्, जङ्घ्यम्, जिह्वयम्, इत्यादि। "तित् स्वरितम्" इस पूर्व (५७) लिखित सूत्र से [तित् प्रत्ययान्त] द्व्यच् प्रातिपदिकों को भी स्वरित पाता है, सो उसका अपवाद यह है 'द्व्यच्' ग्रहण इसलिये हैं कि "उरस्यम्, ललाट्यम्, नासिक्यम्" यहाँ आद्युदात्त न हो। 'नौ' शब्द का निषेध इसलिये है कि "नाव्यम्" यहाँ भी आद्युदात्त न हो।

अब समास के स्वर का थोड़ा सा विषय लिखा जाता है—

६२—समासस्य ॥ अ० ६ । १ । २१८॥

समास किये शब्दमात्र को अन्तोदात्त स्वर हो। समास के स्वर का सामान्यसूत्र यह है अर्थात् यह सब समास के स्वर का उत्सर्ग सूत्र है, आगे सब प्रकरण इसका अपवाद है। [जैसे—] राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः, नदीघोषः, पटहशब्दः, वीरपुरुषः, परमेश्वरः इत्यादि।

६३—परिभा०—स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ॥ अ० ६।१।२१८॥

उदात्तादि स्वरों के विधान में व्यञ्जन वर्णों को अविद्यमानवत् समझना चाहिये। जैसे—राजदृषत्, ब्राह्मणसमित्। यहाँ समासान्त हल् वर्ण के

---

१. भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ (अष्टा० ४ । २ । ५४) सूत्र से विधल् और भक्तल् प्रत्यय होते हैं।

२. शरीरावयवाच्च (सौ० २८६) से यत्।

होने से उस हल् को उदात्त प्राप्त है, उस को अविद्यमानवत् मान के उस से पूर्व वर्ण को उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रयोजन हैं।

अब समासस्वर के कुछ विशेष नियम लिखते हैं—

६४—बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अ० ६ । २ । १ ॥

जो बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का स्वर हो वह प्रकृति करके अर्थात् अन्तोदात्त न हो और ज्यों का त्यों बना रहे ॥ जैसे—स्थूलपृषती,[1] हिरण्यबाहुः[2], ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः[3], स्नातकपुत्रः,[4] पण्डितपुत्रः,[5] अध्यापकपुत्रः[6] इत्यादि।

६५--तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीयाकृत्याः ॥ अ० ६ । २ । २ ॥

तत्पुरुष समास में जो तुल्यार्थ, तृतीयान्त, सप्तम्यन्त, उपमानवाची, अव्यय, द्वितीयान्त और कृत्यप्रत्ययान्त पूर्वपद हो, तो उस में प्रकृतिस्वर हो। जैसे तुल्यार्थ—तुल्यश्वेतः, तुल्यलोहितः, तुल्यमहान्[7], सदृक्श्वेतः,

---

१. स्थः किच्च (उ० ५।४) ऊरन्, नित् होने से सौ० ३१ सूत्र से आद्युदात्त प्राप्त हुआ, बहुल ग्रहण से अन्तोदात्त हो गया। कपिलकादीनां संज्ञाछन्दसोर्वा रो लत्वमापद्यत इति (वा० ८।२।१८) से लकारादेश हो गया।

२. हर्यतेः कन्यच् हिर च (उ० ५।४४) (कन्यन् पाठ अशुद्ध है) से कन्यच् प्रत्यय, सौ० ४४ से चित् होने से अन्तोदात्त हो गया।

३. व्रते (आ० ११२३) से णिनि प्रत्यय, सौ० २४ से प्रत्ययस्वर।

४. स्नात एव स्नातकः, संज्ञायां कन् (अष्टा० ५।३।८७) से कन्। सौ० ३१ से आद्युदात्त।

५. तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (स्त्रै० ६४३) से इतच्, चित् होने से सौ० ४४ से अन्तोदात्त।

६. अधि + इण् + णिच् + ण्वुल् = अधि + आपक। सौ० ५९ सूत्र से लित् स्वर अर्थात् प्रत्यय से पूर्व उदात्त।

७. तुला— नौवयोधर्मविषमूलमूल० (अष्टा० ४।४।९१) से यत्, सौ० ६१ से आद्युदात्त।

सदृग्लोहितः[१] । यहाँ तुल्यार्थ शब्दों के साथ कर्मधारय तत्पुरुष समास हुआ है । तृतीयातत्पुरुष—शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः[२], किरिकाणः[३], सप्तमीतत्पुरुष—अक्षशौण्डः[४], पानशौण्डः[५] । उपमानवाची—घनश्यामः,[६] तडिद्गौरी,[७] शस्त्रीश्यामा,[८] कुमुदश्येनी[९] इत्यादि । अव्यय पर—

६६—वा०—अव्यये नञ्कुनिपातानाम् ॥ अ० ६।२।२॥

अव्यय के कहने से सामान्य अव्यय का ग्रहण न हो, इसलिये इस वार्त्तिक से परिगणन किया है कि—अव्ययों में नञ् कु और निपातों को ही पूर्वपद प्रकृतिस्वर हो ॥ जैसे—नञ्—अब्राह्मणः अवृषलः[१०] । कु—कुब्राह्मणः, कुवृषलः[१०] । निपात—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः । परिगणन

---

१. सदृक्—कञ् (आ० १०९५) प्रत्ययान्त, सौ० ७४ से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होकर अन्तोदात्त होता है ।

२. शंकुपूर्वक ला धातु से "घञर्थे कविधानम्" (आ० १४०६) से क प्रत्यय, सौ० ७४ से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होकर प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त ।

३. कॄगॄशॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च । (उ० ४।१४३) से इ प्रत्यय, प्रत्ययस्वर (सौ० २४) से अन्तोदात्त ।

४. अशेर्देवने (उ० ३।६५) से स प्रत्यय, प्रत्ययस्वर (सौ० २४) से अन्तोदात्त ।

५. पा + ल्युट् , लित् स्वर (सौ० ५९) से आद्युदात्त ।

६. मूर्तौ घनः (आ० १४२७) से अप्प्रत्ययान्त निपातन, प्रत्यय के पित् होने से सौ० २५ से अनुदात्त होकर धातुस्वर से उदात्त हुआ ।

७. ताडेर्णिलुक् च (उ० १।१८) से इति प्रत्यय, प्रत्ययस्वर (सौ० २४) ।

८. दाम्नीशसयुयुज० (आ० १३२७) से ष्ट्रन् , षिद्गौरादिभ्यश्च (स्त्रै० ७०) से ङीष् , प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त ।

९. कु उपपदपूर्वक मुद् धातु से "घञर्थे कविधानम्" (आ० १४०६) से क, "गतिकारकोपपदात् कृत्" (सौ० ७४) से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होकर अन्तोदात्त ।

१०. निपाता आद्युदात्ताः (फिट् सूत्र) से उदात्त ।

इसलिये है कि—स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः यहाँ पूर्वपदप्रकृतिस्वर न हो। द्वितीयान्त—मुहूर्त्तसुखम्, मुहूर्त्तरमणीयम्[1], सर्वरात्रकल्याणी, सर्वरात्रशोभना[2]। यहाँ अत्यन्तसंयोग में द्वितीया का समास है। कृत्यान्त—भोज्यञ्च तदुष्णं च भोज्योष्णम्, भोज्यलवणम्[3], पानीयशीतम्,[4] हरणीयचूर्णम्[4] इत्यादि।

६७—गतिरनन्तरः ॥ अ० ६। २। ४९ ॥

जो कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद परे और अनन्तर अर्थात् समीप गति हो तो वह प्रकृतिस्वर हो॥ जैसे—प्रकृतः, प्रहृतः[5] इत्यादि। 'अनन्तर' ग्रहण इसलिये है कि—अभ्युद्धृतम्, उपसमाहृतम् इत्यादि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर न हो। 'कर्मवाची' का ग्रहण इसलिये है कि—प्रकृतः कटं देवदत्तः यहाँ कर्त्ता में क्त प्रत्यय है इसलिये नहीं होता।

यह पूर्वपदप्रकृतिस्वर पूरा हुआ। अब पूर्वपद आद्युदात्त आदि प्रकरण कुछ कुछ लिखेंगे—

६८—आदिरुदात्तः ॥ अ० ६। २। ६४ ॥

पूर्वपद आद्युदात्त होने के लिये यह अधिकार सूत्र है।

६९—णिनि ॥ अ० ६।२।७९ ॥

णिनि प्रत्ययान्त उत्तरपद परे हो तो पूर्वपद आद्युदात्त हो॥ जैसे—**उष्णभोजी, शीतभोजी, स्थण्डिलशायी, पण्डितमानी, सोमयाजी, कुमारघाती, शीर्षघाती, फलहारी, पर्णहारी इत्यादि।**

---

१. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (सौ० ३६६) से अन्तोदात्त।

२. अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (सौ० ५७) से टच् प्रत्यय, सौ० ४४ से अन्तोदात्त।

३. ऋहलोर्ण्यत् (आ० ९५६) से ण्यत्, सौ० ५७ से अन्तस्वरित।

४. तव्यत्तव्यानीयरः (आ० ९१७) से अनीयर्, उपोत्तमं रिति (अष्टा० ६।१।२१२) से अन्त्य से पूर्व को उदात्त।

५. उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् सूत्र) से उदात्त।

७०—अन्तः ॥ अ० ६।२।९२ ॥

पूर्वपद अन्तोदात्त प्रकरण में यह अधिकार सूत्र है।

७१—सर्वं गुणकार्त्स्न्ये ॥ अ० ६।२।९३ ॥

जो गुणों की सम्पूर्णता अर्थ में वर्तमान पूर्वपद सर्व शब्द हो तो वह अन्तोदात्त हो॥ जैसे—सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः, सर्वलोहितः, सर्वहरितः, सर्वश्यामः, सर्वसारङ्गः, सर्वकल्माषः, सर्वमहान्, इत्यादि।

७२—उत्तरपदादिः ॥ अ० ६।२।१११ ॥

उत्तरपद आद्युदात्त प्रकरण में यह अधिकार सूत्र है।

७३—अकर्मधारये राज्यम् ॥ अ० ६।२।१३० ॥

कर्मधारय समास से भिन्न तत्पुरुष समास में जो राज्य उत्तरपद हो तो वह आद्युदात्त हो। जैसे—ब्राह्मणराज्यम्, क्षत्रियराज्यम्, यवनराज्यम्, कुरुराज्यम् इत्यादि।

अब उत्तरपद तथा उभयपद प्रकृतिस्वर के विषय में कुछ लिखते हैं—

७४—गतिकारकोपपदात् कृत् ॥ अ० ६।२।१३९ ॥

जो तत्पुरुषसमास में गति, कारक और उपपद से कृदन्त उत्तरपद हो तो प्रकृतिस्वर हो। जैसे—गति—प्रकारकः, प्रहारकः[1], प्रकरणम्, प्रहरणम्[2]। कारक—इध्मप्रव्रश्चनः, पलाशशातनः, श्मश्रुकल्पनः[3]। उपपद—ईषत्करः, दुष्करः, सुकरः[4]। 'गतिकारकोपपद' ग्रहण इसलिये है कि—देवदत्तस्य कारको "देवदत्तकारकः" यहां [उत्तरपद प्रकृतिस्वर] न हो।

७५—उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् ॥ अ० ६।२।१४० ॥

वनस्पति आदि समास किये हुए शब्दों में पूर्वपद उत्तरपद दोनों एक काल में प्रकृतिस्वर हों। [जैसे—] वनस्पतिः। यहाँ वन और पति दोनों शब्द

---

१. ण्वुल् प्रत्यय—सौ० ५९ से लित्स्वर।

२. ल्युट्, सौ० ५९ से लित्स्वर।

३. ल्युट्, सौ० ५९ से लित्स्वर।

४. ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (आ० १५०५), सौ० ५९ से लित्स्वर।

आद्युदात्त[1] हैं। पति शब्द को समास में सुट्[2] हो जाता है। बृहस्पतिः यहाँ भी सुट्[3] हुआ है। शचीपतिः[4], तनूनपात्,[5] नराशंस,[6] शुनःशेपः,[7] शण्डामर्कौ,[8] तृष्णावरूत्री,[9] बम्बाविश्ववयसौ,[10] मर्मृत्युः[11]।

---

१. वन—स्वाङ्गशिटामदन्तानाम् (फिट् सूत्र) से आद्युदात्त। पति—पातेर्डतिः (उ० ४।५७) से डति, सौ० २४ से प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त।

२. पारस्करप्रभृतीनि च (सन्धि० ३२३) सूत्र से।

३. तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः (सन्धि० ३४२) सूत्र से। बृहत् शब्द को कोई आद्युदात्त मानते हैं कोई अन्तोदात्त। बृहस्पति आदि समस्त-पदों में आद्युदात्त देखा जाता है और स्वतन्त्र अन्तोदात्त।

४. शची—कृदिकारादक्तिनः (अष्टा० ४।१।४१ गणसूत्र) से ङीप्, सौ० २४ से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त।

५. तनू—कृषिचमितनि० (उ० १।८०) से ऊः, सौ० २४ से प्रत्ययस्वर। नपात्—न पातीति नपात्, सौ० ६५ से पूर्वपदप्रकृतिस्वर।

६. नर—नॄ, ऋदोरप् (आ० १४०३) से अप्, सौ० २५ से प्रत्यय अनुदात्त होकर धातुस्वरशेष। शंस—घञ्, सौ० ३१ से आद्युदात्त। अन्येषामपि दृश्यते (सा० २१६) से दीर्घत्व।

७. शुनः—सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (सौ० ४७) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त हुआ, उसका "न गोश्वन्साववर्ण०" (अष्टा० ६।२।१७८) से निषेध होकर प्रातिपदिकस्वर। सामासिक १७६ से षष्ठी का अलुक् हुआ। शेपः—वृङ्शीङ्भ्यां० (उ० ४।२०१) से असुन्। सौ० ३१ आद्युदात्त।

८. दोनों शब्द घञन्त होने से सौ० ३१ से आद्युदात्त होते हैं।

९. तृष्णा—तृषिशुषिरसिभ्यः कित् (उ० ३।२१) से न, (उ० ३।१०) नित् की अनुवृत्ति होने से सौ० ३१ से आद्युदात्त, वरूत्रीशब्द "प्रसित-स्कभित०" (७।२।३४) अन्तोदात्त निपातित है।

१०. बम्ब—अन्तोदात्त है (काशिका); विश्ववयः—बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अष्टा० ६।२।१०६) से विश्व शब्द अन्तोदात्त।

११. मर्—मृङ् से विच् प्रत्यय, धातुस्वर। मृत्यु—भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ (उ० ३।२१) से त्युक्, सौ० २४ से प्रत्ययस्वर।

७६—देवताद्वन्द्वे च ॥ अ० ६।२।१४१ ॥

देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में एक काल में दोनों शब्द प्रकृतिस्वर हों। [जैसे—] इन्द्रासोमौ,[1] इन्द्रावरुणौ,[2] इन्द्राबृहस्पती,[3] द्यावापृथिव्यौ,[4] सोमारुद्रौ,[5] इन्द्रापूषणौ,[6] शुक्रामन्थिनौ[7] इत्यादि।

७७—अन्तः ॥ अ० ६।२।१४३ ॥

उत्तरपद अन्तोदात्त प्रकरण में यह अधिकार सूत्र है।

७८—थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ॥ अ० ६।२।१४४ ॥

गति, कारक और उपपद से परे जो थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र और क इतने प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद उनको अन्तोदात्तस्वर हो। जैसे—थ—सुनीथः,[8] अवभृथः[9]। अथ[10]—आवसथः, उपवसथः। घञ्—प्रभेदः, काष्ठभेदः, रज्जुच्छेदः। क्त—दूरादागतः, विशुष्कः, आतपशुष्कः। अच्[11]—

---

१. इन्द्र—ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २।२८) आद्युदात्त निपातित है। सोम—अर्तिस्तुसु० (उ० १।१४०) से मन्। सौ० ३१ से आद्युदात्त।

२. वरुण—कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३।५३) से उनन्। सौ० ३१ से आद्युदात्त।

३. बृहस्पति—देखो पृष्ठ २४० की टिप्पणी ४।

४. द्यावा—आद्युदात्त निपातित है (काशिका)। पृथिवी—सौ० २४ से ङीष्, सौ० २४ से प्रत्ययस्वर।

५. रुद्र—रोदेर्णिलुक् च (उ० २।२२) से रक्, सौ० २४ से। प्रत्ययस्वर।

६. पूषन्—श्वन्नुक्षन्पूषन् (उ० १।१५९) से कनिन्। सौ० ३१ से आद्युदात्त।

७. शुक्र—ऋज्रेन्द्राग्र० (उ०२।२८) से अन्तोदात्त निपातित है। मन्थिन्—मन्थः (उ० ४।११) से इनि प्रत्यय। सौ० २४ से प्रत्ययस्वर।

८. उणादि २।२ से क्थन्।

९. अवे भृञः (उ० २।३) से क्थन्

१०. उपसर्गे वसेः (उ०३।११६) से अथ।

११. एरच् (अ० ३।३।५६) से अच्।

प्रणयः, विनयः, विजयः, आश्रयः, व्यत्ययः, अन्वयः इत्यादि। अप्[1]—प्लवः, प्रसवः। इत्र[2]—प्लवित्रम्, प्रसवित्रम्। क—गोदः, कम्बलदः,[3] शंस्थः, गृहस्थः, वनस्थः[4] इत्यादि।

अब इसके आगे अनुदात्त का प्रकरण संक्षेप से लिखते हैं—

७९—पदात् ॥ अ० ८।१।१७ ॥

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे पद से परे कार्य होगा।

८०—पदस्य ॥ अ० ८।१।१६ ॥

यह भी अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे जो कार्य कहेंगे वह पद के स्थान में समझा जावेगा।

८१—अनुदात्तं सर्वमपादादौ ॥ अ० ८।१।१८ ॥

यह भी अधिकारसूत्र है। अपादादि अर्थात् जो पाद के आदि में न हो किन्तु मध्य वा अन्त में हो तो पद से परे सब पद अनुदात्त हो। यह अधिकार चलेगा।

८२—आमन्त्रितस्य च ॥ अ० ८।१।१९ ॥

जो पद से परे अपादादि में वर्तमान आमन्त्रित पद हो तो वह सब अनुदात्त होवे। जैसे—**पठसि देवदत्त, जुहोसि देवदत्त**। आमन्त्रित पद को पूर्वोक्त (६०) सूत्र से आद्युदात्त प्राप्त था, इसलिये यह विधान है।

८३—आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ॥ अ० ८।१।७२ ॥

पद से परे जिस पद को अनुदात्त आदि विधान करते हैं उससे पूर्व यदि आमन्त्रित हो तो उसको अविद्यमानवत् समझना चाहिये, अर्थात् पूर्व कुछ नहीं है ऐसा माना जावे। जैसे—**देवदत्त यज्ञदत्त**[5]। यहाँ यज्ञदत्त शब्द को पद से परे निघात नहीं हुआ। तथा "देवदत्त पचसि"[6] यहाँ अविद्यमानवत् होने

---

१. ऋदोरप् (आ० १४०३) से अप्।
२. अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः (आ० १३२९) से इत्र।
३. आतोऽनुपसर्गे कः (आ० १००३) से क।
४. सुपि स्थः (आ० १००४) से क।
५. सौ० ८२ से निघात (=अनुदात्त) प्राप्त होता है।
६. तिङ्ङतिङः (सौ० ९०) से तिङन्त को निघात प्राप्त था।

से क्रिया को निघात नहीं होता। तथा "देवदत्त तव ग्रामः स्वम्, देवदत्त मम ग्रामः स्वम्"[1] यहाँ पद से परे 'ते' 'मे' आदेश नहीं होते, इत्यादि।

८४—नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ॥
अ० ८।१।७३ ॥

सामान्यवचन समानाधिकरण आमन्त्रित पद परे हो तो पूर्व जो आमन्त्रित पद है वह अविद्यमानवत् न हो। जैसे—अग्ने व्रतपते [यजु० १।५], अग्ने गृहपते [यजु० २।२७], पृथिवि देवयजनि [यजु० १।२५]। अर्थात् पद से परे निघात आदि कार्य हो जावें। 'समानाधिकरण' ग्रहण इसलिये है कि पूर्व सूत्र के विषय में यह सूत्र न लगे। 'सामान्यवचन' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि—अघ्न्ये देवि सरस्वति ईडे काव्ये विहव्ये यहाँ विकल्प न हो।

८५—विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् ॥
अ० ८।१।७४ ॥

विशेषवचन समानाधिकरण आमन्त्रित पद परे हो तो पूर्व जो आमन्त्रित पद है वह विकल्प करके अविद्यमानवत् हो। जैसे—देवा ब्राह्मणाः, देवा ब्राह्मणाः; ब्राह्मणा वैयाकरणाः, ब्राह्मणा वैयाकरणाः इत्यादि। यहाँ अविद्यमानवत् पक्ष में दोनों पद के स्वर और विद्यमानवत् पक्ष में उत्तरपद निघात हो जाता है। 'बहुवचन' ग्रहण इसलिये है कि—"माणवक जटिलक" यहाँ विकल्प न हो।

८६—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ॥
अ० ८।१।२० ॥

षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के सह वर्त्तमान अपादादि में पद से परे जो युष्मद् अस्मत् पद उनको क्रम से वाम् और नौ आदेश हों और वे सब अनुदात्त हों। जैसे—षष्ठीस्थ—ग्रामो वां स्वम्, जनपदो नौ स्वम्। चतुर्थीस्थ—ग्रामो वां दीयते, जनपदो नौ दीयते। द्वितीयास्थ—माणवको वां पश्यति, माणवको नौ पश्यति इत्यादि। इस सूत्र में 'स्थ' ग्रहण इसलिये है कि "दृष्टो मया युष्मत्पुत्रः" यहाँ षष्ठी का लुक् हो जाने से आदेश और अनुदात्त नहीं होता।

---

१. तेमयावेकवचनस्य (सौ० ८७) से ते, मे आदेश प्राप्त होते हैं।

८७—बहुवचनस्य वस्नसौ ॥ अ० ८ । १ । २१ ॥

षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के सह वर्त्तमान अपादादि में पद से परे बहुवचनान्त जो युष्मद् अस्मद् पद उनको क्रम से वस् और नस् आदेश हों, तथा वे सब अनुदात्त हों। जैसे—नमो॑ वः पितरः [यजु० २ । ३२], नमो॑ वो दे॒वाः, मा नो॑ वधीः [यजु० १६ । १५], मा नो॒ गोषु॒ मा नो॒ अश्वे॑षु रीरिषः [यजु० १६ । १६], शन्नः [यजु० ३६ । १२] इत्यादि।

८८—तेमयावेकवचनस्य ॥ अ० ८ । १ । २२ ॥

अपादादि में वर्त्तमान पद से परे जो एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् पद उन को ते, मे आदेश हों और वे सब अनुदात्त हों। जैसे—गु॒रुस्ते॑ पण्डि॒तः, गु॒रुर्मे॑ पण्डि॒तः, दे॒हि मे॑ ददामि ते इत्यादि।

८९—त्वामौ द्वितीयायाः ॥ अ० ८ । १ । २३ ॥

पद से परे अपादादि में वर्त्तमान द्वितीयैकवचनान्त जो युष्मद् अस्मद् पद उनको त्वा, मा आदेश हों और वे सब अनुदात्त हों। जैसे—कस्त्वा॑ युनक्ति [यजु० १ । ६], स त्वा॑ युनक्ति [यजु० १ । ६], पुनन्तु॑ मा [यजु० १९ । ३९] इत्यादि।

९०—तिङ्ङतिङः ॥ अ० ८ । १ । २८ ॥

जो अपादादि में अतिङन्त पद से परे तिङन्त पद हो तो वह सब अनुदात्त हो जावे। जैसे—त्वं प॑चसि, अ॒हं प॑ठामि, स ग॑च्छति, तौ ग॑च्छतः इत्यादि। यहाँ 'तिङ्' ग्रहण इसलिये है कि "शु॒क्लं व॒स्त्रम्" यहाँ नहीं होता। 'अतिङ्' ग्रहण इसलिये है कि "पठ॑ति॒ पच॑ति" यहाँ न हो।

९१—यावद्यथाभ्याम् ॥ अ० ८ । १ । ३६ ॥

जो यावत् और यथा से युक्त तिङन्त पद हो तो वह अनुदात्त न हो। [जैसे—] याव॑द् भु॒ङ्क्ते, य॒था भु॒ङ्क्ते, याव॑द॒धीते॑, य॒थाऽधीते॑, दे॒व॒द॒त्तः पच॑ति॒ याव॑त्, दे॒व॒द॒त्तः पच॑ति॒ यथा इत्यादि।

९२—यद्वृत्तान्नित्यम् ॥ अ० ८ । १ । ६६ ॥

जो यत् शब्द के प्रयोग से युक्त तिङन्त पद हो तो वह अनुदात्त न हो। जैसे—यो भु॒ङ्क्ते॑, यं भोज॑यति, येन॒ भु॒ङ्क्ते॑ इत्यादि।

९३—गतिर्गतौ ॥ अ० ८ । १ । ७० ॥

जो गति से परे पूर्व गति हो तो वह निघात हो जाती है। जैसे—अभ्युद्धरति, समुदानयति, उपसंख्यानयति, उपसंहरति, अभ्यवहरति इत्यादि।

९४—उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य ॥ अ० ८। २। ४॥

जो उदात्त और स्वरित के स्थान में यण् उस से परे अनुदात्त हो तो उसको स्वरित हो जावे। जैसे—सुप्वा [यजु० १। ३।]। यहाँ सुपू शब्द अन्तोदात्त और विभक्ति अनुदात्त है उसको स्वरित हो जाता है। नीचे जो यह वक्र चिह्न होता है वह भी स्वरित ही का चिह्न है। इसी प्रकार पृथिव्यसि [यजु० १। २] यहाँ पृथिवी शब्द अन्तोदात्त,है, उससे परे अकार अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। स्वरित यण्—सकुल्लिव + आशा, खलप्वि + आशा यहाँ 'सकुल्लिव' 'खलप्वि' सप्तम्यन्त स्वरितान्त शब्द हैं, उनके यण् से परे आकार अनुदात्त को स्वरित हो जाता है=सकुल्ल्व्याशा, खलप्व्याशा इत्यादि।

९५—एकादेश उदात्तेनोदात्तः ॥ अ० ८। २। ५॥

उदात्त के साथ जो अनुदात्त का एकादेश है वह भी उदात्त ही हो जाता है। जैसे—अग्नी, वायू। यहाँ अग्नि वायु शब्द अन्तोदात्त हैं, उनका अनुदात्त विभक्ति के साथ एकादेश हुआ है। इसी प्रकार वृक्षैः प्लक्षैः इत्यादि।

९६—स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ ॥ अ० ८। २। ६॥

जो उदात्त के साथ एकादेश है वह पदादि अनुदात्त के परे विकल्प करके स्वरित हो, पक्ष में उदात्त हो। [जैसे—] सु + उत्थितः = सूत्थितः, सूत्थितः। वि + ईक्षते = वीक्षते, वीक्षते इत्यादि।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीनिर्मितः सौवरो ग्रन्थः समाप्तः।

संवत् १९३९ भाद्र शुक्ल १३

चन्द्रवार॥

लेखक के कतिपय लिखित और सम्पादित ग्रन्थ

लिखित—

	मूल्य
१. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास	४)
२. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	१२)
३. " " " " (द्वितीय भाग)	१०)
४. ऋग्वेद की ऋक्संख्या	॥)
५. ऋग्वेद की दानस्तुतियों पर विचार	।)
६. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः (संस्कृत-हिन्दी)	।)
७. 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्'—मन्त्र पर विचार	।)
८. वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन	१)
९. सामस्वराङ्कनप्रकार	=)
१०. क्या वैदिक ऋषि मन्त्र-रचयिता थे ?	(अप्राप्य)
११. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय	१)
१२. वैदिक-स्वर मीमांसा	४
१३. काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र	१))
१४. वैदिक-छन्दोमीमांसा	४।)
१५. छन्द-शास्त्र का इतिहास	(अप्रकाशित)
१६. शिक्षा-शास्त्र का इतिहास	"

सम्पादित—

१. दशपादी-उणादि-वृत्ति	३।)
२. निरुक्त-समुच्चय (वररुचिकृत)	(अप्राप्य)
१. भागवृत्ति-संकलनम्	"
४. शिक्षा-सूत्राणि—(पाणिनि, आपिशलि, चन्द्राचार्य कृत)	।)
५. क्षीरतरङ्गिणी–क्षीरस्वामि-विरचित (धातुवृत्ति से प्राचीन)	१२)
६. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि (ले० प्रो० कपिलदेव सा० आ० एम. ए. पी. एच. डी.)	८)
७. भागवत खण्डनम् (म० दयानन्द सरस्वती)	॥)
८. दैवम्-पुरुषकारः (पाणिनीय-धातुपाठ विषयक)	६)

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, ३१।१४४ लालकोठी, अलवरगेट अजमेर



श्रीरामलालकपूर ट्रस्ट के समस्त प्रकाशनों का

प्राप्ति-स्थान—

(१) श्रीरामलाल कपूर एण्ड सन्स लिमिटेड गुरु बाजार, अमृतसर
(२) ” ” ” ” ” ” नई सड़क, देहली
(३) ” ” ” ” ” ” बिरहाना रोड, कानपुर
(४) ” ” ” ” ” ” ५१ सुतार चौल, बम्बई
(५) ” ” ट्रस्ट मोतीझील वाराणसी (बनारस) नं० ६
(६) वेदवाणी कार्यालय, पो. अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी (बनारस) नं०६